लेखक

ब्रजरत्नदास बी. ए., एल-एल. बी.

प्रकाशक

हिंदी-साहित्य-कुटीर

बनारस

द्वितीय बार | कार्तिक पूर्णिमा २००१ | मूल्य २≡)

प्रकाशक
हिंदी-साहित्य-कुटीर
बनारस

मुद्रक
बी. के. शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बनारस

भूमिका

दृश्य काव्य साहित्य का एक अत्यंत आवश्यक अंग है और इस प्रकार की रचनाओं को पढकर, सुनकर तथा इनका अभिनय देखकर मानव-समाज मनोरंजन के साथ लाभ भी उठाता है। हिंदी-साहित्य हर प्रकार से संस्कृत-साहित्य का ऋणी है, जिसमे ढाई सहस्र वर्ष तक के प्राचीन नाट्य-ग्रंथ प्राप्त हैं। इनमें नाटक-रचना की तथा उनके अभिनय की प्रक्रिया का बडे विस्तार से निरूपण भी किया गया है। यह सब हिंदी-नाट्य-साहित्य की निजी संपत्ति है और इन सबसे उसने लाभ भी पूरा उठाया है तथा उठा रहा है। इसके सिवा अन्य भाषाओं के आधार पर भी हिंदी-नाट्य-साहित्य-भाडार की पूर्ति का बराबर प्रयास हो रहा है पर इन सबकी अब तक सम्यक् रूप से किसी एक पुस्तक मे जॉच-पडताल नही हुई है कि इस भाडार में क्या है और क्या नहीं है।

हिंदी-साहित्य के इतिहास पर कुछ ही वर्षों मे इधर बहुत सी पुस्तकें निकली हैं, जिनमें बडे-बडे पोथे भी हैं और छोटी-छोटी पुस्तकें भी हैं पर साहित्य के एक-एक अंग को लेकर उन पर विस्तृत रूप से अनुसंधान करने तथा उनमे जो कुछ हो चुका है उस पर सुव्यवस्थित रूप से प्रकाश डालने का अब तक प्रयास नहीं किया गया है। नाटक, उपन्यास, पत्र-पत्रिका आदि पर इस प्रकार के यथासाध्य विस्तृत इतिहास तैयार कर लिए जायँ तो हिंदी-प्रेमियों को अपने बढते हुए भाडार तथा उनके अभावो का पूरा पता मिल सके और वे उनकी रक्षा तथा पूर्ति का प्रबंध कर सकें। कुछ ऐसे ही विचारो से यह 'हिंदी-नाट्य साहित्य' तैयार किया गया है और अपने विषय की प्रथम पुस्तक होने से इसमे अनेक प्रकार को त्रुटियों का रह जाना नितात स्वाभाविक है। यह पुस्तक बड़ी शीघ्रता मे भी लिखी गई है और अन्य अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी यथाशक्ति यही प्रयास किया गया है कि यह सभी के लिए—विद्यार्थी, साहित्य-सेवी तथा पाठकों के लिए उपादेय हो।

इस पुस्तक के लिखने में सबसे बड़ी रुकावट साधन की कमी है। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारतेंदु-काल के लेखकों की भी कृतियाँ कहीं एकत्र प्राप्त नही हैं। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के वृहत् पुस्तकालय में भी जब वे सब संगृहीत नहीं हो सकी हैं तो छोटे-मोटे पुस्तकालयों से क्या आशा की जा सकती है। यदि इस समय भी इनके संग्रह करने तथा रक्षा करने का प्रयत्न न किया जायगा तो कुछ दिन बाद इनके नाम तक का पता न लगेगा। यद्यपि मैंने यथा-शक्ति यही प्रयत्न किया है कि नाटकों को पढ़कर ही उनका विवरण दूँ और अपने विचार प्रकट करूँ पर जब पुस्तकें ही न प्राप्त हो सकी तब उनका नाम मात्र ही देकर संतोष करना पड़ा। भारतेंदु-काल के पत्र-पत्रिकादि मे भी कितने छोटे-छोटे रूपक प्रकाशित हुए थे पर उन पत्र-पत्रिकादि का भी पूरा संग्रह कहीं एकत्र नही मिलता। यथा-साध्य प्राप्त पत्रिकादि की फुटकर संख्याओं मे जिन नाटकों के एक दो दृश्य आदि मिल गए हैं उनका उक्त प्रकरण के अत में एक तालिका में संक्षिप्त उल्लेख कर दिया गया है। तत्कालीन अन्य

पत्रिकादि में भी इस प्रकार के प्रहसन, रूपक आदि अवश्य ही प्रकाशित हुए होंगे पर शोक है कि वे मिल न सके।

इस प्रकार समय तथा साधन की कमी के कारण इस इतिहास-ग्रंथ में ऐसा भी अवश्य ही हुआ होगा कि कुछ लब्धप्रतिष्ठ नाटककारों तथा उनकी कृतियों का उल्लेख न हो सका हो पर इसके लिए यदि वे मुझे दोषी ठहराकर मौन ग्रहण कर लेंगे तो साहित्य के इस इतिहास ही की हानि होगी। अच्छा तो यह होगा कि वे ऐसी त्रुटियों की मुझे सूचना दे दें, जिससे इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके और यह इतिहास यथाशक्ति पूर्ण होता चले।

इस 'हिंदी-नाट्य-साहित्य' में नाटकों पर जो कुछ विवेचना की गई है और जो कुछ निजी राय दी गई है वह सब स्वतंत्र रूप से मेरी ही है। यदि इसमें कुछ भूल-चूक तथा दोष हों तो उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है। ऐसी राय देने मे किसी के व्यक्तित्व पर आक्षेप करने का विचार न मेरे मन मे कभी था और न है। यह दूसरी बात है कि किसी कृति पर दो राय हों या उससे भी अधिक हो पर भिन्नरुचिर्हि लोकः। इतना अवश्य कहा जा सकता है और यह सत्य भी है कि जिस कृति पर विवेचन कर मैंने अपनी सम्मति प्रकट की है, उन्हें आद्योपांत पढकर ही की है और वह भी किसी प्रकार के किसी के प्रति ईर्ष्या द्वेष के कारण नहीं किया गया है। हो सकता है कि उन्हें समझने मे भूल हुई हो, उनका उद्देश्य या ध्येय ठीक न समझा गया हो या मेरे विचारों के अनुकूल न होने ही के कारण मुझे अरुचि-पूर्ण जान पड़े हों या शीघ्रता के कारण हो गया हो पर जान बूझ कर किसी निर्माता के प्रति पक्षपात या विद्वेष दिखलाने का लेशमात्र भी प्रयास नही किया गया है और न कभी ऐसा भाव रखकर एक पंक्ति भी लिखी गई है। यदि किसी को इस पुस्तक मे आई हुई समीक्षा से जरा भी कष्ट पहुँचा तो मेरा यह सब अध्यवसाय ही व्यर्थ हो जायगा। आशा है कि मेरे इस शुद्ध भाव को ध्यान में रख कर ही प्रतिष्ठित साहित्यकारगण मेरी समीक्षा पर विचार करेंगे।

इस पुस्तक में उद्धरणों की कमी अवश्य सभी को खटकेगी क्योंकि दो चार प्रसिद्ध नाटककारों को छोड़कर अन्य किसी की रचनाओं से उद्धरण नहीं दिए गए हैं। एक तो समय की कमी थी और दूसरे पुस्तक के बहुत बढ़ जाने का भय भी था। अधिकतर नाटकों के विषय में उक्त कारणों से विस्तार से विवेचना नहीं की गई है और यह केवल इतिहास ग्रंथ है, शुद्ध समालोचना ग्रंथ भी नहीं है। कितने नाटककारों की कुल रचनाओं का भी उल्लेख उक्त कारणों से नही हो सका है पर आशा है कि इसके अन्य संस्करणों में इन सब कमी की ओर भी ध्यान दिया जा सकेगा।

इस प्रकार यह पुस्तक तैयार कर साहित्य-प्रेमियों तथा पाठकों के सामने उपस्थित की जाती है। यदि वे इसे अपनी ही वस्तु समझ लेंगे तो मेरा सारा परिश्रम सुफल हो जायगा।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी
सं० १९९५

विनीत
व्रजरत्नदास

द्वितीय संस्करण की भूमिका

आज पाँच वर्ष बाद इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण का अवसर आया है; यह क्या हिंदी के एक ग्रंथ के लिए कम सौभाग्य की बात है पर इस लंबे काल में भी समय की कमी के कारण इस पुस्तक पर विशेष परिश्रम न कर सका। एक सज्जन को छोड़कर किसी भी वर्तमान नाटककार ने यह सूचना न दी कि उनकी किसी रचना का नाम छूट गया है और न किसी से यही सूचना मिली कि अमुक नाटककार का नाम नहीं आया है। हो सकता है कि वैसे सज्जनों के हाथ में यह पुस्तक ही न पहुँची हो, जो इस प्रकार की सूचना दे सकते थे या साधारण उदासीनता हो क्योंकि यह तो हो नहीं सकता कि इस ग्रंथ में सभी का उल्लेख हो गया है।

इस पुस्तक पर समीक्षाएँ भी प्राय· एक प्रकार नहीं हुई, जिससे द्वितीय संस्करण में कुछ सहायता मिलती। इधर एक समीक्षा, दो प्रतियाँ लेने पर, कई वर्षों के अनंतर अभी दो तीन महीने हुए निकली है, जिससे कुछ उद्धरण दिए जाते हैं।

१. पहिला लाभ तो पुस्तकालयों का है कि वे इससे अपने संग्रहों को पूर्ण बना सकते हैं।

२. इस प्रकार दूसरा लाभ नाट्य-साहित्य का इतिहास लिखने पढ़ने वाले का है। प्रत्येक व्यक्ति अब इस ग्रंथ के द्वारा जानकारी हो जाने पर मूल नाटकों को प्राप्त कर स्वतंत्र अध्ययन और आलोचन कर सकता है।

३. हमने आद्योपांत पढ़कर देखा है कि वैसी राय शायद ही किसी दूसरे विद्वान् की हो। जो स्वयं विशेषज्ञ और मर्मज्ञ है उन्हें तो ' की 'स्वतंत्र' और 'निजी' राय से सुख मिल सकता है पर विद्यार्थियों का कुशल तो इसीमें है कि वे इन रायों पर असावधान होकर विश्वास न करें। विद्यार्थियों को तो उन्हीं निर्णयों और व्याख्याओं को पढ़ना चाहिए, जिनके लिए पूरे प्रमाण दिए गए हों।

४. इस ग्रंथ की रूप रेखा लेकर यदि कोई अध्यापक अथवा परीक्षार्थी स्वतंत्र अध्ययन करे अथवा लिखे तो उसे पूरा लाभ होगा।

५. केवल असावधान और सुकुमारमति विद्यार्थियों को बचाना ही इस (समीक्षा) का एक प्रयोजन है।

उक्त समीक्षा से यह ज्ञात हुआ कि यह ग्रंथ केवल उन पुस्तकालयों या उन अध्यापकों के लिए लाभप्रद हुआ, जो अपना भाडार पूरा करना चाहेंगे या अब स्वतंत्र पुस्तकें लिखकर तथा अपने प्रभाव से टेक्स्ट बुक नियत कराकर लाभ उठा सकेंगे। खैर, इतना भी हुआ, यही क्या कम है। इसमें 'प्रमाण नहीं दिए हैं' ऐसा लिखा गया है पर यह भी सप्रमाण नहीं है। कैसा प्रमाण चाहिए, यह भी नहीं लिखा गया है। विद्यार्थियों को भी यह पुस्तक न पढ़ना चाहिए, ऐसी भी राय दी गई है।

सन्-संवत् की खिचड़ी के संबंध में जो आक्षेप है उसके विषय में इतना ही कहना है कि इस खिचड़ी की आवश्यकता थी। बिना प्रमाण के यह कथन मान्य न होगा इससे एक उदाहरण लीजिए। किसीका जन्म या रचना काल सं० १६२० दिया है। तिथि वार आदि है नहीं तब यदि ५७ घटाकर सन् निकाल लें तो वह शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों हो सकता है क्योंकि यह संवत एक सन् में आरंभ होकर बाद के दूसरे सन् में समाप्त होता है। अस्तु, इस समीक्षा के विषय मे कुछ और कहना नहीं है। परंतु समीक्षक को ध्यान रखना चाहिए था कि यह इतिहास ग्रंथ है, आलोचना ग्रंथ नही है, जैसा कि पहिली भूमिका में लिखा जा चुका है।

चार वर्ष हुए कि रेवेन्यू बोर्ड के सीनिअर मेंबर मि. ए. जी. शिरेफ साहब ने इस पुस्तक के लिए एक आर्डर भेजा और इसकी एक प्रति उनके पास फैजाबाद भेज दी गई। जिस दिन यह पुस्तक उन्हे मिली उसके दूसरे दिन २३-८-३६ का उनका लिखा पत्र हमें मिला। यहाँ उससे भी कुछ उद्धरण दे दिया जाता है।

I have been very much impressed by the detailed knowledge which your accounts of this work show, and by the way in which you have summed up in a few lines the main features of each author's work I think your criticism is in each case admittedly fair.

One slight ommission you donot appear to have mentioned Maithilisaran Gupta's translation of Bhasa's Swapn Vasawadatta.

You are no doubt right in your contention that the Indian drama is of independent origin, but the extent of the influence of the drama of other countries (of Shakespeare in particular) on recent developments could be interesting study. Also, conversely the influence of Indian Drama on that of other countries, for instance Goethe's use of the 'prologue in the Theatre' in his Faust.

इस प्रकार विशेष समीक्षाएँ न प्राप्त होने से हम-सा आलस्यप्रिय इस पुस्तक पर अधिक श्रम न कर सका पर तब भी यत्र तत्र कुछ परिवर्द्धन कर यह पुस्तक प्रायः उसी रूप में पुनः प्रकाशित की जा रही है।

दीपमालिका
सं० २००१ — विनीत
व्रजरत्नदास

विषय-सूची

हिंदी-नाट्य-साहित्य

प्रथम प्रकरण

किसी भाषा या उसके साहित्य के इतिहास की हृदयग्राहिता तथा मनोरंजकता उस भाषा-भाषी देश या जाति के राष्ट्रीय इतिहास के अनुसार ही कम और अधिक होती है। यदि उस देश या जाति के राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास प्राचीन होते हुए अनेक विप्लव, परिस्थिति-परिवर्तन तथा शांति-अशांतिमय घटनावली से भरा पड़ा है तो उस भाषा-साहित्य का इतिहास अवश्य ही उक्त स्थितियों के प्रभाव से अत्यंत चित्ताकर्षक और अनुरंजनकारी होगा। यह साहित्य के अनेक अंगो के लिए भी उसी प्रकार लागू होता है, जिस प्रकार समग्र साहित्य पर। यों तो अशांति में साहित्य, कला आदि का पुष्ट होना संभव नही है पर तब भी एकाध अंग है, जो ऐसे ही समय में उत्कृष्टता को पहुँच सकते है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि साहित्य का वह अंग, जो शांतिमय वातावरण ही में प्रफुल्लित हो सकता है अशांतिमय राष्ट्र में विकसित ही नही हो पाता। गायन, वादन, अभिनय आदि को शांति ही शांति चाहिए, जब किसी प्रकार की चित्त में दुश्चिता न हो, समय का एकदम मूल्य न हो, तभी ये सुख से विकसित होते है। साहित्य के एक प्रमुख अंग नाटक को ऐसे ही वातावरण की आवश्यकता रहती है और यही कारण है कि हिंदी तथा अन्य भाषाओं मे नाटकों का वास्तविक आरंभ एक शताब्दि से अधिक प्राचीन नहीं है।

विषय-प्रवेश

हिंदी-साहित्य एक सहस्र वर्ष प्राचीन हो चुका है पर उसका ध्यान केवल अशांतिमय वातावरण के कारण नाटको की ओर नहीं जा सका और इस ओर उसकी कृपादृष्टि उसी समय फिरी जब इसके उपयुक्त वातावरण बन चुका था। संस्कृत-साहित्य से जिस प्रकार हिंदी को रिक्थक्रम में सभी कुछ मिला है, उसी प्रकार नाटक-साहित्य भी

प्रचुर मात्रा में मिला है और नाट्य-कला के लक्षण-ग्रंथ भी प्राप्त हुए हैं पर अशांतिमय परिस्थिति के कारण उनका प्रायः कुछ भी उपयोग नहीं हो सका। उस स्थिति का संस्कृत-साहित्य के निर्माण पर भी उसी प्रकार प्रभाव पड़ा था। इस अशांतिमय काल पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

ऐसी अवस्था में, जब कि हिंदी-नाटक-साहित्य अधिक प्राचीन नहीं है और जो कुछ है वह संस्कृत-साहित्य के आधार पर निर्मित हुआ है तब संस्कृत के नाट्य-साहित्य, नाट्य-कला आदि का संक्षिप्त परिचय हिंदी-नाट्य साहित्य के इतिहास में देना नितांत आवश्यक है। बहुत से संस्कृत-नाटकों का हिंदी में अनुवाद हो चुका है और इसलिए मूल नाटकों के निर्माताओं का संक्षिप्त परिचय भी अपेक्षित है। नाटकों के मूल तत्व, रसात्मकता, अंग-प्रत्यंग का विवरण भी इसीलिए आवश्यक है कि उनके ज्ञान से नाटकों की आलोचना करने तथा समझने में सुविधा होती है। इन विचारों से इस ग्रंथ के आरंभ में इन सबका समावेश अति संक्षेप में कर दिया गया है।

संस्कृत-नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति

नाट्य-लक्षण-ग्रंथों में प्राचीनतम प्राप्त ग्रंथ भरतकृत नाट्य-शास्त्र में लिखा मिलता है कि नाट्य-कला की उत्पत्ति दैवी है अर्थात् निर्दुःख सत्ययुग के व्यतीत हो जाने पर त्रेतायुग के आरंभ में देवताओं ने सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के पास जाकर स्तुति की कि वह मनोरंजन की कुछ ऐसी वस्तु उत्पन्न कर दें जिससे देवतागण आनंद प्राप्तकर दुःख को भूल सकें। ब्रह्माजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर नाट्य-वेद की रचना की। ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन यजुर्वेद से अभिनय-कला और अथर्वण से रस लेकर इसका निर्माण किया गया। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया। शिव ने तांडव तथा पार्वती ने लास्य नृत्य बतलाए और विष्णु ने चार नाट्य-शैलियाँ बतलाईं। इस प्रकार निर्मित दैवी नाट्य-वेद को इसके अनंतर पृथ्वी पर मनुष्यों के लाभार्थ भेजने का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया।

वैदिक-काल

परब्रह्म की त्रिगुणात्मिका त्रिमूर्ति द्वारा व्युत्पन्न इस नाट्यवेद की यह कथा कितनी प्राचीन है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन्हीं त्रिमूर्ति की सहायता से गंगाजी की पृथ्वी पर अवतारणा होना प्रसिद्ध है और यह अवश्य ही बहुत प्राचीन है। यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चारों वेद के बाद ही इस नाट्यवेद की रचना

हुई होगी, जो अब प्राप्त नहीं है तथा उस काल तक नाटक-रचना नही हुई थी। यह निश्चय ही है कि ऋग्वेद में बहुत से स्थलों पर दो तथा तीन व्यक्तियों द्वारा कथोपकथन कराया गया है। कवियों द्वारा इस प्रकार के कथोपकथन का प्रयोग वैदिककाल ही में बाद को कम हो गया था पर निर्वीज नही हुआ था और उसका प्रयोग बराबर अब तक होता रहा है। ऋग्वेद में शृगार किए हुए कुमारियो का नृत्य-गान कर प्रेमियों के आकर्षित करने का भी उल्लेख है। सामवेद से गानविद्या की पूर्णता का पूरा ज्ञान होता है और अथर्वण में वादन-गायन के साथ नृत्य का उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह कि वैदिककाल में केवल धार्मिक रूप में नाट्य-दृश्यों के होने का अवश्य ही पता चलता है और यही निष्कर्ष निकलता है कि बीज रूप में नाट्यकला वैदिककाल में मौजूद थी।

महाभारत में नट शब्द का उल्लेख है पर इससे यदि नाटक के अभिनेता का अर्थ लिया जाय तो नाटक का उस समय तक प्रचार होना निश्चित हो जाय पर पाश्चात्य विद्वान संस्कृत नाटकों की इतनी प्राचीनता मानने को तैयार नही है और नट शब्द का केवल नृत्य करनेवाला अर्थ लेते है। हरिवंश में जो महाभारत का उपसंहार है, रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का स्पष्ट उल्लेख है और रामजन्म तथा कौवेररंभाभिसार नाटकों का किस प्रकार और किसने किसने अभिनय किया था, इन सबका विस्तार से वर्णन दिया गया है पर हरिवंश का रचनाकाल निश्चित न होने से इससे नाटकों के इतिहास को प्राचीनता का विचार करने में कुछ सहायता नहीं मिलती। वाल्मीकीय रामायण में उत्सवो पर 'नट-नर्तका' के आनद करने, नाटक तथा व्यामिश्रक का उल्लेख मिलता है। अयोध्याकांड, सर्ग ६९ श्लोक ४ इस प्रकार है—

पौराणिक-काल

वादयंति तदा शांति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च॥

पर इन उल्लेखो से तब भी नाटक इतिहास में विशेप सहायता नही मिलती। अग्नि-पुराण के ३३६–४६ तक के सर्गों में श्रव्य तथा दृश्य काव्य की विवेचना की गई है पर इसका रचना-काल भी सदिग्ध ही है। इस प्रकार तथ्य इतना ही निकला कि वैदिककाल में जो नाट्य-कला बीज-रूप में थी वह पौराणिककाल में अंकुरित अवश्य हो उठी थी पर उसका विशेप प्रसार नहीं हुआ था।

इस काल के अनंतर तृतीय शताब्दि पूर्वेसा काल के वैयाकरणी पाणिनि ने शिलालिन् तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है और

इनके डेढ़ शताब्दि बाद पतंजलि ने स्व-महाभाष्य में 'कंस-वध किया जाता है', 'बलि बंधन होता है' वाक्यों का प्रयोग किया है। इनसे पाश्चात्य विद्वानों ने उस काल में नाटक के अस्तित्व का बड़े परिश्रम से पता लगाया है पर यह परिश्रम उन्हीं दिग्गजों को शोभा देता है। कालिदास का समय अब अधिकतर विद्वानों ने प्रथम शताब्दि पूर्वेसा मान लिया है और भास उनके पूर्ववर्ती थे। अश्वघोष के नाटक आज से उन्नीस शताब्दि पहले की निश्चयपूर्वक रचना हैं। इन सबसे कई शताब्दि पहिले से नाटक की रचना अवश्य ही आरंभ हो गई होगी, जिससे वे इस पूर्णता तक पहुँच सके होंगे। अतः यह निष्कर्ष कि भारतीय नाट्य-रचना का आरभ ढाई सहस्र वर्ष या उससे भी पहिले हो चुका था, अब विशेष विवादास्पद नहीं रह गया है।

यूनानी प्रभाव ही से भारतीय-नाटक रचना को प्रोत्साहन मिलना दिखलाने के लिए यूरोपीय विद्वानों ने भास कालिदासादि के समय को यथाशक्ति इधर लाने का निरंतर प्रयत्न किया है और करते आ रहे हैं। यदि वे भास तथा कालिदास को पूर्वेसा की प्रथम शताब्दि में मान ले तो यूनानी प्रभाव का कथन निरर्थक सा हो जाता है और इसी कारण वे इनकी उतनी प्राचीनता मानने में हिचकते हैं। इस पर विचार करने के पहिले ग्रीक नाटकों के इतिहास पर ध्यान देना आवश्यक है। ग्रीस में डायोनिसस देवता के उत्सवों पर वर्षारंभ में खुले हुए रंगशाला में ग्रीक वीर-गाथा तथा धार्मिक दंतकथा के आधार पर खेल होते थे, जिसमें नटगण ऊँचे जूते पहिरकर तथा बड़े बड़े चेहरे लगाकर खेल करते थे। ये चेहरे उसी प्रकार के रहे होंगे जैसे यहाँ रामलीला पर अब तक बंदर, राक्षस आदि लगाते हैं। इस प्रकार की प्राचीनतम प्राप्य रचना, जिसे ट्रीलौजी कहते थे, ईसचिलस का पर्सी है, जो पूर्वेसा सन् ४७२ मे पुरस्कृत हुई थी। यूरीपिडीज़ का साइक्लौप्स इसी प्रकार की व्यंग्य-रचना थी। इसी समय सोफौक्ल्स हुआ, जिसकी रचना ईसचिलस से विशेष प्रशसित हुई। ये तीनों दुःखांत रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध हुए है। पूर्वेसा चौथी शताब्दि के आरंभ मे यूरोपिडीज़ की मृत्यु के साथ ग्रीक दुःखांत रचनाओं की समाप्ति हो जाती है, यद्यपि इसका प्रचलन पूर्वेसा द्वितीय शताब्दि तक रहा। यूरोपिडीज़ का समसामयिक तथा प्रतिद्वंद्वी एरिस्टोफेनस सुखांत रचना का बड़ा हिमायती था और इस प्रकार की रचनाओं का खेल ग्रामों मे घूम घूमकर किया जाता था, जिससे इन रचनाओं का नामकरण कमेडी

यूनानी प्रभाव

हुआ। ये बंगाल की यात्रा या रासलीला के समान थे। इसके बाद की ऐसी रचनाएँ अप्राप्त हैं और कभी कभी कुछ अंश रोमन-संग्रहों में मिल जाते हैं। ग्रीस से रोम जाने पर ऐसी जो दुःखांत या सुखांत रचनाएँ हुईं, उन्हीं का प्रभाव बाद के यूरोपीय नाट्य-रचना पर स्पष्टतः पाया जाता है। रोम की दुखांत रचनाओं में भी केवल सेनेका की कुछ कृतियाँ मिलती हैं, जो केवल पढ़ने के योग्य हैं तथा खेल के लिए उपयुक्त नहीं है। प्लौटस और टेरेंस सुखांत रचनाओं के प्रधान निर्माता थे और ये पूर्वेसा तृतीय शताब्दि में हुए थे। इसके बाद यहाँ भी इस प्रकार की रचना तथा खेल का अधःपतन हुआ और नाट्यकला का कार्निवल के चाल के खेल के आगे अंत हो गया। इस समय ईसाई मत फैला और इसके पादरीगण तथा अनुयायी नाट्य-कला के परम शत्रु हो गए और कई शताब्दियों तक यूरोप में इसका नाम भी नहीं बच गया था। मध्यकाल में आकर जब पोपों का पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया तब प्रायः डेढ़ सहस्र वर्षों के बाद धार्मिक खेलों का पुनः बीजारोपण किया गया था। कुल विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ग्रीस में पूर्वेसा एक शताब्दि के बाद नाट्य-कला का एक दम ह्रास हो गया था और यूरोप मे अन्यत्र सोलहवीं शताब्दि ईसवी में पुनः उसका उत्थान आरंभ हुआ था।

भारत पर ग्रीकों का प्रथम आक्रमण सिकंदर द्वारा पूर्वेसा सन् ३२७-६ में हुआ था और उसका कुल समय यहाँ लड़ते भिड़ते बीत गया था। तत्कालीन ग्रीक सभ्यता का उस समय भारतीय सभ्यता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सका था, जिन्हें भारतीय यवन या म्लेच्छ मानते रहे। सिकंदर के बाद भारत मे ग्रीको का जो कुछ प्रभुत्व शेष रह गया था वह उसके लौट जाने के पाँच वर्ष के भीतर ही बिल्कुल मिट गया। इसके अनंतर पूर्वेसा सन् १५५ मे मिनेंडर अर्थात् मिलिंद की चढ़ाई हुई और उसे भी दो वर्ष बाद यहाँ से लौट जाना पड़ा। मौर्यकाल में मिश्र, ग्रीस आदि राज्यों से भारतीय नरेशों का संबंध अवश्य था पर इतने ही आवागमन तथा संपर्क को लेकर यूरोपियन विद्वान भारतीय नाट्यकला पर ग्रीक-प्रभाव स्थापित करने की चेष्टा करते रहे हैं। मिनेंडर के समय मे ग्रीस तथा रोम तक में नाट्य-रचना तथा अभिनय का ह्रास हो चुका था, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, और यदि भास का समय पूर्वेसा प्रथम शताब्दि मान लिया जाय तब ग्रीक-प्रभाव का कथन कपोल-कल्पना मात्र रह जाता है। भास के

शास्त्रानुकूल सुगठित नाटकों के बनने तथा भरत के नाट्यशास्त्र के समान ग्रंथ की रचना के विकास के लिए कम से कम तीन चार शताब्दि का समय व्यतीत हो चुका था और वह समय सिकंदर के यहाँ आने के बहुत पहिले पहुँच जाता है। यवनिका शब्द को लेकर भी ग्रीक-प्रभाव का समर्थन किया जाता है पर यह अनर्गल कथन है, क्योंकि यह एक पर्दा मात्र है, जो नेपथ्य की ओट के लिए लगाया जाता है। निष्कर्ष यही निकलता है कि भारतीय नाट्यकला मौलिक है और ग्रीक नाट्यकला के पहिले की है।

संस्कृत नाटकों तथा काव्यों के आधार आरंभ ही से प्रधानतः रामायण तथा महाभारत रहे हैं और नाटकों तथा काव्यो का विकास भी प्राय. समान रूपेण हुआ है। दोनों ही में वर्णनात्मक अंश उक्त महापुराणों ही के समान अधिक रहते आये है। नाटकों में कविता का अंश सदा प्रचुर रहा है और प्रायः वे वस्तु-व्यापार से स्वतंत्र रहे। अश्वघोष, कालिदास आदि नाटककार होते हुए भी महाकवि रहे हैं और इस कारण साहित्य की दृष्टि से नाटक के महाकाव्य पूर्ववर्ती कहे जा सकते हैं। काव्य श्रव्य थे और उनमें क्रमशः गद्य का मिश्रण कर दृश्य बनाने का प्रयास ही नाटकों का विकास कहा जा सकता है।

संस्कृत नाटकों का इतिहास

अभी कुछ दिन हुए कि बुद्ध-चरित, सौंदरानंद आदि काव्यों के प्रसिद्ध रचेता अश्वघोप के एक नाटक शारद्वतीपुत्र प्रकरण या शारीपुत्र प्रकरण का कुछ अंश दो अन्य नाटकों के अशों के साथ तालपत्र पर लिखा हुआ तुर्फान में प्राप्त हुआ है। अश्वघोष सुवर्णाची का पुत्र तथा बौद्ध था। सौभाग्य से शारीपुत्र प्रकरण की पुष्पिका पूरी मिल गई है, जिससे वह निश्चयतः अश्वघोप कृत मान लिया गया है। साथ ही बुद्ध-चरित का एक श्लोक यथातथ्य इस प्रकरण में मिलता है। अन्य दो की पुष्पिकाएँ नहीं प्राप्त हुई पर भाषा आदि के विचार से तथा एक ही हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होने से उनके भी अश्वघोष कृत होने की विशेष संभावना है। अश्वघोप की सभी रचनाएँ बौद्ध-धर्म के उत्थान तथा प्रसार को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत हुई है। उक्त नाटकों के अंशों में भी वही बात है। इनमें एक में बुद्धि, कीर्ति तथा धृति पात्र हैं, जो मंच पर कथोपकथन करती हैं और बुद्ध भगवान आते है। यह प्रबोध चन्द्रोदय के समान भावात्मक नाटक है। इन

अश्वघोप

नाटकों में भरत के अर्थशास्त्र में दिए हुए नाटकों के नियमों का पालन किया गया है और इनसे यह भी ज्ञात होता है कि अश्वघोष के समय उनके पूर्व का नाटक-साहित्य काफी मौजूद था, जिन्हें आदर्श मानकर रचना की गई थी। संभव है कि खोज कुछ समय बाद इस प्रकार के इनसे भी प्राचीनतर नाटकों का पता लगा ले। अश्वघोष कुशानवंशीय राजा कनिष्क के समय (सन् १२०-१६० के लगभग) वृद्ध भिक्षु हो चुका था। अतः उसका समय ईसवी प्रथम शताब्दि का अंत तथा द्वितीय का पूर्वार्ध था।

भास

बीसवीं ईसवी शताब्दि के आरंभ में दक्षिण में तेरह नाटकों की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी; जो अब निश्चित रूप से भास की रचनाएँ मान ली गई हैं। यह कालिदास के पूर्ववर्ती नाटककार थे। कालिदास ने भास के साथ सौमिल तथा कवि-पुत्र का भी नाम दिया है और राजशेखर ने भास और सौमिल के साथ रामिल का भी उल्लेख किया है। ऐसे सुकवियों से आदर-प्राप्त नाटककारों की रचना का कुछ भी अंश अब तक न प्राप्त होना दुर्भाग्य मात्र है। भास के जीवन के विषय में भी अभी तक कुछ विशेष पता नहीं लगा है। इन्होंने अपनी रचना में किसी राजसिंह का उल्लेख किया है। मध्यम व्यायोग, दूत घटोत्कच, कर्णभार, ऊरुभंग तथा दूत-वाक्य एकांकी हैं और सभी रूपक के एक भेद व्यायोग हैं। पंचरात्रि समवकार है और तीन अंकों में है। बाल-चरित में पाँच अंकों में कृष्ण-जन्म से कंस-वध तक की संक्षिप्त कथा है। प्रतिमा नाटक तथा अभिषेक नाटक की रचना में श्री रामचंद्र के वनवास, लंका-विजय तथा राज्याभिषेक तक की कथा ली गई है। अविमारक प्रतिज्ञा यौगंधरायण, स्वप्नवासवदत्ता तथा चारुदत्त के कथानक कथा-साहित्य से लिए गए हैं। ये तेरहों नाटक गणपति शास्त्री के संपादन में सन् १९१२-१५ ई० में प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी में इन नाटकों में से तीन चार के अनुवाद हो चुके हैं। भास का समय यूरोपीय विद्वान ईसवी तृतीय शताब्दि मानते हैं अतः यह अवश्य ही इसके पहिले वर्तमान रहे होंगे। इनका समय अश्वघोष के पहिले पूर्वेसा प्रथम शताब्दि अधिक संभव है।

भास का चारुदत्त नाटक अपूर्ण है और उसके केवल चार अंक ही अब तक प्राप्त हुए हैं। इन्हीं चार अंकों से शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक के प्रथम चार अंक प्रायः लिए हुए से ज्ञात होते हैं। प्रथम दूसरे का साधन है। शूद्रक का समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ है। भास का

परवर्ती होते हुए भी यह ठीक नहीं हो सका है कि शूद्रक नाम वास्तविक है या कल्पित। नाटक में यह नाटककार तथा राजा कहा गया है।

शूद्रक

संस्कृत के अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख है और इसके विषय में भिन्न-भिन्न बातें कही गई है। मृच्छकटिक नाटक दस अंकों में समाप्त हुआ है। यह नाटक अपनी विशेषता के कारण अद्वितीय है और इसमें राजनैतिक षड्यंत्र तथा प्रेम की कथा बड़ी सफलता से मिश्रित की गई है। शूद्रक को आंध्र देशीय नरेश मानते हुए इसका समय पूर्वेसा तृतीय शताब्दि सिद्ध भी किया जा रहा है।

रघुवंश, कुमारसंभव तथा मेघदूत के सुविख्यात महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र तीन नाटक

कालिदास

लिखे है। इनका समय भी संदिग्ध है तथा इनकी जीवनी पर भी विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका है। इनके समय में मतभेद है और एक पक्ष इन्हें विक्रमी प्रथम शताब्दि का मानता है तब अनेक मत से इनका तृतीय गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन होना निश्चित समझा जाता है। इन सम्राट् का राज्यकाल सन् ३७५–४१३ ई० है। मालविकाग्निमित्र में शुंग वंश के प्रथम तीन राजे पात्र हैं और इन तीन का राज्यकाल पूर्वेसा सन् १८५ ई० से सन् ९२ ई० तक है। विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा तथा उर्वशी अप्सरा की पौराणिक प्रेमगाथा है। अभिज्ञान शाकुंतल में राजा दुष्यंत तथा शकुंतला का प्रेम, विरह तथा मिलन प्रदर्शित किया गया है। कालिदास के संबंध में इतना ही कहना अलम् होगा कि वह संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय है और संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारो में इनकी गणना आदर के साथ की जाती है।

स्थाणीश्वर तथा कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष का राज्यकाल सं० ६६३–७०५ वि० है और इसी की सभा के सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्ट थे, जिन्होंने

श्री हर्ष

अपने आश्रयदाता का हर्षचरित में वृत्त दिया है। प्रसिद्ध चीनी यात्री सुएनचाँग भी इस राजा का कुछ वर्षों तक आश्रित रहा था। इसने रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नाटिका और नागानंद नाटक लिखे थे। प्रथम दो में वत्सराज उदयन की सिंहल-कुमारी रत्नावली तथा प्रियदर्शिका के साथ प्रेम और मिलन दिखलाया गया है। नागानंद में जीमूतवाहन का बौद्ध आख्यान प्रदर्शित किया गया है। कविता तथा नाट्यकला में श्री हर्ष ने अच्छी सफलता प्राप्त की है।

पल्लव-नरेश सिंहविष्णुवर्मा का यह पुत्र था, जिसकी राजधानी

कांची थी। महेंद्र विक्रम विक्रमी सातवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में राजा था। यह श्रीहर्ष का समकालीन था। इसका केवल एक प्रहसन मत्तविलास प्राप्त हुआ है। इसमें कापालिक और देवसोमा सुरा की प्रशंसा करते हैं, बौद्ध भिक्षु तथा पागल आते हैं, बौद्ध नीति कही जाती है और इसके अनतर प्रहसन समाप्त होता है। यही प्राचीनतम प्राप्त प्रहसन है और बाद के प्रहसनों की अश्लीलता का इसमें अभाव है। इसी समय के एक नाटककार चंद्र या चंद्रक का भी पता चलता है पर उसकी रचना के कुछ श्लोक ही मिले हैं। राजतरंगिणी से इसका कश्मीर-नरेश तुंजीन के समय होना ज्ञात होता है।

महेंद्र विक्रम

भवभूति ने अपने को कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा काश्यप गोत्र का उदुंबर ब्राह्मण और पद्मपुर का निवासी लिखा है। इनका नाम श्रीकंठ, पिता का नाम नीलकंठ तथा माता का जातुकर्णी था। यह व्याकरण, तर्क तथा मीमांसा के विद्वान थे और काव्यशास्त्र के पूर्ण मर्मज्ञ थे। वेद, उपनिषद्, सांख्य तथा योग के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने तीन नाटक लिखे हैं और तीनों ही कालप्रिय के उत्सव पर लिखे गए हैं। इनका समय विक्रमीय सातवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध था। इनके दो नाटक महावीर चरित तथा उत्तर रामचरित के विवरण श्री रामचंद्र की कथा से लिए गए हैं। प्रथम में कथावस्तु सीता-विवाह से आरंभ होकर रावण-वध के अनंतर रामचद्र के राज्याभिषेक पर समाप्त होता है। द्वितीय में रजक के आक्षेप से सीता-निर्वासन से आरंभ होकर अश्वमेध यज्ञ के कारण लव-कुश से युद्ध होने तथा मिलने पर कथावस्तु की समाप्ति होती है। मालती-माधव प्रकरण है, अतः इसकी कथा कवि-कल्पित है। पद्मावती तथा विदर्भ के मंत्रियों की संतानों मालती और माधव के विवाह-चर्चा से कथा आरंभ होती है, अनेक विघ्नबाधाएँ दूर होती है और अत मे विवाह होता है। नाट्यकला तथा अभिनय की दृष्टि से भवभूति उतने सफल नहीं हुए है, जितना वे काव्य कौशल से हुए हैं। इनके नाटकों में उत्तर रामचरित सर्वश्रेष्ठ है और संस्कृत-साहित्य की उज्वलतम निधियों में से है।

भवभूति

मुद्राराक्षस के प्रणेता विशाखदत्त या विशाखदेव के पिता का नाम महाराज पृथु और पितामह का सामंत वटेश्वरदत्त था, जिन दो के विषय में अन्यत्र कुछ लिखा नहीं मिलता। केवल इतना ही उक्त नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात हुआ है। विशाखदत्त के दूसरे नाटक देवी चंद्रगुप्तम् के केवल बारह उद्धरण अब तक प्राप्त हुए

विशाखदत्त

हैं और पूरा नाटक अप्राप्य है। मुद्राराक्षस नाटक के निर्माण-काल का निश्चय अन्य आधारों से जहाँ तक हो सका है उससे वह चौथी शताब्दि ईसवी का ज्ञात होता है। मुद्राराक्षस संस्कृत-साहित्य में इस कारण अद्वितीय है कि यह केवल शुद्ध राजनैतिक षड्यंत्रों पर निर्मित हुआ है। चाणक्य अपनी कूटनीति तथा दूरदर्शिता से अपने प्रतिद्वंद्वियों को पूर्णरूपेण परास्त कर चद्रगुप्त को मौर्य-साम्राज्य की संस्थापना मे सफल बना देता है। कथावस्तु मे कहीं विश्रृंखलता नहीं है, चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है और इसके उपयुक्त गुणों की अच्छी योजना की गई है। नाट्यकला की दृष्टि से नाटककार को अच्छी सफलता मिली है। देवीचद्रगुप्तम् के जो अंश अब तक मिले हैं, वे इस नाटककार के अनुरूप ही हैं और उसका कथावस्तु भी राजनैतिक षड्यंत्र के आधार पर है।

भट्ट नारायण मृगराज लक्ष्मण के विषय में विशेष कुछ नहीं ज्ञात हुआ है। इनका समय ईसवी सातवीं शताब्दि अनुमान किया जाता है।

भट्ट नारायण

इन्होंने वेणीसंहार नामक केवल एक नाटक लिखा है, जिसकी कथा महाभारत से ली गई है। इसका कथावस्तु द्रौपदी के दुश्शासन द्वारा बाल पकड़कर खींचे जाने पर उसके बदला लेने के शपथ स आरंभ होता है। कौरव मारे जाते हैं और द्रौपदी अपना केश दुश्शासन के रक्त से भीम द्वारा सिंचित होने पर बाँधती है और नाटक समाप्त हो जाता है। चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है, ओज की मात्रा भी है पर अभिनय की दृष्टि से यह अच्छा नहीं बन पड़ा है।

नवीं शताब्दि या उसके पहिले के अन्य नाटककारो का कम पता लगा है और उनकी रचनाओं का और भी कम। कल्हण ने कान्यकुब्ज-

अन्य कविगण

नरेश यशोवर्मा (७२०–७४० ई०) के और कश्मीर-नरेश अवतिवर्मा के आश्रित शिवस्वामिन् के नाटकों का उल्लेख किया है। प्रथम ने केवल रामाभ्युदय नाटक लिखा है और द्वितीय ने बहुत से नाटक, नाटिकाएँ लिखी हैं पर इनमें से एक भी प्राप्त नही है। अनंगहर्ष मातृराज के नाटक तापस-वत्सराज में रत्नावली की कथा दुहराई गई है, जो प्राप्त है। राजशेखर ने उदात्तराघव के रचयिता मायुराज को करचुली लिखा है और धनिक ने भी इसका उल्लेख किया है। धनिक ने नाटककारों के नाम नही दिए है, केवल नाटकों के नाम दिए हैं। उसने छलितराम, पांडवानंद, तरंगदत्त और पुष्पदूषितक (विश्वनाथ का पुष्पभूषित) के उद्धरण दिए हैं। दशरूप में समुद्रमंथन नामक समवकार का उल्लेख है। अतिम वत्सराज कृत है,

जिनके अन्य रूपक त्रिपुरदाह, रुक्मिणीहरण, किरातार्जुनीय, कर्पूरचरित और हास्य-चूड़ामणि हैं। इनके सिवा और भी अनेक नाटक इस काल के मिले हैं, पर सबके विवरण के लिए स्थानाभाव है।

मुरारि

यह मौद्गल्य गोत्र के श्रीवर्द्धमानक तथा तंतुमती का पुत्र था। इसका समय भी विक्रमीय नवीं शताब्दि है। इसकी रचनाओं में से एक मात्र नाटक अनर्घराघव प्राप्त है और अन्य ग्रंथों मे दिए उद्धरणो से दूसरी कृतियों का भी पता चलता है। इस नाटक की कथावस्तु का आरंभ विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण को सहायतार्थ ले जाने से होता है, कथोपकथन से बहुत-सी बातो की सूचना देने पर ताड़का-वध होता है इसके अनंतर सीता-विवाह तथा सीता-हरण का दृश्य दिखलाते लंकेश का नाश किया जाता है और राम-राज्याभिषेक से समाप्ति है। भवभूति के नाटकों के अनतर रामचरित पर लिखे गये इस नाटक मे किसी प्रकार की विशेषता नहीं आ सकी पर भाषा तथा कवित्व पर इनका पूरा अधिकार था।

राजशेखर

यह यायावरीय महाराष्ट्र क्षत्रिय वंश के थे, जिसकी परंपरा श्री-रामचंद्रजी से चली कही गई है। यह कविगण सुरानंद, तरल तथा कवि-राज के वंशज अकालजलद के पौत्र और मत्री दुर्दुक या दुहिक तथा शीलवती के पुत्र थे। इन्होंने कर्पूरमंजरी बालरामायण, बालभारत और विद्धशालभंजिका चार नाटक लिखे हैं। द्वितीय कान्यकुब्ज-नरेश महेंद्रपाल (सं० ९५०–९६५) के लिए और तृतीय इसीके उत्तराधिकारी महीपाल के लिए लिखा गया था। चतुर्थ कलचुरि-नरेश युवराज केयूरवर्ष के लिए लिखा गया था। बालरामायण दस अंको का महानाटक है, जिसमें कविता अधिक है। बालभारत अपूर्ण है और इसमें द्रौपदी-विवाह, द्यूतसभा और द्रौपदी-चीर-कर्षण तक की कथा आई है। कर्पूरमंजरी कुल प्राकृत में होने से सट्टक है और इसका अनुवाद भारतेंदुजी ने किया है। इसका वृत्त वहीं दिया जायगा। विद्धशालभंजिका में चंद्रवर्मा अपनी पुत्री मृगांकावली को पुत्र रूप में लाट-नरेश विद्याधर मल्ल के राजभवन में भेजता है और उसका विवाह कुंतलराजकुमारी कुवलयमाला से निश्चित होता है। राजा स्वप्न में तथा शालभंजिका अर्थात् चित्र में उसी मृगांकावली को देखकर मोहित होता है। उसकी रानी राजा को विद्रूप करने के लिए उसी पुरुष छद्मवेशी मृगांकावली से उसकी बहिन कहकर विवाह कराती है पर छद्म के प्रगट हो जाने पर निरुपाय होकर दोनों अर्थात् मृगांकावली और

कुवलयमाला को राजा को सौंप देती है। बालरामायण रावण के सीता के प्रति प्रेम से आरंभ होता है, जो स्वयंवर में शिव-धनुष तोड़ना अस्वीकार कर चला जाता है। वह परशुराम से विघ्न डालने में सहायता माँगता है। सीता का विवाह उसके सामने होता है। राम-परशुराम का द्वंद्व इसके अनंतर मिटता है। रावण का विरह दिखलाने के बाद राम-सीता-वनवास से दशरथ की मृत्यु तक छठा अंक समाप्त होता है। तीन अंकों में सेतु-बंधन से रावण-वध तक का विवरण देकर दसवें में अयोध्या लौटकर राजगद्दी के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

नाट्यकला की दृष्टि से राजशेखर विशेष सफल नहीं हुए हैं। चरित्र-चित्रण अधिकतर शिथिल है और युद्धादि का विवरण अभिनय के उपयुक्त नहीं हुआ है। संस्कृत तथा प्राकृत दोनों ही में कविता अच्छी की है और इन भाषाओं पर इनका अच्छा अधिकार है।

राजशेखर ने अपने समकालीन भीमट के पाँच नाटकों का उल्लेख किया है, जिनमें स्वप्नदशानन अधिक प्रसिद्ध है। इसी समय आर्य क्षेमीश्वर, हुए, जिनका चंडकौशिक कान्यकुब्ज के राजा महीपाल के लिए लिखा गया था। यह सत्यवीर राजा हरिश्चंद्र के उपाख्यान को लेकर लिखा गया है। इनका दूसरा नाटक नैषधानंद नलोपाख्यान पर लिखा गया है। ये दोनों नाटक अभिनय के विशेष उपयुक्त नहीं हैं। कृष्ण मिश्र का प्रबोध-चंद्रोदय नाटक भावात्मक है, जो इस काल के प्रसिद्ध नाटकों में गिना जाता है। इसकी उपयोगिता इतनी थी कि बाद में हिंदी मे इसके कई अनुवाद हुए।

क्षेमीश्वर, कृष्ण मिश्र

कुंडिनपुर-निवासी महादेव तथा सुमित्रा के पुत्र जयदेव कृत प्रसन्न-राघव में सीता-स्वयंवर, वनवास, हरण, युद्ध तथा मिलन तक रामायण की कथा दिखलाई गई है। इसके बाद राम-कथा को लेकर किसो अज्ञात कवि कृत छलितराम (१००० वि०), रामभद्र दीक्षित कृत जानकी-परिणय (१६०० वि०), महादेव कृत अद्भुत दर्पण आदि नाटक लिखे गए हैं। कृष्णकथा के आधार पर केरल के राजकुमार रविवर्मा का प्रद्युम्नाभ्युदय (१३०० वि०), रूपगोस्वामी का विदग्धमाधव तथा ललितमाधव (१६०० वि०). शेषकृष्ण का कंसवध (१६०० वि०), त्रावंकोर के रामवर्मा का रुक्मिणी-परिणय (१७०० वि०), सामराज दीक्षित का श्रीदामाचरित आदि नाटक निर्मित हुए हैं। केरल-नरेश कुलशेखर कृत सुभद्रा-धनंजय तथा तप्तीसंवरण और प्रह्लादनदेव कृत पार्थ-पराक्रम महाभारत के अन्य उपाख्यानों के आधार पर

अन्य नाटककार

प्रणीत हुए हैं। विशालदेव विग्रहराज कृत हरकेलि नाटक, वामनभट्ट बाण कृत पार्वती-परिणय और जगज्ज्योतिमल्ल का हर-गौरि-विवाह महादेवजी की कथा के आधार पर बने हैं। सोमनाथ का ललित-विग्रहराज और जयसिंह सूरि का हम्मीर-मद-मर्दन ऐतिहासिक नाटक हैं। प्रबोध-चंद्रोदय के बाद भावात्मक नाटकों में वेंकटनाथ कृत संकल्प सूर्योदय, कर्णपूर कृत चैतन्य-चंद्रोदय तथा यशपाल कृत मोहराज-पराजय उल्लेखनीय हैं।

पूर्व-लिखित नाटकों के सिवा बहुत से अन्य नाटक, नाटिका, सट्टक आदि प्राप्त हैं पर उन सबका उल्लेख होना हिंदी-नाटकों के इतिहास में अनावश्यक है और उसके लिए स्थानाभाव भी है। इतना लिखना भी शृंखला मिलाने ही के लिए था, नहीं तो जो कुछ लिखा गया है वह किसी अवस्था में पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

दृश्य काव्य के लक्षण-ग्रंथ

स्वयंभू ब्रह्मा के बनाए हुए नाट्यवेद का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है पर वह अब तक अप्राप्य है और न उसका किसी बाद के लक्षण-ग्रंथों में कहीं उल्लेख मिलता है। दंतकथा भी है कि वह देवताओं के लिए निर्मित हुआ था और मर्त्यलोक पर वह भरतमुनि द्वारा लाया गया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र के रूप में पृथ्वी पर अवतरित कहा जा सकता है। पाणिनी का समय तीन शताब्दि पूर्वेसा काल के पहिले निश्चित माना जाता है, जिसमें कृशाश्व तथा शिलालिन् के नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है पर इससे यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है कि पाणिनि ने नाटकों को तथा उनके अभिनय को भी देखा था। साथ ही दृश्य काव्य अर्थात् नाटक-निरूपण के आचार्य भरत ही माने गए हैं और कृशाश्व तथा शिलालिन् का आचार्य रूप में अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। हो सकता है कि वे सूत्र नृत्य या प्राचीन स्वाँगलीला के संबंध में रहे हों।

वेदव्यास निर्मित मानकर पुराणों की प्राचीनता साधारणतः अधिक समझ ली जाती है और इसी कारण अग्निपुराण का, जिसमें ३३७ से ३४१ तक के ५ परिच्छेद नाट्य-कला पर हैं, दृश्यकाव्य के लक्षण-ग्रंथों में पहिले नाम लिया जाता है। परंतु इसका समय बहुत छानबीन किए जाने पर ईसवी चौथी शताब्दि के पहिले नहीं जाता। इस कारण भरतकृत नाट्यशास्त्र से यह किसी हालत में प्राचीनतर नहीं हो सकता क्योंकि इसमें नाट्यशास्त्र से बहुत कुछ अंश लिए हुए हैं। ३३७ वें परिच्छेद में नाटकों के भेद, प्रस्तावना, अर्थ-प्रकृति तथा पंचसंधियों का और ३३८ वें

में रस, स्थायीभाव, अनुभावादि, नायक-नायिका के विवरण दिए हैं। ३३९ वे में चार रीति तथा चार वृत्ति का, ३४० वें में नृत्यकला के अंग-विक्षेप का और ३४१ वे में अभिनय का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार देखा जाता है कि भरत का नाट्य शास्त्र ही वास्तव में प्राचीनतम रीति-ग्रंथ इस विषय पर प्राप्त है। जो ग्रंथ अब प्राप्त है वह ठीक उसी रूप में है, जिसमें ग्रंथकार ने छोड़ा था, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। इस पर कोई प्राचीन टीका भी प्राप्त नहीं है और न प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, जिससे इसका पाठ शुद्ध किया जा सके। प्राप्त ग्रंथ ३७ परिच्छेदों में विभाजित है और इसमें लगभग ५००० श्लोक है, जिनमें अधिकतर अनुष्टुभ् ही हैं। इसमें नाट्य-मंडप, देवार्चन, तांडव, पूर्वरंग, नांदी, प्रस्तावना, रस, भावादि, अभिनय, नृत्य-भाव, पात्र, प्रवृत्ति, छंद, अलंकार, कथावस्तु, संधि, वृत्ति, हाव-भाव, नायिका-नायक भेद, अभिनय-कला, दर्शक, वादन-यंत्र आदि पर विस्तार से लिखा गया है। नाट्य-शास्त्र पर अभिनवगुप्त कृत अभिनव भारती नामक टीका का उल्लेख राघवभट्ट ने शाकुंतल पर अपनी टीका में किया है। मातृगुप्त कृत नाट्य-शास्त्र की व्याख्या का भी पता चलता है, जिसका संकेतमात्र राघवभट्ट ही ने किया है। उक्त दो के सिवा मंगल तथा भागुरि ने भी नाट्य-शास्त्र के कुछ अंशों पर व्याख्या की है, ऐसा ज्ञात होता है। लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक ने यद्यपि नाट्य-शास्त्र पर टीकाएँ नहीं लिखी हैं पर काव्यशास्त्र पर स्वनिर्मित ग्रंथो में नाट्य-शास्त्र के कुछ सूत्रों की व्याख्या की है। इस ग्रथ का रचना-काल पूर्वेसा द्वितीय शताब्दि के लगभग माना जाता है।

नाट्य-शास्त्र

उक्त ग्रंथ के बाद प्रायः एक सहस्र वर्ष तक के कोई ग्रथ इस विषयपर नहीं मिलते। दसवी शताब्दि में धार-राज मुंज (९७४–९५वि०) के मंत्री विष्णु के पुत्र धनंजय ने दशरूपक नामक ग्रंथ लिखा, जिस पर उसी के भाई धनिक, विशेषतः अनुज, ने अवलोक नाम की व्याख्या लिखी। इसमें तीन सौ कारिकाएँ चार प्रकाशों में विभाजित है। प्रथम में रूपक के दस भेद, पंच संधि तथा उनके अंग और विष्कंभ-चूलिकादि का विवरण है। द्वितीय में नायक-नायिका-भेद, उनके मित्र, चारों वृत्तियों तथा उनके अंगों का वर्णन दिया गया है। तृतीय में नाटकारंभ, प्रस्तावनादि, दसो नाटक के अभिनय के लिए आवश्यक कार्यों का विवरण है। चतुर्थ में रस की विवेचना विस्तार से

दशरूपक

की गई है। धनिक की व्याख्या विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण है। धनिक ने बहुत से उद्धरण दिए है और अधिकतर नाटकों के नाम दिए है, नाटककारों के नहीं के समान है। यह ग्रंथ नाट्य-शास्त्र के आधार पर होते हुए भी विशेष सुश्रृखलित तथा नाटक की प्रधान बातों पर विशेष दृष्टि रखते हुए लिखा गया है। मुख्य ग्रंथ नवीं शताब्दि ईसवी के अंत में और व्याख्या कुछ समय बाद लिखी गई है।

तेलिगाना के काकतीय नरेश प्रतापरुद्र का समय ईसवी चौदहवीं शताब्दि का आरंभ है, जो विद्यानाथ का आश्रयदाता था। यह ग्रंथ नौ प्रकरणों में विभक्त है, जिनमें तीसरा नाटक पर लिखा गया है। इसी में विद्यानाथ ने उदाहरण रूप में स्वनिर्मित प्रतापरुद्रकल्याण नाम से एक नाटक भी दिया है। अन्य प्रकरणों में नायक तथा रस आदि की विवेचना है। यद्यपि डा० कीथ ने स्वकृत ग्रंथ मे मम्मट कृत काव्य-प्रकाश तथा विद्याधर कृत एकावली का दृश्य काव्य के लक्षण-ग्रंथों में उल्लेख कर दिया है पर उनमें नाटकों पर कुछ भी नहीं लिखा गया है।

प्रताप रुद्रयशोभूषण

विश्वनाथ के पिता चंद्रशेखर विद्वान् कवि तथा ग्रथकर्ता थे। ये दोनों साधिविग्रहिक महापात्र कहे जाते थे। विश्वनाथ वैष्णव तथा संस्कृत और प्राकृत के सुकवि थे। इनका समय भी चौदहवीं शताब्दि है। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे है, जिनमें एक साहित्य-दर्पण दो खंडों मे विभक्त है। प्रथम मे छ परिच्छेद और द्वितीय मे चार परिच्छेद है। इनमे छठे परिच्छेद मे नाटक पर विस्तृत विवेचना है। विश्वनाथ ने मौलिक ग्रंथकार न होते भी सरल सुगम भाषा मे समग्र काव्यशास्त्र पर पूरा प्रकाश डाला है और भरत के नाट्य-शास्त्र तथा दशरूप से मिलाकर संस्कृत नाट्य-शास्त्र की त्रिमूर्ति स्थापित कर दिया है।

साहित्य-दर्पण

उक्त ग्रंथो के सिवा चौदहवीं शताब्दि का एक रसार्णव सुधाकर है, जिसके लेखक शिंग भूपाल राजाचल के नरेश थे। सोलहवीं शताब्दि ईसवी के आरंभ में महाप्रभु श्री कृष्ण चैतन्य के प्रमुख शिष्य रूपगोस्वामी ने नाटक-चंद्रिका लिखी और इसी समय के लगभग सुंदर मिश्र ने नाट्य-प्रदीप का निर्माण किया। ये सभी पूर्वोक्त ग्रंथों ही के आधार पर लिखे गए हैं और इनमे कोई विशेषता या मौलिकता नहीं है।

अन्य ग्रंथ

इस प्रकार संस्कृत-ग्रंथों का विवरण समाप्त होता है और हिंदी की

ओर दृष्टि जाती है। परंतु शोक है कि इसमें इस प्रकार के ग्रंथ प्रायः नहीं के समान हैं।* पहिले पहिल भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने मुद्रा-राक्षस का अनुवाद करते समय सं० १९३१ मे ऐसे ग्रंथ-रचना की ओर

हिंदी रचनाएँ

ध्यान दिया और सं० १९३६ मे 'नाटक' नामक निबंध समाप्त किया। इसके लिए इन्होंने संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनो भाषाओं ही के नाट्यकला पर प्राप्त ग्रंथों को आधार माना था और स्थान स्थान पर यह अपनी स्वतंत्र विवेचना भी करते गये है। आरंभ में काव्य के दो भेद तथा रूपक और उपरूपक के प्राचीन तथा नवीन भेद दिए गए हैं। इसके अनतर नाटक-रचना का प्रस्तावना, वृत्ति आदि सहित विवरण दिया गया है। क्रमशः अभिनय, नायक, भाव-द्योतन, रस आदि का विवेचन कर नाटकों का, संस्कृत, भाषा तथा यूरोपीय का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। इस प्रकार इस निबंध-ग्रंथ में संक्षिप्त होते हुए भी नाट्यकला की सभी आवश्यक वस्तुएँ आ गई है और साथ मे संक्षिप्त इतिहास भी समाविष्ट हो गया है।

इसके अनतर श्रद्धेय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने नाट्यशास्त्र नामक निबंध सन् १९०३ ई०में लिखा, जो सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमे भारतीय नाट्य-साहित्य की प्राचीनता के दिग्दर्शन के साथ रूपक, उपरूपक, पात्र-कल्पना, भाषा, रचना-चातुर्य, वृत्ति आदि का संक्षेप मे विवरण दिया गया है। द्विवेदीजी ने पं० बलवंत कमलाकर द्वारा लिखित नाट्य-शास्त्र प्रबंध के हिंदी-अनुवाद का उल्लेख किया है, जिसपर अनुवादक महाशय ने मूल लेखक का नाम नहीं दिया है। द्विवेदीजी की इस रचना के अनंतर सन् १९२५ ई० में पं० चंद्रराज भंडारी ने नाट्य-कला-दर्शन नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसकी पृष्ठ-संख्या पौने दो सौ है। इसका आधा भाग पुस्तक के मूल उद्देश्य से दूर पड़ गया है और आधे मे जो कुछ विवेचना हुई है, वह भी विशेष उपादेय नहीं हुई है। इसी समय रायबहादुर बा० श्यामसुंदरदासजी ने सन् १९२५ ई० के समालोचक में तथा सं० १९८२ की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में नाट्यकला के कुछ अंगों पर प्रकाश डाला है और स्वकृत साहित्यालोचन

---

* एक सज्जन ने सदारामकृत नाटकदीपिका को प्रथम रीतिग्रंथ माना है पर वे नाम को देखकर भ्रम में पड़ गए है। खोज-विवरण मे इसीके साथ नाटक-दीप का भी उल्लेख है पर ये दोनों वेदान्त विषयक हैं, नाटक या नाट्यकला से इनसे कोई संबंध नही है। देखिए नागरी प्रचारिणी की खोज-रिपोर्ट सन् १९०१ सं० ४९।

के छठे तथा सातवें अध्यायों में दृश्य काव्य का विकास तथा उसका विवेचन दिया है। इनके सिवा अन्य अध्यायों में रस शैली आदि की विवेचना भी है। इन्हीं सबको लेकर सं० १९८८ में रूपक-रहस्य प्रकाशित हुआ। इसमें नौ अध्याय हैं। प्रथम मे रूपक का विकास और द्वितीय मे उसका परिचय दिया है। तीसरे, चौथे और पॉचवे मे क्रमशः कथा-वस्तु, पात्र तथा वृत्ति पर विवेचन है। छठे में रूपक की रूप-रचना और सातवे मे रूपक के भेदो की परिभाषा दी गई है। आठवे मे रस की विस्तार से विवेचना की गई है और नवे मे रंगशाला का विवरण है। यह ग्रंथ विशेषत. साहित्य-दर्पण तथा दशरूपक के आधार पर तैयार किया गया है और हिंदी-भाषियों के लिए संस्कृत नाट्य-शास्त्र का यह सर्वांगपूर्ण ग्रंथ है। सं० १९८९ मे 'हिंदी मे नाट्य-साहित्य का विकास' नामक एक पुस्तिका और भी निकल चुकी है, जिसमे संक्षेप मे नाट्य-शास्त्र की कुछ बाते कही गई है। जब्बलपुर-निवासी सेठ गोविंददास ने स० १९९२ में नाट्यकला मीमांसा नाम से ३८ पृष्ठों की एक पुस्तिका लिखी है, जिसमे यूरोपियन लेखकों के उद्धरण अधिक है और आधुनिक काल की कला पर अति सक्षेप मे विवेचन है।

शारदा पत्रिका में पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी का, हिंदुस्तानी में कुमारी गोदावरी का भारतीय प्रेक्षागृह पर तथा इसी प्रकार अन्य पत्रिकाओं मे समय समय पर लेख निकलते रहे है।

रूपकों के भेद

भारतवर्ष की आर्य-जाति के सभी कर्म धर्म-मूलक होते थे और संगीत तथा साहित्य भी इसी को लेकर चला था। यहाँ का परम शास्त्र वेद संगीत तथा साहित्यमय है। 'काव्यालापाश्च . . . विष्णोरंशा महात्मन'। साहित्य के अंतर्गत काव्य के दो भेद श्रव्य तथा दृश्य होते है। प्रथम वह है जो केवल पढ़कर या गा कर सुना जा सकता है पर दूसरा वह है जो पढ़ने तथा सुनने के साथ-साथ अभिनय द्वारा दिखलाया भी जा सकता है। दृश्य काव्य को नाटक या रूपक भी कहते है। नट क्रिया का अर्थ नृत्य करना या अभिनय करना है और जिसमें यह दिखलाया जाय वही नाटक है। यदि नट धातु का केवल नाचना ही अर्थ लिया जाय तो नाटक केवल वह मजलिस रह जायगी, जहाँ नर्तकी कोरी नृत्यकला दिखलाती हो। हो सकता है कि ऐसी ही मजलिसे रूपकों की पूर्वरूप रही हों और इसी कारण वही नामकरण भी साथ चला आया हो। नटगण अर्थात् अभिनेतागण

काव्य भेद

दूसरों का रूप धारण कर अपने को नए रूप देकर ही जिस रचना के आधार पर अभिनय करते हैं, उसी को रूपक कहते हैं। रूपक दस प्रकार के कहे गए हैं और इनके सिवा अन्य साधारण भेद उपरूपक के अंतर्गत बतलाए गए हैं।

रूपक के दस भेद नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग हैं। उपरूपक के अठारह भेद नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका हैं। नाट्य-लक्षणों से पूर्ण दस अंकों के नाटक को महानाटक कहते हैं। ये सब भेद अधिकतर नाटक-लक्षणकारों के मस्तिष्क की उपज मात्र हैं और इनमें से बहुतो के दृष्टांत तक नहीं मिलते। उपरूपक के ये भेद नाट्य-शास्त्र में न प्राप्त होते हुए भी भरत मुनि कृत कहे जाते हैं। अग्नि-पुराण में ये भेद कहे गए हैं पर दशरूपक में नहीं हैं, केवल धनिक ने अवलोक में 'भाणवत् सप्तनृत्यस्य भेदाः' कहकर सात भेदों का उल्लेख किया है। विश्वनाथ कविराज ने अवश्य इन भेदों को परिभाषा सहित दिया है, पर इससे इन भेदों की प्राचीनता का समय कुछ संदिग्ध हो गया है।

रूपक भेद

रूपक के दस भेदों में प्रधान भेद नाटक है, जिसका वस्तु कपोल-कल्पित नहीं होना चाहिए। नायक राजा, राजर्षि, दिव्य या दिव्यादिव्य हो और रस वीर या शृंगार हो। अन्य रस आ सकते हैं पर विरोधी हो कर नहीं। भाषा सरल सुगम और शैली उदात्त हो तथा कविता, गायन आदि से कोमल सामंजस्य-युक्त हो। अंक पाँच से दस तक हो सकते हैं। दस अंक पूरे होने पर नाटक महानाटक कहलाता है। प्रकरण प्रायः नाटक से एक दर्जा घटकर है। इसका वस्तु कल्पित हो सकता है, नायक मंत्री, ब्राह्मण, वैश्य हो सकते हैं और नायिका कुलीन, वेश्या या दोनो हो सकती हैं। इनके कारण प्रकरण के तीन भेद हो जाते हैं। अन्य सब बाते नाटक ही के समान होती हैं। समवकार वीर रस प्रधान दैवी रूपक है। इसके सभी पात्र देव या असुर होते हैं, नायक कई हो सकते हैं, वस्तु पौराणिक देव-असुर-संबंधी होता है और अंक तीन होते है। व्यायोग का वस्तु युद्धीय होता है, जो पुराणों से लिया जाता है। नायक दिव्य या राजर्षि होता है, अंक एक होता है और रस वीर होता है। शृंगार या हास वर्ज्य है। प्रहसन में कल्पित कथा रहती है और हास्य

रस प्रधान होता है। पात्रगण साधारण निम्नकोटि के होते हैं। अंक, वीथी तथा भाण तीनों एकांकी होते है और इनमें विशेष भेद नहीं है। प्रथम में केवल एक ही अंक में कई पात्र खेल दिखलाते हैं, द्वितीय में केवल दो पात्र बाते करते हुए प्रेम-वर्णन करते तथा हँसाते हैं और तृतीय में केवल एक पात्र सभी कहानी कह जाता है। ईहामृग तथा डिम चार चार अंक के होते हैं। प्रथम में अलभ्य नायिका की प्राप्ति की इच्छा करने से उसका यह नामकरण हुआ है। नायक धीरोदात्त हो और दिव्य-नारी की इच्छा करे, जो उस पर प्रेम न रखती हो। डिम में चमत्कार, जादू आदि अधिक होता है और देवता असुर आदि पात्र होते हैं। इसमें भी नायक धीरोद्धत तथा रस शृंगार और हास्य होता है। अंतिम पॉच प्रकार के रूपको के उदाहरण नही मिलते।

उपरूपकों मे नाटिका, त्रोटक, प्रकरणिका. सट्टक मुख्य है, अन्य का केवल नाम मिलता है, उदाहरण एक भी नहीं है। नाटिका नाटक के समान ही है पर इसमें केवल चार अंक होते हैं, स्त्री-पात्र अधिक होती है तथा नायिका नायक की ज्येष्ठा-प्रणयिनी के अधीन होती है। त्रोटक भी नाटक ही के समान है और अंक भी पॉच से अधिक होते हैं। इस में नाटक से केवल नृत्य तथा प्रलाप अधिक होता है। प्रकरण के जोड़ में प्रकरणिका भी प्राय' नाटिका के समान है, केवल नायक-नायिका व्यापारी वर्ग के होते है। सट्टक भी नाटिका के समान होता है. केवल भेद इतना ही है कि भाषा कुल प्राकृत अर्थात् जनसाधारण की बोली में होती है। अन्य भेद अत्यंत साधारण होते है।

प्रत्येक रूपक के तीन आवश्यक तत्व कथावस्तु, नायक-नायिकादि पात्रगण तथा रस माने गए है अतः संक्षेपतः उनका भी यहॉ क्रमश. विवरण दिया जाता है।

वस्तु या कथावस्तु

दृश्य काव्य के आख्यानक को वस्तु या कथावस्तु कहते हैं, जो आधिकारिक या प्रासंगिक दो प्रकार की होती है। प्रथम मूल तथा द्वितीय गौण होती है। प्रधान पात्र नायक-नायिका के संबंध की कथावस्तु जो समग्र रचना में समान रूप से चलती रहती है, वही आधिकारिक है। समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक अधिकारी कहलाता है और उसी के संबंध से यह आख्यानक आधिकारिक कहलाता है। प्रासंगिक कथा प्रधान कथावस्तु की शोभा-वर्द्धन के लिए तथा उसके विकास में सहायता करने के लिए प्रसंगवश प्रयुक्त की जाती

वस्तु

है और अन्य पात्रों से संबंध रखती है। यह दो प्रकार की होती है— पताका तथा प्रकरी। जो प्रासंगिक वस्तु आधिकारिक के विकास में सहायता या बाधा देते हुए बराबर, कभी कभी अंत तक, चलती रहती है, वह पताका है और प्रकरी वह है, जो साधारण तथा थोड़े समय के लिए काम में लाई जाती है और जिसका मुख्य पात्रों से कोई संबंध नहीं रहता।

कथावस्तु के उसके आधार के अनुसार तीन भेद होते है। प्रथम प्रख्यात है, जो पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान से लिया गया है, दूसरा उत्पाद्य अर्थात् केवल कवि-कल्पित होता है और तीसरा मिश्र अर्थात् मिश्रित होता है।

कथावस्तु के विकास अर्थात् प्रधान फल की सिद्धि की ओर अग्रसर करने में सहायक चमत्कारपूर्ण अंशों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं, जो पॉच होती हैं। पताका तथा प्रकरी का उल्लेख हो चुका है।

अर्थ प्रकृति

बीज बीजवत् पहिले सूक्ष्म होते हुए भी वस्तु के साथ-साथ विस्तृत होता जाता है, इसीसे आरंभ मे संक्षेप मे कही हुई बात को, जो फल-सिद्धि का कारण बनती है, बीज कहते है। किसी कथा के समाप्त होते होते आगे के इतिवृत्त से अविच्छिन्न संबंध स्थापित कर देनेवाली बात बिंदु कहलाती है। कार्य वह है, जिसकी सिद्धि के लिए सब उपाय किए गये हों।

कथावस्तु के घटनाक्रम अर्थात् कार्य-शृंखला के पाँच विभाग किए गए हैं, जो अवस्थाएँ कहलाती है। फलप्राप्ति की जो उत्कंठा होती है, उसी को आरंभ कहते है। उस फल की प्राप्ति के लिए

अवस्था

जो कुछ प्रयत्न किए जाते हैं, वही यत्न है। सफलता की संभावना या आशा हो जाने पर प्राप्त्याशा की अवस्था आ जाती है और जब यह आशा निश्चय में बदल जाती है तब नियताप्ति हो जाती है। जब फल की प्राप्ति होती है, तब फलागम कहलाता है।

पूर्वोल्लिखित पॉच अवस्थाएँ जब विकासोन्मुख रहती हैं उस समय कथावस्तु के प्रधान तथा गौण अंशों का मेल मिलाने के लिए संधियाँ होती हैं, जो अवस्थाओं के अनुसार पॉच मानी गई

संधि

हैं। एक एक अवस्था की समाप्ति तक ये संधियॉ चलती हैं और अनुसारी अर्थ-प्रकृति से इनका मेल मिलाती हैं। ये मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श तथा निर्वहण या उपसंहार है। आरंभ अवस्था के संयोग से कुल रसों के साथ जहॉ बीज अर्थ-प्रकृति का उत्पा-

दन होता है वह मुख संधि है। इसके बारह अंग माने गए हैं। प्रतिमुख संधि में यत्नों के कारण बीज का प्रस्फुटन होता है और घटनाक्रम आगे बढ़ता है। इसके तेरह अंग होते हैं। गर्भ संधि में बीज का विशेष विस्तार होता है और विफलता की आशंका रहते भी सफलता की आशा हो जाती है। यह अर्थप्रकृति पताका के साथ चलती है और इसके बारह अंग होते हैं। अवमर्श संधि में पूर्ण विस्तार होते हुए नियताप्ति-अवस्था पहुँच जाती है पर अर्थ-प्रकृति प्रकरी के अनुसार नई विघ्न-बाधा आ पड़ती है। इसके तेरह अंग माने गए हैं। निर्वहण संधि मे फलागम अवस्था तथा कार्य अर्थ-प्रकृति के अनुसार पूर्व-कथित चारों संधियों में वर्णित प्रयोजन की सिद्धि अर्थात् फल-प्राप्ति हो जाती है। अब बीज पूर्णतया विस्तार पाकर सफल हो जाता है। इसके चौदह अंग माने गए हैं।

वस्तु विन्यास में स्वभावतः, चाहे वे प्रख्यात, उत्पाद्य या मिश्र हों, दो भाग हो जाते है; जिन्हें सूच्य और दृश्य-श्रव्य कहते है। जो अंश नीरस तथा किसी कारण अनुचित हो, उसकी केवल सूचना मात्र दे दी जाती है, जैसे मृत्यु, युद्ध, वध, लंबी यात्रा आदि। इस अंश को सूच्य कहते हैं। दृश्य-श्रव्य वह है, जो रसादि संयुक्त मधुर भावमय है और अभिनय में जिसका दिखलाना आवश्यक है। सूच्य अंश के लिए पाँच प्रकार के दृश्यों का विधान है, जो अर्थोपक्षेपक कहलाते हैं। विष्कभ या विषकंभक वह दृश्य है, जिसमें दो पात्र पहिले की हुई या बाद की होनेवाली घटना की सूचना देते है। ये पात्र प्रधान नहीं होते, मध्यम हो या मध्यम और नीच हों। इसी के अनुसार विष्कंभ के दो भेद शुद्ध या शंकर कहलाते है। यह अंक के पहिले या दो के बीच में आ सकता है। प्रवेशक इसी के समान है पर यह केवल दो अकों के बीच ही में आता है क्योंकि इसमें छूटी हुई बातो ही का मेल मिलाने को निम्न पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है। विना दृश्य बदले नेपथ्य से कहकर सूचना देने को चूलिका कहते है। एक अक के अंत मे बाहर जाते हुए पात्र द्वारा अगले अक मे होनेवाली कथा की सूचना जब दिलाई जाती है, तब उसे अकास्य कहते हैं। अंकावतार में आगे के अक की होनेवाली कथा का उसके पहिले अंक की कथा समाप्त होने के प्रथम ही बीजारोपण कर दिया जाता है, जिससे दोनों अंक की कथा बराबर चलती रहती है और पात्रगण केवल बाहर जाकर पुनः दूसरे अंक में चले आते हैं।

अर्थोपक्षेपक

नाटकीय कथावस्तु के तीन और भेद किए गए हैं—सर्वश्राव्य,

अश्राव्य या स्वगत और नियतश्राव्य। जो सब पात्रों के सुनने योग्य हो वह प्रथम और जो किसी के सुनने योग्य न हो वह द्वितीय है। तृतीय अपवारित तथा जनांतिक दो प्रकार का होता है। सामने पात्र के रहते भी उसी की रहस्य की बात पर मुख फेर कर कटाक्ष करना, जिसे वह न सुने अपवारित है। कुछ पात्रों से बचाकर उँगलियों का ओट करके दो का गुप्त बात करना जनांतिक है। इन तीन के सिवाय एक आकाश-भाषित होता है, जिसमें ऊपर की ओर देखकर मानों किसी अन्य पात्र की बात सुनने का नाट्य करके उसके प्रश्नों को दुहराते हुए उत्तर दिया जाता है।

पात्र गण

प्रधान पात्र नायक है; जिसे विनीत, त्यागी, कुशल, प्रिय बोलनेवाला, उच्च वंशस्थ, धीर, युवा, साहसी, बुद्धिमान, विद्वान आदि सर्व गुण संपन्न होना चाहिए। नायक चार प्रकार के होते हैं। धीर सभी होते हैं पर उदात्त, ललित, शांत तथा उद्धत होने के कारण ये चार भेद प्रकृत्या हो जाते हैं। उदात्त नायक क्षमाशील, अत्यंत दृढ़व्रत तथा गंभीर और आत्म-गौरव को विनय के आवरण में रखते हुए अहंकार तथा आत्मप्रशंसा से दूर रहता है। ललित के स्वभाव में मृदुता, सुख, कलासक्ति तथा निश्चि-तता रहती है। शांत नायक क्षत्रियेतर ब्राह्मण-वणिक होते हैं और प्रकृत्या शांति-प्रिय होते हैं। उद्धत नायक शूर, असहिष्णु, उद्दंड, आत्मप्रशंसक तथा घमंडी होता है।

प्रकृतिगत उक्त भेदों के अनुसार प्रत्येक नायक के स्त्री-प्रति उनके व्यवहार के कारण चार चार भेद किए गए है। दक्षिण नायक की एक से अधिक प्रेयसी या पत्नियाँ होती हैं और एक पर अधिक प्रेम रहते भी वह अन्य का तिरस्कार नहीं करता प्रत्युत् उन पर प्रेम ही रखता है। अनुकूल नायक एक ही नायिका या पत्नी में अनुरक्त रहता है। शठ वह है, जो पहिली प्रेयसी को छिपाकर अन्य नायिका से प्रेम करता है और धृष्ट प्रकट रूप में वैसा करता है। पहिली प्रेयसी से तिरस्कृत होने पर भी उसे लज्जा नहीं आती।

इस प्रकार नायक के सोलह भेद हुए। इनके भी ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम तीन तीन भेद होने से कुल अड़तालीस भेद हुए और इनके भी दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य तीन तीन भेद होने से कुल एक सौ चौआलिस भेद हुए। साथ ही नायक में, विशेषकर धीरोदात्त में, आठ सात्विक गुण माने गए हैं। ये शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्थैर्य, औदार्य, तेज तथा लालित्य हैं।

प्रतिनायक विशेषत: धीरोद्धत होते हुए छली, लोभी, हठी तथा पापाचारी होता है। नायक का सहायक तथा गौण कथावस्तु का नायक पीठमर्द कहलाता है। नायक का अंतरंग मित्र होते प्रायः उसी के समान, कुछ उतर कर, गुण-संपन्न होता है। यह कार्यकुशल होते हुए नायक का सच्चा अनुगामी होता है। इसके बाद विदूषक तथा विट का स्थान है। इनके सिवा कार्य के अनुसार अन्य अनेक सहायक पात्र होते हैं।

नायिका का स्थान भी नाटकों में नायक से कम महत्व का नहीं है। यह नायक की प्रेयसी या पत्नी होती है और इस कारण इसके स्वीया या स्वकीया, परकीया तथा सामान्या या गणिका तीन भेद होते है। इनके अवस्था के अनुसार मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा या प्रौढ़ा तीन तीन भेद होते है। इन सबके भी प्रथम प्रेयसी या बाद की होने से दो दो भेद ज्येष्ठा या कनिष्ठा होते हैं। इस प्रकार नायिका के अठारह भेद हुए। इनमें मध्या तथा प्रगल्भा के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ये तीन तीन भेद होते हैं। इन भेदो के सिवा व्यवहार तथा दशा के अनुसार आठ भेद किए गए हैं अर्थात् स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका तथा अभिसारिका। नायिका की सहायक उसकी सखी, दासी आदि होती हैं।

नायिका के सौंदर्य-वर्द्धक उपादान अलंकार कहलाते हैं। भाव, हाव तथा हेला अंगज; शोभा, कांति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, धैर्य तथा औदार्य अयत्नज और लीला, विलास, विभ्रम, बिब्बोक, विच्छित्ति, किलकिंचित, कुट्टमित, मोट्टायित, ललित तथा विहृत स्वभावज होते हैं। ये कुल मिलकर बीस हुए। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने इनके सिवा आठ स्वभावज अलंकार और बताए है, जो तपन, मुग्धता, विक्षेप, मद, कुतूहल, हसित, चकित और केलि हैं।

रस

दर्शकों के हृदय में नाटकों का अभिनय देखकर जिन रसों का उद्रेक होता है, उन्हीं का दृश्य तथा श्रव्य काव्यों में प्रमुख स्थान है। इन्हींका क्रमिक विकास ही रस-सिद्धांत है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में पहिले पहिल इस सिद्धात को स्वीकार किया है और उनके इस सूत्र पर 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्ति' यह निर्मित हुआ है। यद्यपि भरत मुनि ने अपने पूर्ववर्तियों का इस संबंध में उल्लेख किया है पर उसकी प्रमुखता 'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' सूत्र से पहिले पहिल इन्हींने की है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी (संचारी) भावों

के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव के दो भेद आलंबन तथा उद्दीपन होते हैं। बिना किसी आधार के किसी भी रस के स्थायी-भाव का दर्शकों में स्फुरण नहीं हो सकता अतः नायक नायिकादि पात्र-गण आधार या आलंबन होते हैं। स्फुरण होने पर उसकी उद्दीप्ति होने के लिए उद्दीपनों की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् परिस्थितियाँ ऐसी होनी चाहिएँ जिससे स्थायी-भावों को उत्तेजित होने का अवसर मिले। आलंबन के रहते भी यदि अनुकूल परिस्थिति न हो तो वह बीज रूप स्थायी भाव वहीं हृदय में ही मुरझा जायगा। इस प्रकार जब उद्दीपनों से वह बीज अंकुरित हो उठता है, तब आलंबन के हार्दिक भाव बाह्य आकृति से स्पष्ट प्रकट होने लगते हैं और इन्हीं आकृति-परिवर्तनों को अनुभाव कहते हैं। हार्दिक भावों के अनुगामी होने के कारण ही इनका नाम अनुभाव पड़ा है। अनुभाव कायिक, मानसिक तथा सात्त्विक तीन प्रकार के होते है। प्रथम दो तो बहुत हो सकते हैं पर सात्त्विक आचार्यों ने आठ माने हैं, रोमांच, स्वरभंग, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वेद, वेपथु, स्तंभ तथा प्रलय। अनुभाव का एक भेद आहार्य भी माना जाता है पर उसको वेश-भूषा के कारण होने से अनुभाव के अंतर्गत न मानना ही समीचीन है।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी तथा व्यभिचारी या संचारी। स्थायी भाव मानव मस्तिष्क में सदा बने रहते हैं, पर वे अधिकतर शांत रहते हैं, केवल कारणवश उत्तेजना मिलने पर वे प्रकट हो उठते हैं। श्रव्य काव्यों में केवल वाणी से और दृश्य में वाणी तथा अभिनय दोनों से ये उत्तेजित होते हैं। ये भाव स्थायी होने के कारण अन्य साधारण भावों द्वारा, चाहे वे उनके अनुकूल सजातीय हों या विरोधी विजातीय हों, कभी आच्छादित नहीं होते। ये स्थायी भाव नाट्यशास्त्र में आठ माने गए है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। नवें शम के विषय मे दशरूप में 'शममपि केचित्प्राहु. पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' लिखा है, पर यह कथन सारहीन है। इन स्थायी भावों से क्रमश. शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक. वीभत्स, अद्भुत और शांत रसों की निष्पत्ति होती हैं। इन रसों के सिवा प्रेय, वात्सल्य, लौल्य, कार्पण्य तथा भक्ति को भी कुछ आचार्यों ने रस माना है।

व्यभिचारी भाव वे हैं, जो तरंग के समान ऊपर ही ऊपर आते और निकल जाते हैं, उनका प्रभाव विशेष समय तक नहीं रहता। ये स्थायी भावों को विशेष स्पष्ट या पुष्ट मात्र कर देते हैं और कुछ समय में यह कार्य पूर्ण कर हट जाते है। इस कारण ये संचारी भी कहे जाते

हैं। ये तेतीस बतलाए गए है, जैसे निर्वेद, ग्लानि, शंका, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य आदि। ये भाव स्थायी भावो के अनुकूल तथा विरोधी भी होते है।

इस प्रकार इन विभावो, भावो तथा अनुभावो के संयोग से रस का परिपाक होता है पर इस रस का आनंद किस प्रकार मिलता है, इसके विषय में चार मत-भेद हैं। ये लोल्लट का उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्ट नायक का भुक्तिवाद और अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद है। उत्पत्तिवाद में यह कहा जाता है कि अभिनेता के सुंदर अभिनय को देखकर दर्शकगण उसीमें वास्तविक पात्रों के रस की प्रतीति कर आनंदित होते हैं, स्वत उनमें रस का कोई प्रभाव नहीं पडता। अनुमितिवाद कहता है कि अभिनेता के कुशल अभिनय को देखकर दर्शकगण वास्तविक पात्रो के भावानुभाव सयुक्त रस का स्वत' अनुमान कर आनंदित होते है और अभिनेताओं पर उन सब का कोई असर नही होता। अनुकरण-रूपो रसः का प्रादुर्भाव दर्शको ही में होता है पर अनुमान द्वारा। भुक्तिवाद में कहा गया है कि रस अनुमान का विषय नही है और न कोरी प्रतीति मात्र है। इसमें शब्दों के तीन कार्य अभिधा, भावना तथा भोगीकृति माना गया है। प्रथम से साधारण अर्थ का ज्ञान होता है, द्वितीय से नटो द्वारा दिखलाए गए वास्तविक पात्रगण का वैयक्तिक ज्ञान (सीतात्व) मिटाकर साधारण ज्ञान (सुदर सती स्त्रीत्व) रह जाता है और तृतीय से दर्शकगण को उसका पूर्ण आनंद ब्रह्मानंद के समान ही मिलता है। इस आनद की अनुभूति सहृदय दर्शकों को ऐसी होती है कि वे सब कुछ भूलकर उसी में कुछ समय के लिए तन्मय हो जाते हैं। इनका रसास्वाद परब्रह्म-साक्षात्कार की श्रेणी का है। अभिव्यक्तिवाद उक्त तीन कार्यों में से अंतिम दो को प्रमाण के अभाव में नही मानता। सभी सहृदय दर्शकों के मस्तिष्क में स्थायी भाव स्वत' वर्तमान रहते है, जो नाटक को देखकर विभावानुभावादि द्वारा उत्तेजित होते है और रसत्व को प्राप्त हो जाते है। यह रसानुभूति लौकिक मात्र नहीं रह जाती प्रत्युत् अलौकिक हो जाती है। अभिनव गुप्त के इस अभिव्यक्तिवाद को प्राय' बाद के सभी नाट्य-लक्षणकारों ने स्वीकार किया है।

रस वही है, जिससे अलौकिक आनद प्राप्त होता है और स्थायी-भाव के अनुसार ही उसके कई भेद होते हैं।

वृत्तियाँ

वृत्ति का साधारण अर्थ कार्य है और विशिष्ट अर्थ भी इसी अर्थ को

लेकर बने हैं। नाटकों में नायक-नायिकादि पात्रगण के कार्यों को सुचारु रूप से कराने को ही वृत्ति कहते हैं। नाट्यशास्त्र में चार प्रकार की वृत्तियाँ कही गई हैं—कैशिकी, सात्वती, आर्भटी तथा भारती। भरत मुनि ने इनकी आवश्यकता 'वृत्तयो नाट्यमातरः' कह कर स्वीकार किया है। उक्त चार वृत्तियों में अंतिम शब्द-गत मात्र है, अर्थ या कार्य से उसका संबंध नहीं है अतः यह शब्द-वृत्ति तथा अन्य तीन अर्थ-वृत्ति कहलाईं। कैशिकी शृंगार रस के अनुकूल है। इसमें पुरुष-स्त्री सभी पात्र के व्यापार आते हैं और गायन, वादन, नृत्य, प्रेम, हास, विलासादि संयुक्त होता है। इसके चार भेद होते हैं—नर्म, नर्म-स्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्म गर्भ। परिहास-युक्त क्रीड़ा प्रथम है, प्रथम सम्मिलन में प्रेम का पूर्ण प्रदर्शन पर भय से अंत द्वितीय है, नए प्रेम का अल्प शारीरिक चिह्नों से प्रत्यक्ष होना तृतीय है और प्रेम की बाढ़ में गुप्त व्यवहार करना चतुर्थ है।

सात्वती वीर-अद्भुत तथा रौद्र रस के अनुकूल होती है और करुण तथा शृंगार से भी कुछ अनुकूलता रखती है। इसके व्यापार में शोक को स्थान नहीं है, साहस, दया, त्याग, सत्यता तथा गुण को है। इसके चार भेद उत्थापक, सांघात्य, परिवर्तन तथा संलाप हैं। प्रथम में एक पात्र दूसरे को युद्ध के लिए ललकारता है, द्वितीय में दैवयोग या षड्यंत्र द्वारा शत्रु में भेद डाला जाता है, तृतीय में जिस कार्य के लिए पात्र आता है वह न कर दूसरा कार्य करता है और चौथे में गंभीर वार्तालाप किया जाता है।

आरभटी वृत्ति रौद्र, भयानक तथा वीभत्स के अनुकूल होती है और इसके व्यापार में जादू, संग्राम, क्रोध, उद्दंडता आदि अधिक रहता है। यह चार प्रकार की होती है—संक्षिप्ति, वस्तूत्थापन, संफेट तथा अवपात। प्रथम में कृत्रिम उपायों से बड़े कार्य को संक्षेप में तुरंत कर लिया जाता है पर अन्य मत यह भी है कि प्रधान पात्र का एकाएक वास्तविक परि-वर्तन या हृदयस्थ भाव का परिवर्तन भी संक्षिप्ति कहलाता है। मंत्र-बल से कुछ कार्य कर डालना द्वितीय है तथा क्रुद्ध व्यक्तियों का युद्ध करना तृतीय है। अवपात में उपद्रव, भय-युक्त आना जाना दिखलाया जाता है।

भारती वृत्ति में वाग्व्यापार मात्र होता है और वह संस्कृत भाषा ही में, प्राकृतों में नहीं, होता है। इस कारण केवल पुरुषों ही द्वारा यह प्रयुक्त होती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों के तथा अन्य मत से सभी रसों के यह वृत्ति अनुकूल है। इसके प्ररोचना, आमुख, वीथी तथा प्रहसन चार भेद होते हैं। प्रथम दो पूर्वरंग के अंत-

र्गत आ जाते हैं और अंतिम दो नाटक के भेद मात्र हैं, जिनका यथा-वसर दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए प्रयोग होता है।

भाषा के लिए संस्कृत आचार्यों ने बहुत से नियम बनाए हैं पर उन सबको देखने से यही स्पष्टतः निष्कर्ष निकलता है कि भाषा पात्रों के स्वभावानुकूल होनी चाहिए, जैसे एक विद्वान पात्र की भाषा एक निपढ़ पात्र की भाषा से भिन्न होनी चाहिए। यही नियम सार्थक भी है पर अब कुछ ऐसी भी प्रथा चली है कि संपूर्ण नाटक में एक सी भाषा हो। केवल पठन-पाठन में यह नियम-पालन चाहे न खटके पर अभिनय में यह अवश्य कर्णकटु हो जायगा। संस्कृत नाटकों में शुद्ध संस्कृत तथा अनेक प्रकार की प्राकृत आदि भाषाओं के रहने से पात्रों की श्रेणियों के अनुसार किस किस भाषा का प्रयोग कब कैसे किया जाय इसके लिए बहुत से नियम बन सके हैं पर हिंदी नाटकों के लिए वे सब नियम लागू नहीं हो सकते। इसमें केवल अधिक संस्कृत-मिश्रित, सरल, गभीर पात्र तथा अवसर के अनुसार भाषा में भेद किया जा सकता है। अन्य प्रांतीय पात्रों द्वारा उन्हीं की भाषा का प्रयोग भी प्रस्तावित हुआ था पर वह व्यर्थ है। भारतेन्दुजी ने प्रेम योगिनी में मराठी भाषा का इसी कारण कुछ प्रयोग किया था पर हिंदी-भाषी के लिए उतने ही मात्र के अनुवाद की आवश्यकता पड़ गई। भाषा समग्र नाटक की एक ही होनी चाहिए।

पूर्वरंग तथा प्रस्तावना

नाटक का अभिनय आरंभ करने के पहिले उसके कुशलपूर्वक सपा-दित हो जाने के लिए जो कुछ कृत्य किए जाने का शास्त्रीय विधान है, उसीको पूर्वरंग कहते हैं। नगाड़ा बजाकर अभिनय आरभ की सूचना देना, गायक-वादक का आना, गायन तथा वादन का होना क्रमश. प्रत्याहार, अवतारणा, आरंभ और आश्रवण कहलाते हैं। इसके अनंतर सूत्रधार मंगल कलश तथा इंद्र-ध्वज के साथ रगमंच पर फूल बिखेरता हुआ आता है और मार्जन कर स्तुतिपाठ करता हुआ इंद्र-ध्वज को अभिवादन करता है। यहाँ तक नांदी समाप्त हो जाती है। इसके बाद रंगद्वार-कृत्य आरंभ होता है। सूत्रधार या स्थापक आकर मंगल के श्लोक पढ़ता है और इंद्र-ध्वज का पुनः अभिवादन करता है। प्रस्तावना में पारिपार्श्वक, विदूषक या नट से बातचीत कर नाटक तथा नाटककार का परिचय देकर नाटक आरंभ कराता है।

पूर्वरंग के कृत्य विशेषतः अभिनेताओं के अपने अपने कुशल मंगल

के लिए ही होते है अतः नाटककारों ने प्राचीनकाल से उस ओर ध्यान नहीं दिया और उक्त कृत्य को अभिनेताओं को निज-रुचि-अनुसार करने की स्वतंत्रता दे दी। प्राचीनतम नाटककारों ने 'नांद्यंते सूत्रधारः' लिख करके अपना अपना नाटक आरंभ किया है। भरतमुनि ने इन सब का विस्तार-पूर्वक विवरण केवल इसलिए दिया है कि अभिनेतागण भी अपने कृत्य को समझ ले और यथानुसार करे। यही कारण है कि बाद के लक्षणकारों ने इसपर विशेष नही लिखा है।

नांदी या मंगल-पाठ के श्लोक नाटककार अपने नाटक की कुशल-पूर्वक समाप्ति के लिए देता है और इसकी संख्या आठ या बारह पदों या चरणो की होनी चाहिए। यह नियम भी सर्वत्र नहीं माना हुआ ज्ञात होता है। कहीं कहीं केवल एक पद अर्थात् चार चरण ही मिलते है। यह सब जो अब तक लिखा गया है, मुख्यत. धार्मिक-विचार से होता आया है पर अब धार्मिक-विचारों की कमी के साथ इन सब का भी अभाव बढ़ता जा रहा है।

प्रस्तावना पाँच प्रकार की है—कथोद्घात, प्रवर्तक, उद्घात्यक, प्रयोगातिशय तथा अवगलित। सूत्रधार के वचन के अर्थ या भाव को ग्रहण कर जहाँ पात्र का प्रवेश हो वह प्रथम और जहाँ उसके रहस्य की बात के आश्रय से पात्र-प्रवेश हो वह द्वितीय है। तृतीय में सूत्रधार की बात का दूसरी प्रकार से अर्थ लगाकर पात्र रंगमंच पर आता है। चौथे में स्पष्ट ही पात्र के आगमन का उल्लेख किया जाता है और पाँचवे में एक प्रयोग मे किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना द्वारा पात्र-प्रवेश की सूचना दी जाती है। प्रस्तावना का प्रयोग भी अब क्रमशः उठता जा रहा है। भारतेंदुजी के समय ही से प्रस्तावना की कमी होती जा रही है और अब तो कभी कभी नाटकों में इसके दर्शन मिलते है।

रंगशाला या प्रेक्षागृह

प्राचीनकाल ही से नाटकों के अभिनय होते आ रहे हैं और ये नाटक इसी कार्य के लिए लिखे जाते थे। यह दूसरी बात है कि ये नाटक पढ़ने में भी आनंद देते है और केवल इसी कारण उन्हें श्रव्य मान लिया जाय, दृश्य नहीं, अनर्गल कथन मात्र है। कितने प्राचीन नाटकों में अभिनय होने या किए जाने का उल्लेख है। छोटा नागपूर की रामगढ़ पहाड़ी में दो गुफाएँ मिली है, जिनमें विक्रमीय संवत् के दो शताब्दि पहिले का बना हुआ प्रेक्षागृह मिला है, जिसे किसी सुतनुका देवदासी ने

बनवाया था। दूसरी गुफा में अशोक के समय की लिपि का एक लेख भी मिला है। नाट्यशास्त्रमें गुफा रूप में प्रेक्षागृह के बनने का भी उल्लेख है। इसके अनुसार प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। प्रथम दो जनसाधारण के लिए तथा अंतिम ऐश्वर्यशालियों के निजी मनोरंजन के लिए बनते थे। साधारणत मध्यम ही काम में आता था, जो ६४ हाथ लंबा और ३२ हाथ चौड़ा होता था। एक हाथ डेढ़ फुट के बराबर होता है।

इन प्रेक्षागृहों के दो मुख्य भाग होते थे, एक अभिनय का स्थान अर्थात् रंगमंच तथा दूसरा प्रेक्षकों के बैठने का स्थान। रंगमंच के खंभे तथा दीवाल चित्रकारी आदि से सुसज्जित किए जाते थे और शब्द गूँजने के विचार से तथा आकाश, स्वर्ग आदि का दृश्य दिखलाने की सुविधा के विचार से दो खंड के होते थे। इसीमें देवता के पूजन का स्थान, नेपथ्य गृह आदि भी बनाए जाते थे। प्रेक्षकों अर्थात् दर्शकों के स्थान पहिले चार वर्ण के अनुसार चार भाग मे रहते थे और एक स्थान विदेशी आगंतुकों के लिए भी होता था। स्थान की कमी होने पर दूसरा खंड भी बन सकता था। नाट्यशास्त्र का यह विवरण इतना पूर्ण है कि आजकल के बने हुए अच्छे थियेटर गृहो के वर्णन सा मालूम होता है।

भिन्न भिन्न दृश्यों के दिखलाने के लिए पर्दों का भी प्रयोग होता था। किस रस के लिए किस रंग का पर्दा होना चाहिए, किस पर कैसा दृश्य बना हो, इसका विवरण दिया गया है। यवनिका को लेकर यूनानी प्रभाव ही तक नहीं प्रत्युत् यूनानी नाटको ही के आधार पर भारतीय नाटक-रचना की कल्पना की गई है। वास्तव मे यह ज्ञात होता है कि यह पर्दा यूनानी वस्त्र से बनता था और इस कारण यवनिका कहा जाने लगा। यह पट रंगमंच तथा नेपथ्य के बीच पड़ा रहता था।

सफल अभिनय के लिए अभिनेताओं का चुनाव, उनकी वेश-भूषा और अभिनय करने के ढंग आदि सभी आवश्यक हैं पर उन सबका विवरण या विवेचन इस ग्रंथ के लिये आवश्यक नहीं है।

द्वितीय प्रकरण

नाट्यकला की वर्तमान प्रगति

विषय-प्रवेश

हिंदी के नाटक साहित्य का आरंभ हुए एक शताब्दि से अधिक नहीं हुआ है और यद्यपि वे नाटक प्राचीन संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों के प्रायः अनुकूल ही हैं तथा उनके अनुसार ही बने हैं पर तब भी पाश्चात्य साहित्य का उन पर प्रभाव पड़ा है और वह प्रभाव सामयिक परिवर्तनों के साथ साथ बढ़ता ही जा रहा है। अंग्रेजी भाषा द्वारा पाश्चात्य विचार-धारा का भारत में प्रचार प्रायः दो शताब्दि हुए पहिले पहिल बंबई, मंदराज तथा बंगाल में क्रमश हुआ और उसी क्रम से उन प्रांतीय भाषाओ के साहित्यों पर उनका प्रभाव भी पड़ा। हिंदी पर यह प्रभाव आरंभ में बॅगला भाषा द्वारा ही आया, जैसा कि भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र के लिखने ही से स्पष्ट है कि 'अपनी संपत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहिन बंगभाषा के अक्षय रत्न-भांडागार की सहायता से हिंदी भापा बड़ी उन्नति करे।' इसके अनंतर जब यहाँ के निवासीगण स्वयं अंग्रेजी तथा यूरोपीय साहित्यों का मनन करने लगे और बहुत से साहित्य का हिंदी में अनुवाद भी प्रस्तुत हो गया तब स्वतः यहाॅ के साहित्यिक उनके द्वारा प्रभावान्वित हुए। उक्त प्रभाव के कारण जो नाटक तैयार हुए है और हो रहे हैं उनके भेद आदि पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए पर इसके पहिले यूरोप में नाटको के प्रचार के विषय में कुछ समझ लेना उचित होगा।

पाश्चात्य नाटक साहित्य

प्राचीन ग्रीस तथा रोम के नाटको का ऊपर उल्लेख हो चुका है। उनके अनंतर ईसाई-धर्म के प्रचार से साहित्य का यह अंग, जो धर्मविरुद्ध माना गया एक दम निर्जीव हो गया। शताब्दियों तक इसका नाम भी कहीं नही सुना जाता था। जब यह धर्म पूर्ण रूप से यूरोप में स्थापित हो गया तब धार्मिक आख्यानों, उपदेशों, प्रसिद्ध संतों की जीवनी आदि को लेकर कुछ खेल लिखे जाने लगे। क्रमशः इनमें कुछ परिहास का भी पुट दिया जाने लगा तथा पुनस्संस्कार काल (Renaisance Period) में ऐतिहासिक पुरुषों तथा जीवन-संबंधी बातों का भी योग होने लगा। सोलहवों शताब्दि ईसवी में इटली

में टैसो तथा ग्वारिनी ने प्राचीन शैली पर नाटक लिखे। इसके अनंतर फ्रांस में पीएर कॉर्नेली ने सत्रहवीं शताब्दि ईसवी के आरंभ में नाटक तैयार किए, जिसका प्रभाव फ्रांस ही नहीं वरन् कुल यूरोप पर बहुत दिनों तक रहा। इसीका प्राय. समकालीन मौलिएर था, जिसने अच्छे प्रहसन लिखे। फ्रांस में यह नाटक-परंपरा सुशृंखलित रूप में बराबर अबतक जारी है और उक्त दो नाटककारों के सिवा सुप्रसिद्ध लेखकों में रेसीन, वोल्टेअर बोमार्चे, विक्टर ह्यूगो, अलेक्ज़ैंडर डूमा, सारा बार्नार्ट रिसेपीन आदि हो गए हैं। यहीं से यह कला जर्मनी में गई थी पर अठारहवीं शताब्दि के मध्य में वहाँ के रंगमंच पर शेक्सपीअर के नाटक खेले गए, जिसके बाद ही जर्मनी के प्रसिद्ध नाटककारों गोथे तथा शिलर का प्रभाव बढ़ा। इस प्रकार फ्रांस के प्रभाव से मुक्त होकर जर्मनी में स्वतंत्र रूप से नाट्यकला का प्रसार होने लगा।

इंगलैंड मे वास्तविक नाटकों का आरंभ क्वीन एलिज़ाबेथ के समय मे हुआ, जिस काल में शेक्सपीअर ने अपने अमर नाटक लिखे। इसके समकालीन बेन जॉनसन, मार्लो, मासिजर, पील, ग्रीन आदि कई प्रसिद्ध नाटककार हुए और एक साथ ही बहुत बड़ा नाट्य-साहित्य तैयार हुआ पर इसकी विशेषता रक्तपात, भूत, डाइन भयावने कर्मों आदि के वर्णन में थी, जिससे तत्कालीन दर्शक-गण की उत्सुकता शांत होती थी। इन नाटकों के लिए नियम आप-ही-आप बन रहे थे और केवल पॉच अंक होना यही प्राचीन नियम माना जाता था। नाटकों के साथ उनके प्रदर्शन के लिए भी बहुत से नाटक घर खुले पर इनमें दृश्यों को दिखलाने के लिए पर्दे या विशेष सजावट आदि कुछ नहीं रहती थी। सादे रंग-मच पर एक पर्दे से सब कार्य ले लिया जाता था। उस समय तक लड़के ही स्त्री का कार्य करते थे।

शेक्सपीअर-काल के बाद कुछ दिन तक इंगलैंड में प्यूरीटन-प्रभुत्व के कारण नाटक लिखना तथा देखना एकदम बंद हो गया था पर शीघ्र ही उस प्रभाव का अंत हो गया। साथ ही फ्रांस के नाटकों का प्रभाव बढने लगा जैसा कि ड्राइडन, कॉनग्रीव, एथरेज आदि की रचनाओं से ज्ञात होता है। तत्कालीन राज-दरबार की ऐयाशी का पूरा असर भी इन लेखको तथा नाटक-गृहों पर था। इस पर सन् १६९७ ई० में एक पुस्तिका ही लिखी गई और सन् १७३७ ई० में सर रॉबर्ट वालपोल के प्रयत्न से ऐसे प्रदर्शन बहुत कम हो गए। अठारहवीं शताब्दि में सर रिचर्ड स्टील के भावुकतापूर्ण, डेविड गैरिक के ऐतिहासिकता लिए हुए

तथा ओलिवर गोल्डस्मिथ के सुखांत नाटक लिखे गए। उन्नीसवीं शताब्दि में शेरिडन नाउलस ने दुखांत तथा बुलवर लिटन और शेली ने पद्यमय नाटक लिखे। कॉलरिज भी इस समय का प्रसिद्ध नाटककार है। इसी काल में नाटक-गृहों में विशेष रंगमंचों की सजावट पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा तथा पर्दे आदि का विशेष प्रबंध होने लगा। इसी शताब्दि के उत्तरार्द्ध मे मेलो-ड्रामा (गेय नाटक) लिखे गए, जिनके लेखको में टॉम टेलर, बोकीकॉल्ट आदि प्रसिद्ध हैं। इसी समय बर्लेस्क (व्यंग्य भँडौआ) भी लिखे गए तथा अभिनय में स्वाभाविकता पर विशेष जोर दिया गया। सर हेनरी अर्विंग ने नाटक-गृहों की बदनामी तथा त्रुटियों को दूर करने में बहुत परिश्रम किया और अभिनेय तथा साहित्यिक नाटकों में सामंजस्य स्थापित किया। यह स्वयं भी अच्छे नाटककार थे।

सन् १८८१ ई० में सर ए० पिनरो का प्रथम नाटक प्रदर्शित हुआ और इसके साथ छोटे छोटे 'फार्स' भी दिखलाए गए। इसके अनंतर घटनापूर्ण तथा दृश्य-प्रधान नाटक अधिक लिखे गए और इब्सेन के नाटक प्रदर्शित हुए, जिनमे स्वाभाविकता पर अधिक दृष्टि रखी गई। इस पर पिनरो ने भी कई नाटक इस प्रकार के लिखे, जिनमें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की अच्छी आलोचना हुई है। इनके समकालीन मि० जोन्स थे जिन्होंने कई मेलो-ड्रामा लिखे। इनके सिवा ग्रंडी, चेम्बर्स, ओस्कार वाइल्ड आदि हुए, जिनमें अंतिम में व्यग्य तथा परिहास का अच्छा पुट है। एसमौंड में यथार्थवाद अधिक है और मार्शल ने उच्च समाज की दंभपूर्ण बातो को विनोद तथा भाव के साथ दिखलाया है। बीसवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध के बर्नार्ड शॉ सबसे प्रसिद्ध नाटककार है और इनके सिवा ग्रैनवील बार्कर, जॉन गैल्सवर्दी आदि है, जिन में अंतिम की रचनाओ में सभ्यता के कठिन प्रश्न लिए गए हैं। इस शताब्दि में कुछ उपन्यास भी नाटक के समान अभिनय मंच पर सफलता से दिखलाए गए।

इस प्रकार यूरोप की, विशेपकर इंगलैंड की नाट्य-रचना का अति संक्षेप में दिग्दर्शन कर लेने पर ज्ञात होता है कि प्रथम विश्व-विख्यात नाटककार शेक्सपीअर था, जिसने प्रायः तीन दर्जन नाटक लिखे हैं। इनमें शुद्ध ऐतिहासिक, प्राचीन दंतकथा पर आश्रित तथा सामाजिक नाटक ही प्रधान हैं। शुद्ध प्रेममय नाटक भी है। इन नाटकों में दुखांत तथा सुखांत भी हैं। दुखांत नाटको में एक वैचित्र्य है कि वे सभी आरंभ ही से किसी स्वभावज भ्रांति या निर्बल संकोच के कारण वैसे होनेवाले

ज्ञात होने लगते हैं तथा हो गए हैं और यदि तनिक भी समझदारी या दृढ़ता का प्रयोग किया जाता तो वे इस प्रकार के अंत को न पहुँचते। शेक्सपीअर ने दुखांत तथा सुखांत का मिश्रण भी अपने नाटकों में किया है और प्रहसन का इस प्रकार उपयोग किया है कि वे मूल घटना में मिल से गए हैं। इसने चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया है जिससे इसके पात्र सजीव हो उठे हैं और जीवन-संबंधी विषयों पर जो प्रकाश डाला गया है वही इसकी विशेषता है।

पाश्चात्य प्रभाव

भारतेंदु-काल ही में मर्चेंट ऑव वेनिस, मैकबेथ आदि कई नाटकों के अनुवाद तैयार हो चुके थे। इसके अनेक नाटकों की कहानियाँ भी लिखी जा चुकी थीं। उस समय के लिखे गए यहाँ के नाटकों पर भी कुछ प्रभाव, विशेषकर उनके बाह्यरूप पर, अवश्य पड़ने लगा था और उसका एक अन्य मुख्य कारण यूरोपीय ढंग के नाटक-घरों अर्थात् थिएटरों का प्रदर्शन था, जिनमें बाहरी नाटक ही दिखलाए जाते थे। इन नाटकों मे शेक्सपीअर के भी कई नाटक दिलफरोश आदि थे। भारतेंदु जी ने स्वयं कई नाटकों में प्रस्तावना हटा दी और अंकों के अंतर्गत कई गर्भांकों का समावेश भी किया। इतिहास या पौराणिक गाथा को छोड़कर देश, समाज आदि के सुधार तथा उन्नयन को दृष्टि मे रखते हुए कई नाटकों का कथावस्तु तैयार किया। भारतेंदु जी के बाद यह बाहरी प्रभाव विशेष स्पष्ट होने लगा। गर्भांक के स्थान पर दृश्य (सीन) लिखे जाने लगे और उसके बाद नवीनता की धुन में कुछ न लिखकर कभी कभी एक, दो, संख्या मात्र ही दे दी जाती है।

अंग्रेजी सभ्यता, समाज तथा संस्कृति का भारतीय जीवन तथा विचारधारा पर जो प्रभाव पड़ा है वह इतने ही से स्पष्ट हो जाता है कि कभी कभी आलोचना करते हुए कह दिया जाता है कि लेखक ने अंग्रेजी में सोचकर हिंदी में लिखा है। ऐसी अवस्था में पाश्चात्य साहित्य का हमारे साहित्य पर जो सीधा प्रभाव पड़ा है उससे किसी प्रकार कम प्रभाव हमारे पाश्चात्य सभ्यता आदि से प्रभावान्वित जीवन का उस पर नहीं पड़ा है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि वर्तमान प्रगतिशीलता की नाप संसार के साथ साथ चलने में है।

वर्तमान नाटकों में दृश्यों की अधिकता हो जाने से अब प्राचीन अर्थोपक्षेपकों की आवश्यकता नहीं रह गई है और बहुत से अंग प्रकरी, सफेट, त्रिगत आदि भी बेकार हो गए हैं। ये सभी बातें स्पष्ट रूप से अलग अलग दृश्यों मे दिखला दी जाती है पर दृश्यों को इसी अधिकता

से रंगमंच के लिए अधिक पर्दे आदि की भी आवश्यकता हो गई है।

वर्तमान नाटकों के भेद

रूपकों के प्राचीन भेद, उनकी रूपरेखा, परिमाण आदि पर विशेषतः अवलंबित हैं पर वर्तमान काल में उन भेदोपभेदों पर विशेष आस्था नहीं रह गई है। पूर्व काल में भी उन पर या उनमें से अनेक भेदों पर वैसी आस्था नहीं पाई जाती क्योंकि उनके नियमों के अनुसार लिखी रचनाएँ उदाहरण रूप में भी नहीं मिलतीं। वर्तमान काल के नाटकों के भेद विषय के अनुसार प्रधानतः दो हैं—ऐतिहासिक तथा सामाजिक। ऐतिहासिक नाटकों के अंतर्गत पौराणिक नाटक भी पहिले लिए जाते थे पर अब पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पुराणों की सभी बाते प्रामाणिक इतिहास नहीं माने जाने के कारण वे शुद्ध ऐतिहासिक नहीं समझे जाते। प्रामाणिक इतिहास की घटनाओं के आधार पर जो नाटक तैयार किए जाते हैं, वे ही अब ऐतिहासिक माने जाते हैं। कुछ नाटक ऐसे भी होते हैं जिनमें इतिहास के प्रसिद्ध पुरुष या स्त्री को पात्र रूप में तो ले लेते हैं पर आख्यानक अधिकतर कल्पित ही रच लेते हैं। इस कारण ऐतिहासिक नाटक भी दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध ऐतिहासिक तथा (नाममात्र के) ऐतिहासिक। राजनैतिक इतिहास लेकर लिखे गए नाटक भी इसी के अंतर्गत आ जाएँगे।

संस्कृत नाटकों में *मुद्राराक्षस* शुद्ध ऐतिहासिक है। पौराणिक नाटक अनेक मिलते हैं और कुछ नाटक वैसे भी हैं, जिनमें कल्पना के साथ ऐतिहासिक इतिवृत्त भी मिला हुआ है। हिंदी में भारतेंदु-काल में पौराणिक गाथा लेकर कई नाटक लिखे गए हैं और भारतेंदु कृत नीलदेवी तथा बा० राधाकृष्णदास कृत राणा प्रताप शुद्ध ऐतिहासिक हैं। ये सभी प्राचीन रीति लिए हुए हैं पर उन पर भी नवीनता की छाप है। बाद में बाबू जयशंकर प्रसाद ने तो ऐतिहासिक नाटकों के लिखने का ढर्रा ही चला दिया, जिनमें नवीनता भरने का पूरा प्रयास है। पहिले के नाटकों में प्राचीन शैली के अनुसार रस पर विशेष ध्यान दिया गया है और बाद के नाटकों में पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा घटना-वैचित्र्य पर अधिक जोर है।

सामाजिक नाटकों का क्षेत्र अधिक विस्तृत है और इसके अंतर्गत समाज के सभी विभागों के सुधार, देश-प्रेम, मानव-जीवन की समस्या, राष्ट्र के उन्नयन आदि सभी आ जाते हैं और इनमें से एक एक को लेकर

भेदोपभेद बनाना व्यर्थ है। समाज-सुधार का विषय देश की कुरीतियों को दूर करना है, जैसे बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, युवती विधवा का विवाह न करना आदि। मानव-जीवन की समस्या का विषय मुख्यतः प्रेम है, जिसमें स्त्री तथा पुरुष दोनों के हृदयों की गुत्थियाँ खुलती हैं। देश-प्रेम तथा राष्ट्र का उन्नयन का विषय उस देश की प्राचीन तथा वर्तमान परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते भविष्य के लिए उचित मार्ग प्रदर्शन है।

ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों के सिवा एक प्रकार के और नाटक होते हैं जिनमें भावनाओं या प्रकृति के अंग प्रत्यंग को पात्र का मूर्त रूप दिया जाता है। इसे अंग्रेजी में 'ऐलीगोरिकल' नाटक कहते हैं। संस्कृत का प्रबोध चंद्रोदय नाटक इसी प्रकार का है। भारतेंदु जी का 'भारत दुर्दशा' ऐसा ही नाटक है। इधर जयशंकर प्रसाद जी ने कामना तथा एक घूँट लिखा है।

नाटक मुख्यतः दृश्य काव्य ही है पर अभिनय की दृष्टि से वह अभिनेय या अनभिनेय होता है। कुछ ऐसे भी होते हैं जो काट-छाँट कर अभिनय के उपयुक्त बना लिए जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो केवल पाठ्य मात्र होते हैं और जिन्हें किसी प्रकार अभिनय के उपयुक्त नहीं बनाया जा सकता। अभिनेय नाटक मनोरंजक, आकर्षक, हृदयग्राही होते हुए दर्शकों की उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ानेवाले होने चाहिएँ और तभी वह मंच पर सफल हो सकते हैं। सफल नाटक वही हो सकता है, जिसमें अभिनेयता तथा साहित्यिकता का सामंजस्य हो।

परिहास

विनोद, हास, परिहास आदि भी मानव-जीवन के लिए बहुत आवश्यक हैं और यही कारण है कि साहित्य में भी इसका पुट बराबर मिलता आया है। संस्कृत में कई प्रहसन लिखे गए हैं और भारतेंदु जी ने भी अंधेरनगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति आदि छोटे छोटे सार्थक प्रहसन लिखे है। इधर भी हिंदी में कई प्रसहन लिखे गए हैं। नाटकों मे भी परिहास रखने का प्रयास किया जाता है। संस्कृत नाटकों में विदूषकों का समावेश करके उन्हीं के द्वारा कुछ न कुछ हँसी मजाक करा दिया गया है। पर ये पात्र भी एक दम व्यर्थ नहीं रहते और कहीं कहीं बड़े अवसर पर कार्य संपन्न करते पाए जाते हैं। हिंदी नाटकों में भी ऐसे विदूषकों की योजना की गई है और कहीं कहीं बड़ी सफलता के साथ।

जिस प्रकार उपन्यास विभाग मे गल्पों की वर्तमान काल में अधिकता हो रही है, उसी प्रकार नाटक विभाग मे एकांकी नाटकों की धूम

है। प्राचीन रूपकों के भेदों में भी एकांकी नाटक हैं पर इस समय ये पाश्चात्य साहित्य की अनुकृति ही होकर हिंदी में आ रहे हैं। भारतेंदु जी ने भी छोटे छोटे कई नाटक लिखे हैं और उसी समय से यह क्रम चल रहा है पर अब ये प्राचीन शैली छोड़कर नवीनतम रूप में आ रहे हैं और सभी नवीनता पश्चिम ही से आ सकती है, ऐसा समझ लिया गया है। जो एकांकी आज कल लिखे जा रहे हैं, वे संवादों के रूप में लिखे गए गल्प ज्ञात होते हैं जिन्हें मंच के नियमानुसार निर्देशों से सुसज्जित कर दिया गया है पर तब भी कुछ एकांकी नाटक अच्छे लिखे गए हैं। ये वास्तव में किसी छोटी घटना को लेकर जीवन की किसी एक झाँकी को प्रदर्शित करने के लिए उन्हीं के अनुकूल सरल छोटे कथावस्तु तथा कम पात्रों को लेकर लिखे जाते हैं।

एकांकी

बीसवीं शताब्दि ईसवी के आरंभ में जब चलचित्रों का क्रमशः प्रसार हुआ तब वे मनोरंजन के एक साधन बन गए। परंतु वे चित्र और सब बातों में विशेष सफल होते भी गूँगे बहरे के खेल से मालूम होते थे। अतः अस्वाभाविक से लगने के कारण वे विशेष सफल न हो सके और उनसे नाटक-प्रदर्शन को विशेष क्षति न पहुँच सकी; परंतु जब वे चलचित्र सवाक् भी हो उठे तब उनकी सफलता बहुत बढ़ गई। इसका मुख्य कारण अर्थ-व्यय भी है। एक सवाक् पट में लाख दो लाख रुपए तक व्यय कर बड़ी निश्चिंती से पूर्ण वैभव के साथ चित्र तैयार कर लिए जाते हैं और उसी एक व्यय में अनेक नगरों में एक साथ तथा सहस्रों बार वे प्रदर्शित किए जाते हैं अतः एक एक प्रदर्शन में बहुत कम खर्च पड़ता है और आय अधिक होती है। नाटक के लिए प्रत्येक प्रदर्शन में वही व्यय बार बार उठाना पड़ता है और वह बहुत खर्चीला पड़ जाता है। एक बात और है। स्त्री हो या पुरुष सशरीर मंच पर उतनी बेहयाई या अश्लीलता प्रदर्शन जन-समाज के सामने नहीं कर सकता, जितना कि कुछ हमपेशों तथा यंत्रों के सामने कमरों के भीतर कर सकता है। उसके अनंतर वे चित्र संसार भर को दिखलाए जायँ तो उन्हें उसकी पर्वाह नहीं होती। सवाक् पटों के विशेष आकर्षक होने का यह भी एक कारण है और जनता इसे पसंद करती है; यह नित्य अनुभूत है। यही कारण है कि ये सवाक् पट शुद्ध मनोरंजन करते हैं, रस का संचार कम। परंतु जब शुद्ध साहित्यिक नाटक या आख्यान प्रदर्शित होते हैं तब मनोरंजन के साथ रस-संचार भी कम नहीं होता।

सवाक् पट

नाटक तथा काव्य

पहिले साहित्य के तीन भेद गद्य, पद्य तथा मिश्र किए जाते थे और तब काव्य के दो भेद दृश्य तथा श्रव्य किये जाते थे। दृश्य मे केवल नाटक लिए जाते थे। श्रव्य या पाठ्य में काव्य-ग्रंथ, गद्य-ग्रंथ, उपन्यास आदि सभी आ जाते थे। पर वर्तमान काल में देखा जाता है कि उक्त भेदों के रहते भी सवाक् पटों के कारण उन भेदों के क्षेत्र विस्तृत हो गए है। एक ओर उपन्यास तथा कभी कभी ऐतिहासिक या भ्रमण वृत्तांत भी सवाक् पटों पर दिखलाए जाने लगे हैं और उनके उपयुक्त ग्रंथ भी तैयार होने लगे हैं अतः अब केवल नाटक ही दृश्य नहीं रह गए। दूसरी ओर सवाक् पटों के कारण नाटको का प्रदर्शन कम हो चला है, जिससे अब नाटक भी दो प्रकार के लिखे जाने लगे। इनमे कुछ दृश्य तथा कुछ केवल श्रव्य या पाठ्य होते हैं। नाटकों मे अनेक दृश्यों के होने से पट परिवर्तन अधिक करना पड़ता है, जिससे वे चलचित्रों में सफलतापूर्वक दिखलाए नहीं जा सकते, पर वैसे उपाख्यान या उपन्यास, जिनमें घटनाचक्र धारावाही चलता रहता है विशेष सफलता से दिखलाए जा सकते हैं अत. वे ही उपयुक्त समझे जाते है। इसीलिए अब ऐसे नाटक भी जो प्राचीन नाट्यकला के नियमों से प्राय' मुक्त होते है, लिखे जाते है, जिनमें कथावस्तु इस प्रकार संगठित किया जाता है कि बीच बीच में शृखला-विच्छेद न हो पाए।

प्रबंध-काव्य या आख्यानक काव्य यदि घटना-प्रधान हो और वह घटना इस प्रकार सुशृंखलित या सुगठित हो कि उसे दृश्य नाटक या उपन्यास की तरह पर्दे पर दिखलाया जा सके तो कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ दिनों में वे भी सवाक् पटों पर दिखलाये जाने लगें। परंतु देखा जाता है कि वास्तव मे ऐसे कोई महाकाव्य अभी तक प्रदर्शित नही हुए हैं। संस्कृत में प्राय जितने महाकाव्य प्राप्त हैं वे प्राचीन नियमानुकूल है और इनमें वर्णित विषय या तो किसी विशिष्ट घटना पर आश्रित हैं या किसी राजवंश के विवरण को लेकर चले हैं। ऐसे महाकाव्यों में वे सब उपकरण नहीं है, जिससे वे सफलतापूर्वक मंच या पट पर प्रदर्शित किए जा सके क्योंकि वे मूलत. इस कार्य के लिए प्रस्तुत ही नहीं किए गए हैं। यदि उनके कथावस्तु को लेकर तथा परिवर्तन और परिवर्द्धन कर उन्हें मंच या पट के उपयुक्त बना लिया जाय तो वे महाकाव्य ही न रह जायँगे।

यद्यपि नाटक प्राचीन काल में काव्य के अंतर्गत कविता के आधिक्य

तथा काव्यमय अभिव्यंजना के कारण माना जाता था पर अब जो नाटक लिखे जाते हैं, उनमें कविता के अभाव के साथ साथ अभिव्यंजना भी वैसी काव्यमय नहीं होती। इसलिए आधुनिक नाटकों को काव्य के अंतर्गत मानना अधिक समीचीन नहीं है। ऐसी अवस्था में महाकाव्य तथा नाटक अपनी रूपरेखा, अभिव्यंजना शैली आदि से इतने विभिन्न होते हैं कि उनमें समता या असमता की तुलना करना ही अनावश्यक है। यह दूसरी बात है कि दोनों के विषय कभी कभी एक हों, दोनों ही में मानव-जीवन संबंधी व्याख्या हो पर इनके एक होने से भी उन दोनों में जो निजी विशेपताएँ या विभिन्नताएँ हैं वे स्वतः इतनी स्पष्ट हैं कि वे अतुलनीय है।

नाटक तथा उपन्यास

साहित्य में वास्तव में नाटक तथा उपन्यास अत्यधिक निकट हैं और वर्तमान युग में वे और भी समीप होते जाते हैं। नाटकों में अंक, दृश्य आदि तथा अन्य अनेक उपकरण घटते जाते हैं और स्थान, वेश-भूषा आदि का विवरण बढ़ता जाता है। उपन्यासों में वार्तालाप की प्रमुखता बढ़ती जा रही है। दोनों ही घटना-प्रधान होते है और इस कारण कथावस्तु का संगठन प्रायः एक सा होता है। इस प्रकार दोनों मे बहुत कुछ समता है पर तब भी दोनों की असमता उसी प्रकार स्पष्ट भी है।

नाटक के तीन मूल तत्व रस, कथावस्तु तथा पात्रगण हैं और प्रायः यही उपन्यास के भी हैं; पर एक के निर्माता की परिस्थितियाँ दूसरे के निर्माता की परिस्थितियों से विभिन्न हैं। नाटककार अनेक प्रकार के नियमों से बँधा हुआ है, अपने विचार तथा अनुभूतियों को स्वयं प्रकट न कर पात्रों ही के द्वारा कहला सकता है, रंगमंच की सुविधा का ध्यान रखता है, वार्तालाप भी इच्छानुसार विस्तृत और गूढ़ नहीं दे सकता और भाषा भी पात्रों की स्थिति के अनुकूल तथा दर्शकों के लिए (जन-साधारण, विद्वान्, सभी) सुबोध रख सकता है परंतु उपन्यासकार इन सबसे स्वतंत्र है और इच्छानुसार अपनी बातें भी कहता है। इस कारण उपन्यास छोटे या विशद सभी हो सकते हैं, उनमें पात्रों की अधिकता या कमी हो सकती है, उनमें व्यापकत्व इच्छा के अनुसार बढ़ाया या घटाया जा सकता है तथा वर्णन की प्रचुरता से उनमें जो सजीवता और यथार्थता आ जाती है उससे वे स्वतः अपने ही में पूर्ण होने से पठन मात्र से पाठकों को आकर्षित कर लेते हैं। नाटकों में पूर्णतया आकर्षक होने के लिए अन्य उपकरण की अर्थात् रंगमंच की आवश्यकता होती है और

इनमें जो कमी रहती है वह प्रत्यक्ष देखने से पूरी हो जाती है। ऐसी अवस्था में जब उपन्यास चलचित्र के रूप में प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं तो वे अधिक आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक हो उठते हैं।

नाटक में उपन्यास से कुछ अधिक कवित्व रहना आवश्यक है क्योंकि मूलतः नाटक काव्य ही का एक भेद है और उपन्यास गद्य का एक अंग है। यह अवश्य देखा जाता है कि जब कवि कुछ भी लिखने बैठेगा तो उसमें उसकी कवित्व-शक्ति स्वतः प्रस्फुटित होती चलेगी पर गौण रूप में। परंतु जब कवि कविता लिखने बैठेगा तब वह शक्ति अपने पूर्ण उत्साह से उस कार्य में लग जायगी। नाटकों के बीच बीच में संगीत की भी योजना करनी पड़ती है पर उपन्यासों में ऐसा नहीं होता। अपवाद रूप में कभी कभी जिस प्रकार नाटकों में संगीत नहीं दिया जाता उसी प्रकार कभी कभी उपन्यासों में दिया भी जाता है। चलचित्रों में दिखलाते समय तो दोनों ही में गाने रख दिए जाते हैं चाहे मूल पुस्तकों में एक भी न हों।

वर्तमान काल के दृश्यों के आरंभ में स्थान, पात्र तथा उनके वेशभूषा आदि के विवरण का विस्तार क्रमशः बढ़ता जा रहा है, यहाँ तक कि दो दो चार चार पृष्ठ तक रंग दिए जाते हैं। कभी कभी पात्रों के विचार आदि का भी उल्लेख कर दिया जाता है। यदि कथावस्तु भी साधारणतः घटना-प्रधान हो और काव्यत्व की कमी हो तो वह नाटक उस उपन्यास-सा ज्ञात होने लगता है जिसके प्रत्येक परिच्छेद के वार्तालाप अलग रख दिए गए हैं और उनमें के वर्णन संक्षेप में आरंभ में लिख दिए गए हैं। तात्पर्य यह कि नाटक तथा उपन्यास के भेद क्रमशः मिट से रहे हैं।

तृतीय प्रकरण

काल-विभाग

साहित्य स्वदेश की जनता की परिस्थिति के अनुकूल, समय के अनुसार, चित्तवृत्तियों का समुदाय रूप में प्रतिबिंब ही होता है और परिस्थितियों के परिवर्तन से चित्तवृत्तियों के परिवर्तित हो जाने पर साहित्य पर भी उसका तुरंत प्रभाव पड़ जाता है। इस कारण साहित्य के इतिहास-लेखकों का उसके आदि से अंत तक की इन चित्तवृत्तियों पर दृष्टि रखते हुए तथा साहित्य से उनका सामंजस्य दिखलाते हुए ही इतिहास लिखना प्रधान ध्येय होना चाहिए और ऐसा न करने से इतिहास सार्थक नहीं हो सकता। ये परिस्थितियाँ राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक ही प्रधानतः होती हैं और अन्य परिस्थितियाँ भी प्रायः इन्ही में से किसी के अंतर्गत आ जाती हैं। इन्ही कारणों से ऐसा भी होता है कि साहित्य के कितने अंग किसी काल-विशेष में विशेष परिपुष्ट हो जाते हैं और किसी काल में उनकी ओर साहित्यकारों का ध्यान भी नहीं जाता। हिंदी-साहित्य ही में उसके इतिहास के काल-विभाग ही इसके परिचायक हैं। आदि-मध्य आदि को वीर गाथा, भक्ति, रीति आदि काल कहना परिस्थिति के अनुसार जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तनों ही की सूचना देता है। इसी चित्त-वृत्ति के कारण साहित्य का गद्य भाग आधुनिक काल के पहिले नाम-मात्र को मिलता है और वह भी केवल एक विषय धर्म को लेकर ही बना है। साहित्य की रचना का आधिक्य राष्ट्र के शांतिमय वातावरण की सूचना उसी प्रकार देता है, जिस प्रकार उसकी कमी अशांति की ओर इंगित करती है। इसीलिए जब अशांतिमय भारत का एकाएक इंगलैंड के आंतरिक शांतिमय वातावरण में प्रवर्द्धित साहित्य से परिचय हुआ तब उसकी अपने साहित्य के अनेक अंगों की कमी तथा अभाव की ओर दृष्टि गई और उसने अंग्रेजी साहित्य के उन पुष्ट अंगों को देखकर अपनी कमी को पूरा करने का प्रयास आरंभ किया।

विषय प्रवेश

हिंदी-साहित्य का इतिहास प्रायः एक सहस्र वर्ष से पहिले से आरंभ

होता है और उसका आदि काल, जो प्रायः चौदहवीं शताब्दि के मध्य तक आता है, वीर-गाथा-काल भी कहलाता है। इस काल की बहुत कम रचना प्राप्त है और समय द्वारा नष्ट होने के सिवा भी इस कमी के दो स्पष्ट कारण हैं। सम्राट् हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर अनेक छोटे छोटे राज्य उत्तरापथ में स्थापित हो चुके थे और उनमें आपस के विद्वेष तथा फूट से निरंतर युद्ध चलता रहा था। इसी बीच में मुसलमान आक्रमणकारी भी यहाँ आ पहुँचे और खूब विप्लव मचा, जिससे उक्त अशांत-काल में साहित्य-रचना की ओर कम रुचि हो सकी। अपने अपने वीर नरेशों की वीर-गाथाएँ उनके आश्रित चारणगण लिख गए हैं, जो बहुत कुछ कमी-बेशी के साथ अब प्राप्त है। दूसरा कारण यह भी था कि विद्वान साहित्यिक संस्कृत ही की ओर झुके हुए थे और उनकी हिंदी की ओर उतनी ममता भी न थी। यही कारण है कि उस काल में संस्कृत-प्राकृत में भी जितना कुछ साहित्य बन सका था उतना भी हिंदी में नही बन सका।

इनके अनंतर मुसलमानों का भारत में पैर जम गया और एक छोटा-मोटा साम्राज्य तथा कई छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित हो गए। इन सब-को उलट-पुलट कर प्रबल मुगल-साम्राज्य स्थापित हुआ, जो प्राय. हिंदी-साहित्य के मध्य-काल के साथ साथ समाप्त हुआ। इस काल के पूर्व-भाग में भारत का प्रबल आक्रमणकारियों से घरेलू द्वेष, फूट के कारण अपनी रक्षा न कर सकने पर और स्वतंत्रता के अपहृत होने की स्मृति बनी रहने से तथा सर्व आशामय ईश्वर की कृपादृष्टि की ओर आशा लगाए रहने से भक्तिपूर्ण रचनाएँ बहुत हुई और खूब हुई। उत्तर भाग में मुगल-साम्राज्य के अतर्गत कुछ शांति स्थापित होने, दासता की आदत पड़ जाने तथा उसी कारण विलास और मनोरंजन-प्रिय होने से, कविगण या साहित्यकारो ने अपने अपने आश्रय-दाताओं के आनंद-विलास और मनोरंजन के लिए रीति-ग्रंथों की आड़ में खूब सामग्री जुटाई। कभी कभी किसी हिंदू वीर नरेश के स्वतंत्रता के लिए प्रयास कर बैठने पर कुछ उद्दंड कविता भी इस काल में दिखलाई पड़ जाती है पर वह नाम मात्र को है। कविता के सिवा इस काल में कुछ गद्य-ग्रंथ भी लिखे गए हैं, पर वह अधिकतर टीका हैं या धर्मकथा मात्र हैं। किसी भी गंभीर या गहन विषय पर एक भी रचना नहीं मिलती, क्योंकि उसके लिए न परिस्थितियाँ ही अनुकूल थी और न जनता ही की उस ओर रुचि बढ़ सकी। वे तो अनेक प्रकार के दल बाँधे हुए मनुष्य-रूपी हिंसक जंतुओं

से अपनी रक्षा ही में व्यग्र थे। यही दशा प्राय: भारत की सभी भाषाओं की समझनी चाहिए।

यूरोपीय जातियों का भारत में आना-जाना अकबर के समय ही से आरंभ हो गया था और ये दक्षिणापथ के दोनों समुद्री तटों पर क्रमशः स्थान प्राप्त कर बसने लगे थे। इन्हीं में अंग्रेज भी थे, जिन्होंने अन्य सब जातियों को निकालकर अपना प्रभुत्व भारत में जमा लिया। सं० १८१४ वि० में प्लासी युद्ध मे बंगाल के मुसलमान शासक को परास्त कर तथा आठ वर्ष बाद मुगल-सम्राट् से बंगाल की दीवानी प्राप्त कर अंग्रेजों ने उक्त प्रांत पर अधिकार जमा लिया और क्रमशः एक शताब्दि के भीतर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हो गया। इस प्रकार यूरोपीय विचारधारा का भारतीय विचारधारा में संमिश्रण होना पहिले पहिल बंबई तथा मंदराज में आरंभ हुआ और बंगाल होते हुए वहाँ से प्राय: एक शताब्दि बाद बिहार लाँघकर संयुक्त प्रदेश में आ पहुँचा। यही कारण है कि बंगला पर यूरोपीय प्रभाव के प्राय: व्याप्त हो जाने पर वह हिंदी तक पहिले उसी के द्वारा पहुँचा था।

जनता से गौरांग शासकों के विचार-विनिमय के लिए एक माध्यम की आवश्यकता पड़ी, जो हिंदी-भाषी प्रांत में हिंदी या अंग्रेजी में से एक हो सकती थी। आज भी जहाँ चार-पाँच सैकड़े से अधिक साक्षर जनता नहीं है, उसके लिए उस समय अंग्रेजी माध्यम असंभव था अत: अंग्रेजों को स्वार्थ की दृष्टि से ही सही हिंदी सीखना आवश्यक हो गया। अवश्य ही इन् लोगों ने एक नई भाषा का द्वंद्व और नहीं बढ़ाया। हिंदी में शिक्षा के पाठ्यक्रम के लिए गद्य ग्रंथों का अभाव था इस कारण इसकी रचना की ओर भी इन लोगों ने प्रयास किया। कलकत्ते के फोर्ट विलिअम कॉलेज की तत्वावधानता में बहुत से हिंदी-उर्दू ग्रंथ लिखाये गए। इसी समय कुछ गद्य ग्रंथ अन्यत्र भी लिखे गए पर हिंदी में यह सिलसिला आगे नहीं चला, क्योंकि अंग्रेजों का यह स्वतंत्र प्रयास था और हिंदी पर यूरोपीय विचारधारा का प्रभाव इसके बहुत दिनों बाद पड़ा था। उसी प्रभाव के कारण विक्रमीय बीसवीं शताब्दि के आरंभ के साथ हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद का पदार्पण हुआ, जिनमें प्रथम ने अपनी मातृभाषा का शुद्ध रूप और द्वितीय ने बाद को उसका विकृत रूप ही अपनाया। दासता की शृंखला में जकड़े हुए हिंदू परमुखापेक्षी हो उठे हैं और यही कारण है कि अपनी शुद्ध से शुद्ध वस्तु को दूसरे को प्रसन्न करने के लिए त्यागने, गँदला करने या

रूपांतरित करने को सदा तैयार रहते हैं। उनमें दृढ़ता का अभाव आ गया है और वह अभी, 'नहीं कहा जा सकता कि कब तक, बना रहेगा। उक्त दोनों महानुभावों के कुछ बाद ही भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने उदय होकर उन प्रस्तावित भाषा के दो रूपों में से एक को दृढ़ता के साथ अपनाया और स्वयं तथा अनेक मित्रों को उत्साहित कर अच्छा खासा साहित्य तैयार कर उसे हर तरह से पुष्ट कर दिया। यही कारण है कि वह आधुनिक हिंदी के जन्मदाता कहलाने लगे।

भारतेंदु जी के समय तक पद्य-भाग का ही जोर था और उसमें भी वही रीतिकाल की शृंगारिक कविता ही का प्राचुर्य था। जनता मे नए प्रभाव के कारण जो रुचि-परिवर्तन हो गया था, उसके अनुकूल कविता का अभाव था और साथ ही अनेक विषयों पर गद्य-ग्रंथों का भी अभाव सभी को खटक रहा था। साहित्यधारा एक ओर और जनता की विचार-धारा दूसरी ओर जा रही थी। राजनैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, नाटक-उपन्यासादि अनेक विषय-सबंधिनी रचनाओं की आवश्यकता सभी समझ रहे थे और बंगभाषा मे ऐसी रचनाओं का अत्यधिक आदर इसका समर्थन कर रहा था। इन परिस्थितियों को समझकर भारतेंदु जी ने 'साहित्य को मोड़कर हमारे जीवन के साथ लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर कर दिया।'

नाटक प्रधानत गद्य-ग्रंथ है और यह दिखलाया जा चुका है कि गद्य-ग्रंथों की सुशृंखलित रूप में रचना का आरंभ हुए अभी पूरी एक शताब्दि भी नहीं बीती है तब नाटक-साहित्य को इससे अधिक प्राचीन-काल में खोजना व्यर्थ है। इतने पर भी खोज से जो नाटक नामधारी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और जिनका संक्षिप्त विवरण भी आगे दिया गया है, उन्हें देखने ही से इसकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। सस्कृत के नाटक-साहित्य की शृखला भी पूर्वोक्त अशांतिमय-काल मे प्रायः टूट सी गई और उसमे भी पहिले के समय के नाटकों से एक भी नाटक नही बन सके।

नाटकों की कमी का एक कारण अभिनयशालाओं का भी अभाव है पर वह राष्ट्र की शांति तथा अशांति ही पर निर्भर रहता है। प्राचीन-काल के प्रेक्षागृह नष्ट हो चुके थे और नए चाल के नए प्रेक्षागृहों अर्थात् थिएटर-घरों के बनने का समय बहुत प्राचीन नहीं है। बंबई के थिएटर-घरों के खुलने के बहुत पहिले, कहा जाता है कि प्लासी युद्ध के भी पहिले, कलकत्ते मे एक थिएटर बन चुका था। एक दूसरा सन् १७९५ ई० में

खुला, जिसका विज्ञापन था कि गवर्नर-जेनरल की सम्मति से मि० लेफेड-फेर थियेटर बंगला चाल पर सजाया जायगा। जल्द ही यहाँ 'डिसगाइज'नाम का एक नाटक होगा, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही अभिनय करेंगे। अन्य थिएटरों के सिवा सन् १८१२ में एथीनियम और इसके दूसरे वर्ष चौरंगी थिएटर खुले। इनके कारण बंगला भाषा में नाटक लिखने का प्रचार हिंदी से बहुत पहिले हो गया और जब भारतेंदु जी कलकत्ते गए तब बंगला साहित्य के परिचय से बहुत कुछ अनुभव उठाकर यह लौटे और उससे हिंदी-साहित्य की रचना में बहुत कुछ लाभ उठाया।

हिंदी को उर्दू-साहित्य से इस विषय में कुछ भी लाभ न पहुँच सका, क्योंकि उसका प्रथम नाटक, यदि यह शब्द उसके उपयुक्त कुछ देर के लिए मान भी लिया जाय तो, इंदर-सभा है, जिसे वाजिद्अली शाह के विनोद के लिए अमानत ने लिखा था। इसकी साहित्यिकों में क्या कदर थी, इसका इसीसे पता चल जाता है कि भारतेंदु जी ने इसीके वजन पर बंदर-सभा लिख डाला था। उर्दू को फारसी से नाट्य-संपत्ति मिल ही न सकी, क्योंकि वह कला इस्लाम धर्म के विरुद्ध थी। इंदर-सभा के बाद पारसी कंपनियों के खुलने पर उर्दू में बहुत से थिएट्रिकल लिखे गए और हिंदी के बहिष्करण के नाते नाटक, अंक, दृश्य आदि के बदले डरामा एकट, सीन आदि शब्द प्रयुक्त किए जाने लगे। ते तमाशे थे और इनसे साहित्यिक नाटकों को कुछ भी प्रोत्साहन न मिल सका।

इस प्रकार हर एक दृष्टि से विचार कर लेने पर यही निश्चय होता है कि हिंदी के नाटक-साहित्य के, प्रत्युत् इसी के समान पत्र-पत्रिकादि यावत् गद्य-भाग के, स्वतंत्र इतिहास का तीन ही काल-विभाग किया जा सकता है और वे पूर्व-भारतेंदु-काल, भारतेंदु-काल और वर्तमान-काल ही हो सकते हैं। इनका समय इस प्रकार रखा गया है—

पूर्व - भारतेंदु - काल—?—१६०० वि०
भारतेंदु-काल—१९०१—१९५० वि०
वर्तमान-काल—१९५०—? वि०

चतुर्थ प्रकरण

पूर्व भारतेंदु-काल

हिंदी-साहित्य का आदिकाल या वीर गाथाकाल व्यतीत हो चुका था और पूर्व मध्य या भक्ति-काल चल रहा था, जब कि कुछ कवियो ने अपने काव्यो में कथोपकथन का कुछ रूप आ जाने के कारण उनका नाटक नामकरण कर दिया। ऐसा सबसे प्रथम सं० १६७० के आसपास की एक रचना के साथ किया गया था। ऐसी रचनाएँ भी इनी गिनी मिलती है और वे प्राचीन काव्य-भाषा ही मे प्राप्त हैं। उन्नीसवी शताब्दि विक्रमीय के अंत की कुछ रचनाएँ अवश्य ऐसी प्राप्त हैं, जिन्हें केवल नाम मात्र का नाटक नहीं कह सकते। वे काव्यमय अवश्य है पर उनमे नाटक के मुख्य तत्व भी कुछ अंशों मे वर्तमान हैं और नाटकों की रूप-रेखा भी। अब समय-क्रम से ऐसी रचनाओं तथा रचेताओं का विवरण दिया जाता है।

विषय प्रवेश

जैन कवि बनारसीदास का जन्म सं० १६४३ मे आगरे मे हुआ था। स० १६६३ में इन्होंने नाटक समयसार लिखा, जो कुंदकुदाचार्य के ग्रंथ का भाषांतर है। यह एक प्रसिद्ध जैन काव्य है, जिसमे नीति अधिक कही गई है। इनके अन्य ग्रंथ सूक्ति-मुक्तावली, ज्ञानबावनी, नाममाला, अर्द्ध कथानक आदि हैं। समयसार वास्तव मे नाटक नही है, केवल जैन धर्म-संबंधी सात तत्वों का पद्यमय वर्णन तथा नीति-कथन है।

समयसार नाटक

प्राणचंद चौहान ने रामचरित्र पर कथोपकथन के रूप में रामायण महानाटक लिखा है, जो विशेषतः चौपाइयों मे है। इसका रचनाकाल सं० १६६७ है, जब शाह सलीम दिल्लीपति था। यह नाटक के नियमो के अनुसार न होते भी केवल संवाद रूप मे होने से नाटक कहा गया है। भापा मधुर तथा स्पष्ट है और काव्य-कौशल से बहुत कुछ युक्त है।

रामायण महानाटक

इस नाटक के रचयिता देव व्यासजी के शिष्य थे, प्रसिद्ध देव कवि नहीं थे, जैसा कि भ्रमवश हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने लिखा है।

देवमाया प्रपंच नाटक

यह नाटक छ अंकों में पूर्ण हुआ है और प्रबोध-चंद्रोदय के समान भावात्मक है। इसका निर्माणकाल सत्रहवीं विक्रमीय शताब्दि का मध्य है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार है और कवि भी अच्छे हैं।

कृष्णदास के पुत्र हृदयराम उपनाम राम ने संस्कृत हनुमन्नाटक या महानाटक का हिंदी में अनुवाद सं० १६८० मे किया था। यह पहिले

हनुमान नाटक

दाक्षिणात्य थे पर बाद को स्यात् उत्तरापथ में आ बसे होंगे। इन्होंने लिखा है कि इनके समय जहाँगीर (राज्य-काल सं० १६६२–१६८४) बादशाह था। इनका रचा हुआ एक रुक्मिणीमंगल भी कहा जाता है। किसी हृदयराम का बलिचरित्र भी खोज में मिला है। सन् १६०६–११ की रिपोर्ट में इस नाटक की दो प्रतियाँ मिली थीं, जिनमें एक में अंत का भाग नहीं है और दूसरे मे आरंभ का नहीं है। प्रथम (संख्या ११६) में 'हिरदैराम' नाम आरंभ में दिया है और द्वितीय में (संख्या २४३) अंत में 'कवि राम' दिया है। बस दो कवि और दो अनुवाद मान लिए गए और 'विनोद' में भी यह भूल पहुँच गई। यदि रिपोर्ट-लेखक जरा कष्ट उठाकर प्रथम का मध्य-अंश और द्वितीय का आरंभ-अंश मिलान कर लेते तो एक ही कवित्त दोनो मे पाते तथा यह भ्रम न फैलता।

यह नाटक पद्यमय है और एक सुकवि कृत है। मूल संस्कृत में भी पद्य का अंश विशेष है। अनुवाद मे नाटक का सम्यक् रूप नहीं आया है।

मूल संस्कृत नाटक कृष्ण मिश्र कृत है। यह भावात्मक नाटक है अर्थात् मोह, क्रोध आदि को पात्र बनाकर नाटक लिखा गया है। हिंदी

प्रबोध चन्द्रोदय नाटक

में इसके कई अनुवाद हुए हैं। सबसे प्राचीन अनुवाद जोधपुर-नरेश महाराज यशवंत सिंह कृत है, जिनका जन्म संवत् १६८३ है और राज्यकाल सं० १६९५–१७३५ वि० तक है। यह रचना सं० १७०० के आसपास की होगी। पद्यमय होते भी बीच-बीच में पात्र आदि के कथन, आने जाने का गद्य में उल्लेख है, जैसे 'यह कहिकै चले तितनै सूत्रधार आइ आसीर्वाद दै कै बोल्यौ'। कविता इन सुकवि आचार्य के योग्य ही है। इसके अनंतर सं० १७२६ में अनाथदास ने दूसरा अनुवाद किया, जो दोहों में है। अभिनय की बातें भी दोहों में ही कही गयी हैं। इनकी दो अन्य रचना

रागरत्नावली और विचारमाला भी खोज में मिली है। सुरति मिश्र कान्य-कुब्ज ब्राह्मण आगरा के रहनेवाले थे। इन्होंने आठ नौ ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें कविता तथा टीकाएँ दोनों हैं। यह सुकवि थे तथा भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। यह साहित्य-मर्मज्ञ भी पूरे थे। इनका रचनाकाल सं० १७६०-१८०० तक संभवतः था। प्रबोध चंद्रोदय नाटक का इनका अनुवाद नाटक रूप में न होकर काव्य रूप में हुआ है। आरंभ में केवल नौ दोहे हैं तथा पूरा नाटक २८४ ककुभा छंदों में अनूदित है। गद्य का नाम भी नहीं है पर कविता बहुत अच्छी है। तीसरा अनुवाद ब्रजवासीदास कृत है, जिसका रचनाकाल सं० १८१६ है। यह वल्लभ-संप्रदाय के वृंदावन-निवासी वैष्णव थे। इस अनुवाद की कई हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। यह अनुवाद भी दोहों में ही अधिकतर है और कविता अच्छी है। इनकी अन्य रचना ब्रजविलास सं १८२७ में बनी, जो कृष्ण-चरित्र-संबंधी प्रबंध-काव्य है। इसके अनंतर सं० १८४० में आनंद ने दोहे-चौपाई में इसका अनुवाद किया। यह काशी-निवासी थे और अपने अनुवाद का नाम स्वनाम पर नाटकानंद रखा था। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार ज्ञात होता है। यह कृष्ण-भक्त वैष्णव थे। इनके सिवा जन अनन्य कृत एक अनुवाद का और भी पता चलता है। अयोध्याप्रसाद चौधरी कृत एक अनुवाद खड़ी बोली में और हुआ है।

शकुंतला

नेवाज अंतर्वेद के निवासी ब्राह्मण थे। यह महाराज छत्रसाल (सं० १७०६-९१) तथा शाहजादा आजमशाह (सं० १७१०-१७६४) के आश्रित रहे। द्वितीय ही की आज्ञा से सं० १७३७ में इन्होंने शकुंतला नाटक के आख्यानक को ब्रजभाषा पद्य में लिखा था; जिसमें दोहे, चौपाई, सवैये आदि अनेक प्रकार के छंद हैं। इनके स्फुट पद भी अनेक संग्रहों में मिलते हैं। इनकी भाषा सुगठित तथा अत्यंत परिमार्जित है। यह सहृदय तथा कुशल कवि थे और भावों को सुस्पष्ट कर देते थे। इनकी यह रचना नाटक कहलाते हुए भी काव्य ही है।

सभासार

रघुराम नागर ने यह नाटक सं० १७५७ वि० में लिखा था। यह अहमदाबाद के रहनेवाले थे। इनकी एक अन्य रचना माधव-विलास शतक भी कही जाती है। इस नाटक की दो प्रतियाँ मिली हैं, जिसके उद्धृत अंशों से ज्ञात होता है कि यह रचना नीति पर है। कथोपकथन के रूप में चुगल आदि के लक्षण पद्य में कहे गए हैं और इस कारण यह नाटक कहा गया है। कवि संस्कृतका

ज्ञात है और कवि-परंपरा की भाषा के प्रभाव से कुछ मुक्त होने के कारण उसकी भाषा में संस्कृत तथा खड़ी बोली का पुट अच्छी मात्रा में मिलता है।

कृष्णजीवन लछीराम ने यह पद्यमय नाटक श्रीकृष्णलीला के आधार पर लिखा है। इसमें विशेषतः दोहे-चौपाइयाँ हैं। यह शुद्ध काव्य ही है। इसके रचेता राजस्थान-निवासी ज्ञात होते है। जो प्रति प्राप्त हुई है, वह सं० १७७२ की लिखी हुई है और इससे इसका रचना-काल इसके पूर्व का ज्ञात होता है।

करुणाभरण

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर-नरेश बदनसिंह के पुत्र प्रतापसिंह के आश्रित थे। कविता में ससिनाथ उपनाम रखते थे। इन्होंने सं० १८०६ में मालतीमाधव का पूरा अनुवाद माधव-विनोद नाटक नाम से किया था। यह पद्यमय है। इनकी अन्य रचनाओं में प्रसिद्ध रीति-ग्रंथ रसपीयूषनिधि, कृष्णलीलावती पंचाध्यायी तथा सुजानविलास हैं। यह उत्कृष्ट कवि हो गए हैं और जिस विषय को लिया है, उसे स्पष्ट करने में काफी सफल हुए हैं। मुक्तक तथा प्रबंध दोनों ही के लिखने में कुशल थे। यह नाटक इनकी प्रायः अंतिम रचना है और बहुत उत्तम बन पड़ा है। रीति-काल के आचार्य-कवियों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी भाषा व्रजभाषा थी और यह बहुत सरल तथा शुद्ध भाषा का प्रयोग करते रहे। इस माधवविनोद नाटक के कुछ उदाहरण सत्यनारायण के मालती-माधव के अनुवाद में मिलते हैं।

माधवविनोद नाटक

इसके रचेता हरिराम जी प्रेमसागर के लेखक लल्लूलाल जी के वंशधर थे, जिससे इनका समय ईसवी उन्नीसवीं शताब्दि का मध्य काल ही हो सकता है। इस नाटक में सीता-स्वयंवर तथा रामजी का विवाह वर्णित है। विशेषतः पद्य होते भी खड़ी बोली हिंदी गद्य का भी काफी अंश है। दोहा, चौबोला अधिक है। गद्य प्रेमसागर की भाषा से अधिक परिमार्जित है, जैसे 'प्यारी कहो आज तुम्हारे मन में कौन से नाटक देखने की अभिलाषा है। जो तुम कहो वही नाटक आज मैं तुम्हें करके दिखलाऊँ।' पद्यों में खड़ी बोली का बराबर पुट है।

जानकी-रामचरित नाटक

इसके नाटककार लक्ष्मणशरण उपनाम मधुकर अयोध्या के एक महंत थे। यह नाटक भी सीता-स्वयंवर की कथा को लेकर ही लिखा गया है। इसमें गद्य तथा पद्य दोनों ही हैं और खड़ी बोली ही का प्राधान्य है। निर्माणकाल या लिपिकाल नहीं दिया गया है पर यह उन्नीसवीं ईसवी शताब्दि ही की रचना है।

रामलीला-विहार

खड़ी बोली गद्य भी अत्यंत परिमार्जित है। 'यह आश्रम अत्यंत सुंदर है, यहाँ पर रघुनाथजी का भजन करने से बड़ा सुख होगा।' यह भाषा प्रेमसागर की भाषा के बाद की ही हो सकती है।

गणेश

करौली के निवासी चतुर्वेदी गणेश कवि ने रस चंद्रोदय आदि कई ग्रंथ रचे हैं, जिनमें एक कृष्णभक्ति-चंद्रिका नाटक भी है। यह करौली-नरेश श्रीमदनपालसिहजी के आश्रित कवि थे। यह नाटक अप्रकाशित है और हस्तलिखित प्रति भी नहीं प्राप्त हो सकी कि उसके विषय में कुछ लिखा जा सके।

आनदरघुनदन नाटक

बांधव-नरेश महाराज जयसिंह सं० १८६६ में गद्दी पर बैठे थे और इन्हीं से भारत-सरकार से संधि हुई थी। यह साहित्य-सेवी थे तथा इन्होंने प्रायः बीस पुस्तकें लिखी थीं। इन्हीं के पुत्र महाराज विश्वनाथसिंह थे, जिनका जन्म सं० १८४६ में हुआ था और जिन्हें अपने जीवनकाल ही में सं० १८७८ में राजगद्दी दे दी थी। यह सं० १६११ वि० तक गद्दी पर रहे। यह भी अपने पिता के समान ही प्रसिद्ध साहित्य-सेवी तथा कवियों के आश्रय-दाता थे। प्रायः तीस रचनाएँ इनकी कही जाती हैं, जिनमे कुछ ऐसी भी हैं, जो इनके नाम पर इनके आश्रितों ने बनाई हैं। इनकी अधिकतर रचनाएँ रामचरित्र ही पर हैं क्योंकि यह राजवंश रामोपासक ही है। इन्हीं रचनाओं में आनंदरघुनंदन नाटक है, जिसे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने हिंदी का प्रथम नाटक माना है। यह नाटक सात अंकों में समाप्त हुआ है और रामजन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की पूरी कथा के आधार पर निर्मित हुआ है। इस कारण कथावस्तु इतनी तीव्र गति से चला है कि दर्शकों को कुल घटनाओं का समझते हुए अनुगमन करना संभव नहीं है और इसीसे अंकों को गर्भांकों या दृश्यों में बॉटा भी नहीं गया है। प्रथम अंक में रामजन्म से राम-विवाह तक की कथा आ गई है, जिसमें अहिल्योद्धार, ताड़ुकादि वध, स्वयंवर आदि सबका उल्लेख हो गया है। नट आदि के तमाशों, गान, हँसी का भी समावेश किया गया है और प्रायः पचीस तीस बार पात्रगण आए गए हैं तथा स्थान, दृश्य आदि बदले गए हैं। दूसरे अंक में सरस्वती का मति फेरना, कैकेयी का वर माँगना, राम-वनगमन, ऋषियों से मिलना, भरत-मनावन तथा अत्रि ऋषि के पास पहुँचना दिखलाया गया है। तृतीय अंक में दस वर्ष वनवास, जटायु-मिलन, अयोध्या से शुक का कुशल-मंगल पूछने आना, शूर्पणखा की नाक काटा जाना, खर आदि का

मारा जाना, सीता-हरण, विरह-वर्णन, शबरी-मिलन तथा किंष्किधा की ओर जाने तक की कथा आ गई है। चतुर्थ अंक में सुग्रीव-मिलन, वालि-वध, सुग्रीव-राज्य, सीतान्वेषण तथा हनुमान के समुद्र-संतरण की तैयारी तक कथा पहुँचती है। पाँचवें में हनुमानजी का लंका पहुँचकर वाटिका छिन्न-भिन्न करना, अक्ष को मारना, रावण-सभा में जाना, लंका-दहन, रामजी से आकर संदेश कहना, सैन्य का समुद्र-तट पहुँचना, विभीषण का आना तथा सेतु बाँधकर पार उतरना वर्णित है। छठे अंक में चारो फाटक के युद्ध से रावण-वध तक कुल युद्ध वर्णन, विभीषण को राज्य तथा सीताजी सहित पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या-प्रस्थान तक कथा समाप्त की गयी है। सातवे अंक में भरत-मिलाप तथा राज्याभिषेक का वर्णन है। दरबार में पैंतीस अप्सराओं, यूरोपीय, अरबी, तुर्की तथा मरु देश की गायिकाओं के गान दिए गए हैं। अंत में रामचंद्रजी के स्वलोक जाने का भी निर्देश है।

रामायण की सारी कथा लेकर उसे एक नाटक के वस्तु रूप में सुगठित करने का यह प्रयास सफल नहीं हो सका है, केवल कथोपकथन में कुल बाते अति संक्षेप में दी गई है। कथावस्तुगठन के अंग-प्रत्यंग सभी इसीमें विलीन हो गए हैं। पात्रों की संख्या भी सैकड़ों है अतः चरित्र-चित्रण प्रायः नहीं के समान है। वास्तविक नामों के इतने भयंकर पर्याय पात्रों को दिए गए हैं कि उसे पढ़कर या सुनकर बरबस हँसी सी आ जाती है; जैसे रामचंद्र का हितकारी, लक्ष्मण का डीलधराधर, भरत का जगडहडहकारी आदि। रसो में कहा जा सकता है कि वीररस प्रधान है पर उसका भी पूर्णरूपेण परिपाक नहीं हो पाया है, वह तो कथा के बोझ से शुष्क हो गया है। भाषाओं में मुख्यतः ब्रजभाषा ही का प्राधान्य है पर उसपर भी नाटककार का विशेष अधिकार नहीं है और न उसमें प्रसाद, ओज आदि गुण ही आ सके हैं। संस्कृत, फारसी, पैशाची, मराठी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं का स्थान स्थान पर व्यवहार किया गया है, जिससे केवल यह ज्ञात होता है कि रचेता इन सबको जानते हैं पर ऐसा करना कुछ विचित्र सा मालूम होता है। तात्पर्य यह कि यह रचना नाटक-कला की दृष्टि से किसी काम की नहीं है और न इसका अभिनय ही हो सकता है। इसका महत्व केवल इसकी प्राचीनता मात्र है। इसके कुछ पद अवश्य अच्छे हैं तथा नाटककार के सुकवि होने के द्योतक हैं।

यह कन्नौज निवासी कायस्थ थे। यह सुकवि थे और इन्होंने बिहारी-

सतसई पर कुंडलियाएँ लिखी हैं। इन्होंने रामायण की कथा लेकर नाटक रामायण लिखा है और कृष्णचरित्र से ऊषा-अनिरुद्ध का आख्यान लेकर दूसरा नाटक निर्माण किया है। इनका समय बीसवीं शताब्दि विक्रमाब्द का आरंभ है। ये नाटक भी देखने को नहीं मिल सके।

ईश्वरीप्रसाद

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचद्र उपनाम गिरिधरदास जी का जन्म काशी में सं० १८९० में हुआ था। यह ग्यारह वर्ष की अवस्था मे पितृविहीन हो गए थे, जिससे इनकी शिक्षा विशेष रूप से नहीं हो सकी। यह प्रतिभाशाली थे, जिससे सस्कृत तथा हिंदी के ऐसे सुकवि तथा विद्वान हुए कि तत्कालीन काशी के बड़े बड़े पंडित इनका सम्मान करते थे। इनके चालीस ग्रंथों की रचना का उल्लेख भारतेदुजी ने किया है, पर इनमें से बाईस तेईस अब प्राप्त हैं। इनमें केवल एक नाटक है, जिसका कुछ अंश मिलता है। इनकी मृत्यु सं० १९१७ में हुई थी और इतनी ही अल्पावस्था में इतने तथा अच्छे ग्रंथों का प्रणयन इनकी अद्भुत मेधाशक्ति का द्योतक है।

गिरिधरदास

इनका नहुष नाटक सं० १९९८ में बना था, जिसकी प्रस्तावना तथा प्रथम अंक कविवचनसुधा के प्रथम वर्ष में छपा था। पूरी पुस्तक किसी प्रकाशक के यहाँ से गुम हो गई, जिसका फिर पता न चला। एक दोहे में मंगलाचरण तथा एक कवित्त और एक सवैया में नांदी समाप्त कर प्रस्तावना आरंभ की गई है। सूत्रधार, पारिपार्श्वक तथा नटी की बात-चीत में नाटक-परिचय दिया जाता है और सूत्रधार के कथन को लेकर इंद्र-पात्र का प्रवेश होता है। प्रथम अंक में इंद्र आता है और वृत्रासुर के वध करने के कारण, जो ब्राह्मण था, ब्रह्महत्या कृत्या-रूप में उसका पीछा करती हुई आती है। इंद्र उसे देखकर भागता है। तब इंद्र-पुत्र जयंत और कार्तिकेय आकर कथोपकथन में वृत्रासुर युद्ध, दधीचि की अस्थि से वज्र का बनना तथा वृत्रासुर के मारे जाने का हाल कहते हैं। इसके अनंतर मातलि आकर ब्रह्महत्या के कारण इंद्र के भागने का वृत्त कहता है और सब उन्हें खोजने जाते हैं। यहीं प्रथम अंक समाप्त होता है।

यह नाटक संस्कृत नाटकों के समान नाट्यकला के सभी अंग-प्रत्यंगों से युक्त है और पद्यमय है। केवल प्राप्त अंश ही में ६१ दोहे, छप्पय, कवित्त और सवैये हैं अर्थात् गद्यअश एक चौथाई से भी कम है। भाषा गद्य-पद्य दोनों की ब्रज है। कविता तथा नाटक दोनों ही अच्छे हैं पर शोक है कि यह पूर्ण नहीं मिलता। गिरिधरदासजी के अन्य ग्रंथों की

भी प्रायः यही दुर्दशा हो रही है। इस नाटक से एक उदाहरण लीजिए—

कार्तिकेय—जब वृत्रासुर के भय सों सुर सब भागे तब छीर-निधि के निकट जाय कै यह कहन लागै—

छप्पय

जै रमेस परमेस सेस साईं सुरेस हरि।
जै अनंत भगवंत संत बंदित दानव-अरि॥
जै दयाल गोपाल प्रतिपाल गुनाकर।
जै अनन्य गति धन्य धर्मधुर पंचजन्यधर॥
वृंदारक वृंद अनंदकर कृपाकंद भव फंद कर।
हरबंध मनोहर रूप धर जै मुकुंद दुखदुद-हर॥

यह यदुवंशीय क्षत्रिय थे तथा इनका जन्म आगरे में ६ अक्तूबर सन् १८२६ ई० को हुआ था। इन्होंने अंग्रेजी में सीनिअर परीक्षा पास की और संस्कृत, हिंदी, बंगला तथा फारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। इन्होंने सन् १८५० ई० में सरकारी नौकरी आरंभ की और पूरे चालीस वर्ष के बाद पेंशन प्राप्त कर अलग हुए। सन् १८७० ई० में इन्हें राजा की पदवी मिली और सन् १८९६ ई० की १४ जुलाई को इनकी मृत्यु हुई। यद्यपि इन्होंने अनेक पुस्तके लिखीं पर इनकी ख्याति मुख्यतः कालिदास के रघुवंश, मेघदूत तथा अभिज्ञान-शाकुंतल के अनुवादों पर स्थित है। इनका शकुंतला नाटक पहिली बार सन् १८६३ ई०में छपा, जो पूरा गद्य में था अर्थात् मूल पद्यों के अनुवाद भी गद्य ही में थे। इसके पचीस वर्ष बाद राजा साहब ने पद्य के स्थान पर पद्यानुवाद करके पुनः इसे प्रकाशित कराया, जो अब उसी रूप मे विशेष प्रचलित है। यह अनुवाद आरंभ ही से शिक्षाकार्य में काम आता रहा है और इसी का फ्रेडरिक पिनकाट द्वारा संपादित संस्करण विलायत से प्रकाशित होकर सिविलसर्विस के पाठ्य-क्रम मे रखा गया था। इसी कारण कुछ लोगों ने भ्रमवश फ्रेडरिक पिनकाट को शकुंतला का स्वतंत्र अनुवादक मान लिया है।

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा साहब के इस अनुवाद का गद्यांश शुद्ध हिंदी तथा पद्यांश ब्रज-भाषा में है। वे स्वयं ब्रजभाषा-भाषी थे अतः यह अनुवाद अत्यंत मधुर तथा सरल शुद्ध भाषा मे हुआ है। यह कवि भी उच्च कोटि के थे और भाषा पर अधिकार भी अच्छा था, जिससे यह अनुवाद बहुत ही उत्तम बन पड़ा है। मूल रचयिता के भावों को कहीं भी अस्पष्ट नहीं होने दिया है। शुद्ध हिंदी के पक्षपाती होने के कारण इन्होने एक भी उर्दू-फारसी

का शब्द नहीं आने दिया है तब भी प्रत्येक पद में सरसता और सरलता भरी हुई है। अनुवाद होते भी इसमें मूल का ही आनंद मिलता है। गद्य का एक उदाहरण लीजिए—

अनुसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी, मैं भी इसी सोच-विचार में हूँ। अब इससे पूछूँगी। (प्रकट) महात्मा, तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो? और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारण है, जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है?

इन वाक्यों में कितना घरेलूपन है और साथ ही कितनी मधुरता एक एक प्रश्नों से टपकती है। भाषा भी ठीक उसीके अनुकूल रखी गई है।

गणेश कवि नरहरि के वंशज लाल कवि के पुत्र गुलाब कवि के लड़के थे। यह अपने को अस्विनीकुमार पुरी अर्थात् असनी के निवासी लिखते हैं। अकबर के आश्रित वंदीजन नरहरि को महापात्र की पदवी मिली थी, जिनका समय सं० १५६२-१६६७ तक माना गया है। यह असनी के रहनेवाले थे। 'बंस भए तिनके प्रसंसित महीतल में सुत के सुता के भक्ति राजै देववर की। मंडन कविन के भए हैं कवि लाल लाल तिनके गुलाब कवि जानै पुन्य थर की।' इससे यह ज्ञात होता है कि नरहरि की पौत्री के प्रपौत्र गणेश कवि थे। यह स्पष्ट नहीं है कि वह नरहरि की पौत्री थी या उनके किसी वंशज पौत्र, प्रपौत्र की पुत्री थी। अधिकतर अंतिम ही बात के सत्य होने की संभावना है। गणेश कवि के आश्रयदाता काशिराज उदितनारायणसिंह (स० १८४२-१८६२) तथा ईश्वरीप्रसादनारायणसिह (जन्म सं० १८७६, राज्यकाल १८६२-१६४६) थे। अतः इनका समय अनुमानत. सं० १८५० से १६१० तक हो सकता है। इनकी एक रचना वाल्मीकि-रामायण श्लोकार्थ-प्रकाश प्रथम महाराज के समय मे और प्रद्युम्नविजय नाटक (साहित्य-सागर) द्वितीय महाराज के समय में लिखा गया था। इन्हीं के आश्रय मे सं० १८६६ मे हनुमतपचीसी भी लिखी गई थी। निर्माणकाल के दोहे मे गणेश ने अपने को राय लिखा है, जिससे इनका वदीजन होना विशेष पुष्ट होता है।

गणेश

प्रद्युम्नविजय नाटक मे सात अंक है। प्रस्तावना में मंगलाचरण के बाद नांदी होने पर सूत्रधार आता है और काशिराज की प्रशंसा तथा नाटककार और नाटक का परिचय देकर प्रस्तावना समाप्त करता है।

प्रथम अंक के विष्कंभक में इंद्र आकर कृष्णजी से वज्रनाभ दैत्य से त्राण पाने की प्रार्थना करते हैं और वह उसे कश्यपजी के पास भेजते है। अंक मे कश्यपजी अपनी दोनों स्त्री दिति-अदिति के साथ आते है, दोनो में सापत्न्य की दो दो चोटें चलती हैं और इंद्र तथा वज्रनाभ दोनों आते हैं। कश्यपजी उन्हें राज्य बाँटकर रहने की आज्ञा देते हैं। द्वितीय अंक के मिश्र विष्कंभक मे कंचुकी तथा गोपी बातकर श्रीकृष्णजी के प्रद्युम्न को बुलाने तथा इंद्र की सहायता को भद्र नट के साथ भेजने की सूचना देती हैं। अंक में भद्र नट अपने घूमे हुए स्थानों का वर्णन करते हुए इंद्र की हालत बतलाता है और अंत मे प्रद्युम्न आदि को नट के साथ वज्रनाभपुर जाने की आज्ञा मिलती है। तृतीय के प्रवेशक में दो खवासिनी हंसिनियों तथा रुक्मिणीजी के मंत्रणा करने की सूचना देती हैं। इस अंक में श्रीकृष्णजी, रुक्मिणीजी तथा हंसी की बातचीत होती है, हंसी वज्रनाभपुर तथा दैत्य-दरबार का पूर्ण विवरण देकर प्रद्युम्न, गद तथा सांब को नटों के साथ भेजने की राय देती है, क्योंकि वह वज्रनाभ की पुत्री प्रभावती से प्रद्युम्न को लिवा लाने का वचन दे आई थी। श्रीकृष्णजी उसे सूचित करते है कि वह उन सबको भेज चुके है। चौथे अंक के प्रवेशक में कंचुकी आकर नटों के आने की सूचना देता है और नट दरबार में जाकर दो दिन में दो नाटक रामचरित्र तथा कौवेर रंभाभिसार दिखलाते हैं। इन नाटकों के कथावस्तु का संक्षेप में उल्लेख है कि इस प्रकार नाटक दिखलाया गया। पाँचवें अंक मे प्रभावती तथा हंसी आती हैं, चंद्रोदय का वर्णन होता है, प्रद्युम्न आते हैं तथा दोनों का गांधर्व-विवाह होता है और सुरति तथा सुरतांत तक का वर्णन होता है। इसी अंक में समग्र नाटक का एकमात्र गद्य-वाक्य इस प्रकार आया है—'प्रद्युम्न चंद्रमा को प्रनाम करि फेरि प्रभावति से बोल्यो।' छठे अंक मे हंसी की सम्मति से प्रभावती की दोनों बहिनों चंद्रवती तथा गुनवती का प्रद्युम्न के भाई गद तथा सांब से विवाह होता है। सातवें मे वज्रनाभ को इन विवाहों का पता लगता है, युद्ध होता है और सब दैत्य मारे जाते हैं। प्रद्युम्नादि सपत्नीक अपने राज्य को लौटते हैं।

यह नाटक गणेश कवि रचित साहित्यसागर अलंकार-प्रबंध मे नाटक-निरूपण नामक द्वादश तरंग में दिया गया है। यह काव्यमय है और अनेक प्रकार के मात्रिक तथा वर्णिक छंदों मे प्रायः एक सहस्र पद रच-कर कवि ने उक्त विशद ग्रंथ के लिए मानों छंदों के उदाहरण निर्मित किए हैं। इसकी कविता बहुत ही अच्छी हुई है और कई रसों का समा-

वेश हुआ है। प्राकृतिक वर्णन भी कवि ने खूब किया है और गुणों तथा अलंकारों की अच्छी छटा दिखलाई है। भाषा पर कवि का अधिकार है तथा नाट्य-शास्त्र का भी ज्ञाता है। यद्यपि समय के प्रभाव तथा सुकवि होने के नाते कविता ही में नाटक लिख डाला है पर उसके अंग-प्रत्यंग सम्यक् रूप से दिए हैं। संस्कृत मे इनके रचे हुए तीन श्लोक भी अंत मे दिए गए है और साहित्यसागर का रचनाकाल 'गगन पच्छ ग्रह चंद्रमा शुक्ल अषाढ़ द्वितीय' दिया है अर्थात् संवत् १९२१ के आषाढ़ शुक्ल द्वितीया गुरुवार को यह ग्रंथ समाप्त हुआ था। भारतेंदुजी ने नाटक-निबंध मे जिस 'श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ प्रभावती नाटक' का उल्लेख किया है वह स्यात् यही नाटक है और नायिका के नाम पर लिख दिया गया है। इस नाटक से एक उदाहरण यहाँ दे दिया जाता है।

प्रस्तावना के अनंतर—

ताही के उपरात कृष्ण इंद्र आवत भए।
भेंटि परस्पर कांत बैठ सभासद मध्य तहँ॥

बोले हरि इंद्र सो बिनै कै कर जोरि दोऊ
आजु दिगविजय हमारे हाथ आयो है।
मेरे गुरु लोग सब तोषित भये हैं आजु
पूरो तप दान भाग्य सफल सुहायो है॥
कारज समस्त सरे, मदिर में आये आप
देवन के देव मोहि धन्य ठहरायो है।
सो सुनि पुरदर उपेंद्र लखि आदर सो
बोले सुनो बधु दानवीर नाम पायो है॥

यह त्रिपाठी ब्राह्मण थे। संस्कृत के विद्वान तथा बरैली कालेज के प्रधान पंडित थे। भवभूति के उत्तररामचरित्र के पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट होने

देवीदत्त

पर उसका इन्होंने हिंदी में अनुवाद किया। सन् १८७१ ई० मे अनुवाद पूरा हुआ और दो वर्ष बाद कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। इन्होंने २२ पृष्ठों में भूमिका लिखी है और उसके बाद पात्र-सूची देकर अनुवाद दिया है। भाषा पंडिताऊ है, और कवि न होने से श्लोकों के भाव भी गद्य में दिए गए हैं पर कुछ दोहे बनाए हैं, जो अनुवाद के संबंध मे हैं। ये अत में दिए गए हैं। मूल का भाव पूरा आ गया है पर अनुवाद में मूल का सा आनंद नहीं मिलता। रत्नावली नाटिका का भी इन्होंने अनुवाद किया था, जो बहुत अशुद्ध है।

खोज मे गुरु गोविंदसिह कृत एक चंडी-चरित्र नाटक का उल्लेख है,

जिससे इसका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दि का मध्य ज्ञात होता है। इसके अंत में स्तुति-वर्णन अष्टमोध्यायः लिखा है, अतः यह छोटा-सा काव्यमात्र है। सं० १८२६ में रचित कुशल मिश्र कृत गंगा नाटक में गंगावतरण की कथा मात्र है। फैजाबाद-निवासी मंगलीप्रसाद कायस्थ कृत एक रामचरित्र नाटक भी कहीं मिला है। इनके सिवा अन्य नाटक भी बने होंगे, जिनका खोज में आगे पता लग सकता है। बिहारी भाषा भी हिंदी ही का एक भेद है अतः उसका संक्षिप्त परिचय भी यहाँ दिया जाता है।

बिहारी भाषा के नाटक

बिहारी काशी तथा उसके पूर्व में प्रचलित भोजपुरी से बहुत कुछ मिलती जुलती हुई भाषा है पर इसे बंगला के विद्वान बंगला ही का एक भेद मानने के लिए सतत प्रयत्न करते रहे हैं। वर्तमान खड़ी बोली हिंदी से और बिहारी से अवश्य ही बहुत विभिन्नता है पर ऐसी विभिन्नता तो खड़ी बोली हिंदी तथा व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि सभी में है पर वे हिंदी के अंतर्गत ही मानी जाती हैं और इसके विरुद्ध किसी ने अब तक कुछ नहीं कहा है पर बिहारी भाषा के बंगाल की सीमा तक बोले जाने के कारण ही उसके विषय में यह मतभेद उठाया गया है। नहीं तो जिस प्रकार भोजपुरी हिंदी के अंतर्गत मानी जाती है, उसी प्रकार बिहारी भी। बिहारी तथा बंगला में बहुत विभिन्नता है पर बिहारी तथा भोजपुरी में नाम मात्र को है।

बिहारी अर्थात् मैथिली साहित्य भी काफी प्राचीन है और इस में नाटकों की रचना भी बहुत पहिले से होती आई है। मिथिला का आधुनिक इतिहास परमार क्षत्रिय नान्यदेव से ग्यारहवीं शताब्दि विक्रमीय के अंत से आरंभ होता है। इन्हीं के वंश में छठी पीढ़ी में राजा हरिसिंह देव हुए, जिनकी सभा में कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर रहते थे, जो संस्कृत के कवि तथा नाटककार हो गए हैं। मैथिली मे भी इन्होंने एक गद्यकाव्य वर्णन-रत्नाकर लिखा है। इसी सभा में उमापति उपाध्याय भी रहते थे, जिन्होंने पारिजातहरण नाटक लिखा है, जैसा उसकी प्रस्तावना में विस्तार से उल्लेख है। यह एकांकी उपरूपक है और वीर रस प्रधान है। नारद जी द्वारा प्राप्त पारिजात पुष्प को श्रीकृष्ण जी ने रुक्मिणी को दे दिया, जिससे सखी के बहकाने से सत्यभामा जी रुष्ट हो गई। इस पर श्रीकृष्ण जी अर्जुन को साथ लेकर इंद्रलोक गए और पुत्र सहित इन्द्र को परास्त कर पारिजात वृक्ष उखाड़कर द्वारिका लौट आए। सत्यभामा के भवन में वह वृक्ष लगा दिया गया। इसी के नीचे

सत्यभामा ने श्रीकृष्ण को और सुभद्रा ने अर्जुन को नारद को दान दे दिया और नारद ने इन दोनों को पुनः एक एक गाय के बदले उन्हीं दोनों के हाथ बेच दिया। इस नाटक की भाषा में संस्कृत-प्राकृत का मिश्रण है। पद सभी मैथिली में हैं और कविता उच्च कोटि की है।

सं० १३८१ में सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक के मिथिला पर अधिकार कर लेने पर हरिसिंह देव भागकर नैपाल चले गए। मैथिल विद्वान गण भी इनके साथ नैपाल पहुँचे और वहाँ मैथिली भाषा की चर्चा फैली। हरिसिंह देव के प्रपौत्र श्यामसिंह को केवल एकमात्र कन्या थी, जो नैपाल के मल्ल राजवंश के जयस्थितिमल्ल को ब्याही गई थी। जब यह राजा हुए तब मिथिला के अनेक विद्वानों को इनकी सभा में राज्याश्रय मिला। इस समय तक यह प्रथा यहाँ प्रचलित हो गई थी कि प्रत्येक विशेष उत्सव पर नया नाटक तैयार कराकर उसका अभिनय कराया जाय। इस कारण नाटकों का प्रचार हुआ और इस भाषा में बहुत से अच्छे नाटक लिखे गए। इसका उल्लेख इन नाटकों की पुष्पिकाओं में बराबर मिलता है। जयस्थितिमल्ल के उक्त विवाह के अवसर पर मणिक कृत भैरवानंद-नाटक खेला गया था और उनके पुत्र के जन्मोत्सव पर धर्मगुप्त रचित रामायण नाटक अभिनीत हुआ था। दोनों ही संस्कृत तथा मैथिली भाषा में है। पद अधिकतर मैथिली में हैं।

जयस्थितिमल्ल के अनंतर दो तीन पीढ़ी तक के नाटक अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं। ईसवी सोलहवीं शताब्दि के मध्य का एक अधूरा नाटक 'विद्या-विलाप' मिला है, जो विश्वमल्ल के समय में निर्मित हुआ था। विश्वमल्ल के बाद त्रैलोक्यमल्ल के समय वीर नारायण नामक कवि ने एक नाटक लिखा था, जिसके कुछ पद मात्र प्राप्त है, यहाँ तक कि उसके नाम तक का पता नहीं मिला। त्रैलोक्यमल्ल के अनंतर जगज्ज्योतिमल्ल राजा हुए, जिन्होंने अन्य ग्रंथों के सिवा सन् १६२८ ई० में मुदितकुवलयाश्व नाटक, सन् १६२६ में हरगौरी विवाह और कुंजविहार नाटक लिखे। ये सभी अमुद्रित है। इन्हीं की सभा में प्रसिद्ध मैथिल कवि तथा विद्वान् वंशमणि झा रहते थे, जो रामचंद्र झा के पुत्र थे। इन्होंने सन् १६५५ ई० में राजा प्रतापमल्ल के तुलादान के अवसर पर गीत दिगंबर नामक नाटक की रचना की, जो चार अंकों में समाप्त हुआ है। संस्कृत-मैथिली मिश्रित सभी हैं।

ज्योतिर्मल्ल के पुत्र प्रकाशमल्ल रचित मलयगंधिनी नाटक का कुछ अंश मिलता है पर संपूर्ण अप्राप्त है। इसका अभिनय हुआ था, इसलिए यह पूरा लिखा अवश्य गया होगा। स्वपुत्र उग्रमल्ल के यज्ञोपवीत संस्कार

के अवसर के लिए इन्होंने मदन चरित नाटक भी लिखा था, जिसका अभिनय सन् १६३३ ई० के लगभग हुआ था। प्रकाशमल्ल के पुत्र जितामित्रमल्ल ने मदालसा-हरण नाटक मैथिली भाषा में सन् १६८१ ई० में लिखा और इसके सिवा अश्वमेध नाटक प्रायः संस्कृत में लिखा है। इनके एक अन्य नाटक गोपीचंद्र का भी पता लगा है। जितामित्रमल्ल के बाद भूपतींद्रमल्ल नैपाल के राजा हुए और इन्होंने चार नाटकों की रचना की—माधवानल, रुक्मिणी-परिणय, विद्याविलाप तथा महाभारत। इसमें प्रथम दो अमुद्रित तथा अंतिम दो मुद्रित हो चुके हैं। इन सबकी रचना सन् १७२२ ई० के पहिले हो चुकी थी। इनके दो खंडित नाटक और मिले हैं। विद्याविलाप में हिंदी विद्यासुन्दर नाटक का ही आख्यानक है और वह सात अंकों में है। महाभारत की कथा संक्षेप में तेईस अंकों में उसी नाम के नाटक में वर्णित है। इन सब में संस्कृत के भी कुछ श्लोक दिए गए हैं पर और सब शुद्ध मैथिली में है। इसी काल में काठमाँडू के राजा भूपालेंद्रमल्ल ने नलचरित्र नाटक लिखा था।

भूपतींद्रमल्ल के पुत्र रणजीतमल्ल हुए, जिन्होंने अनेक नाटक लिखे हैं। गुरखाओं ने इन्हीं को परास्त कर नैपाल पर अधिकार कर लिया था। इन्होंने रामचरित्र, माधवानल-कामकंदला, उषाहरण, अंधकासुर-वधोपाख्यान, कृष्ण-चरित, मदनचरित कथा, रामायण और गोरखोपाख्यान आठ नाटक लिखे थे। ये सब सन् १७२२ ई० से १७७५ ई० के भीतर लिखे गए थे। प्रथम दो को छोड़कर ये सभी अमुद्रित हैं और कितने अप्राप्त भी हैं। नैपाल के इन नरेशों तथा उनके आश्रितों के नाटक पद्य-प्रधान हैं, गद्य का नाम मात्र को कहीं कहीं प्रयोग हुआ है। भाषा की दृष्टि से गान अधिकतर मैथिली में हैं, संस्कृत के भी श्लोक दिए हैं पर गद्य में प्राकृत, संस्कृत का ही अधिक प्रयोग है।

उक्त राजवंश की नाटक-रचनाओं के अतिरिक्त भी कई प्रतिभाशाली लेखकों ने बहुत से नाटक लिखे हैं, जिनमें अधिकांश अभी तक अप्रकाशित हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति ने पारिजात-हरण, रुक्मिणी-परिणय आदि नाटक लिखे हैं। देवानंद ने उषाहरण, हर्षनाथ झा ने उषाहरण और माधवानंद, महाराज दरभंगा के आश्रित कवि भानुनाथ झा ने प्रभावतीहरण, लाल झा ने गौरी-परिणय और जीवन झा ने सामवती-पुनर्जन्म, नर्मदा सट्टक आदि लिखे हैं। इन सभी नाटकों के आधार पौराणिक आख्यान हैं और एक ही कथा पर कई नाटक भी लिखे गए हैं। मैथिली नाटकों का अभी विशेष अध्ययन नहीं किया जा सका है अतः उनका संक्षेप में परिचय दे दिया गया है।

पंचम प्रकरण

भारतेंदु-काल

समय बदल गया था, परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी थीं और साहित्य मे केवल काव्य की प्रधानता का जमाना बीत चुका था। अब जनता का मन केवल पढ़कर या सुनकर ही तृप्त नहीं हो रहा था और वह अभिनय देखकर मनस्तुष्टि करने की ओर झुक रहा था। ऐसे समय मे दृश्य काव्यों की आवश्यकता हुई। साहित्य की गतिविधि को दृष्टि में रखनेवाले साहित्य-निर्माताओं ने इस आवश्यकता से प्रेरित होकर दृश्य काव्य की रचना में हाथ लगाया, जिनमें इस काल में प्रमुख भारतेंदु हरिश्चंद्र ही थे और यही कारण है कि इस काल का इस प्रकार नामकरण करना समीचीन जान पड़ा। मौलिक नाटक लिखने के सिवा इस काल मे संस्कृत के बहुत स प्राचीन नाटकों के अनुवाद हुए और कुछ अंग्रेजी से भी; पर इस कार्य के लिए संस्कृत तथा अंग्रेजी की अच्छी योग्यता रखते हुए हिंदी लेखन-कला का ज्ञाता होना भी आवश्यक था। बंगला सीखने मे उतने परिश्रम की आवश्यकता न थी, इसलिए बंगला नाटको के अनुवाद इस काल में अधिक हुए।

विषय प्रवेश

भारतेंदु जी का जन्म भाद्रपद शुक्ल ऋषि पंचमी सं० १९०७ (९ सितंबर सन् १८५० ई०) को सोमवार को काशी में हुआ था और ३५ वर्ष की अवस्था मे माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ (६ जनवरी सन् १८८५ ई०) को मृत्यु हुई थी। साधारण शिक्षा प्राप्त कर अपनी निजी प्रतिभा तथा अध्ययन और सांसारिक अनुभव से जो कुछ यह लिख गए वह हिंदी-साहित्य में अमर हो गया है। यह हिंदी-साहित्य की प्राचीनता तथा नवीनता के उस संघर्ष-काल में अवतीर्ण हुए थे जब कि प्राचीनता की खिल्ली उड़ानेवाले नवीनता लाने में असमर्थ हो रहे थे। हिंदी का कौन रूप सर्वग्राह्य होगा तथा हिंदी-साहित्य के अभावों की पूर्ति किस प्रकार होगी, ये प्रश्न जटिल हो उठे थे। ठीक इसी समय भारतेंदुजी ने कर्णधार बनकर हिंदी को ऐसा रूप दिया, प्राचीनता का नवीनता के साथ इस प्रकार सुचारु रूप से सामंजस्य किया तथा उसके सभी अभावों की पूर्ति की ओर इस प्रकार अग्र-

भारतेंदु हरिश्चद्र

-सर हुए कि तत्कालीन हिंदी-संसार, प्राचीनता तथा नवीनता दोनों के हिमायती, उनका अनुगामी हो उठा। दोनों ही दलों का एक ऐसा मंडल इनके चारों ओर घिर गया, जिसने हिंदी के उन्नयन में इनका हाथ खूब बँटाया।

अन्य विषयों को छोड़कर हिंदी-साहित्य में भारतेंदुजी के पहिले जो नाम मात्र के पद्यमय नाटक प्राप्त थे उनका ऊपर उल्लेख हो चुका है और एक प्रकार कहा जा सकता है कि उस समय तक नाटकों का बिल्कुल अभाव था। भारतेंदुजी की दृष्टि इस ओर आकर्षित हुई और उन्होंने इसकी पूर्ति बड़े मनोयोग से किया। संस्कृत-साहित्य की अक्षय निधि उनके सामने ही थी और प्रत्येक हिंदी-भाषी की वह पैतृक संपत्ति ही है। इन्होंने संस्कृत के कई नाटकों के अनुवाद किए और संस्कृत लक्षण-ग्रंथों के आधार पर दृश्य काव्य पर एक निबंध पुस्तकाकार तैयार कर दिया। कई मौलिक नाटक नवीन विचारों के अनुकूल लिखे तथा अन्य भाषाओं से भी कई अनुवाद किए। इनके सहयोगियों ने भी बहुत से मौलिक तथा अनूदित नाटक तैयार किए और इस प्रकार इस अभाव को दूर कर भारतेंदुजी ने हिंदी-साहित्य के इस अंग को पुष्ट किया।

भारतेंदुजी ने कुल अठारह नाटक लिखे थे, जिनमें एक प्रवास नाटक अपूर्ण और अप्राप्त है। किसी सज्जन को उसके कुछ पृष्ठ मिले थे पर वे भी नष्ट हो गए। पाँच नाटकों का संस्कृत से, एक का बँगला से तथा एक का अंग्रेजी से अनुवाद हुआ है और दस नाटक इनके मौलिक हैं। इन नाटकों का रचनाकाल सं० १९२५ से आरंभ होता है। इस वर्ष में विद्यासुंदर, रत्नावली तथा प्रवास नाटक लिखे गए थे पर इसके बाद चार वर्ष तक की कोई नाटक रचना नहीं मिलती। सं० १९२९ में एक, ३० में दो, ३१-३२ में एक और ३३ में चार नाटक लिखे गए। सं० १९३४-३६ के आरंभ में केवल भारत-जननी का अनुवाद-संशोधन मात्र हुआ। सं० १९३७ में दो, ३८ में एक और फिर अंतिम वर्ष में एक अपूर्ण नाटक लिखा गया। इसी वर्ष में नाटक निबंध भी पूरा हुआ था। इस रचना-काल के देखने से एक बात साफ मालूम होती है कि भारतेंदुजी मनमौजी थे और जब किसी एक वर्ष में वह चार नाटक लिख डालते थे तो कभी चार चार वर्ष तक इस ओर लेखनी भी नहीं उठाते थे।

नाट्य-रचनाएँ

भारतेंदुजी ने प्रवास नाटक ही से नाट्य-रचना आरंभ किया था पर उसे अपूर्ण छोड़ दिया। इसके अनंतर श्रीहर्षकृत रत्नावली नाटिका के

अनुवाद में हाथ लगाया। भूमिका में लिखते हैं कि 'शकुंतला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़नेवालो को आनंद देनेवाली है, इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।' यद्यपि इससे इस नाटिका के पूर्ण अनुवाद हो जाने की ध्वनि निकलती है पर इसकी केवल प्रस्तावना तथा विष्कंभक ही का अनुवाद प्राप्त है। इसी वर्ष भारतेंदुजी ने विद्यासुंदर नाटक लिखा, जिसका आधार सुंदर-कृत विद्यासुंदर तथा चौरपंचाशिका संस्कृत काव्य है। बँगला में इस आख्यान के आधार पर क्रमश: गोविंददास, कृष्णराम, भारतचंद्र-राय गुणाकर तथा रामप्रसाद ने काव्य लिखे है और जोगेंद्रनाथ ठाकुर ने नाटक लिखा है पर भारतेंदुजी ने गुणाकर के काव्य से सहायता ली है क्योंकि इन दो के पात्रों के नाम स्थान आदि में साम्य है। यह नाटक तीन अंक तथा ४ + ३ + ३ गर्भांकों में विभक्त है। किसी प्रकार की प्रस्तावना न देकर नाटक आरंभ हो जाता है। प्रथम गर्भांक में कुमारी विद्या से शास्त्रार्थ में सभी राजकुमारों के परास्त होने से कांचीपुर का कुमार सुंदर बुलाया जाता है। दूसरे में सुंदर वर्द्धमान में आकर हीरा मालिन के घर टिकता है, तीसरे में उसी के हाथ विद्या के पास माला भेजता है और चौथे में विद्या उसके दर्शन करने का उपाय करती है। दूसरे अंक मे दोनों का परिचय तथा गांधर्व-विवाह होता है। तीसरे अंक मे पहिले सुंदर पकड़ा जाता है और विद्या मरने को तैयार होती है पर बाद को सुंदर का परिचय मिलने पर दोनों का विवाह समारोह से होता है।

यह नाटक साधारणत: अच्छा है, भाषा सरल है और पद्य भी दस बारह ही हैं पर ये सभी पद्य अवस्थानुकूल तथा हृदयग्राही है।

सं० १९२६ मे कृष्ण मिश्र कृत प्रबोधचंद्रोदय नाटक के तृतीय अंक का पाखंड-विडंबन नाम से अनुवाद किया, जो छोटी सी गद्य-पद्यमय रचना है। सात्विक श्रद्धा से ससारी लोग इंद्रिय-सुख के लोभ से किस प्रकार विमुख हो जाते हैं, यही दिखलाया गया है। इसकी भाषा विद्या-सुंदर से विशेष प्रौढ़ है और कविता भी अच्छी हुई है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन सं० १९३० में लिखा गया था, जो शुद्ध कवि-कल्पना-प्रसूत है। धर्म की ओट में लोग किस प्रकार अनाचार तथा अत्याचार करते हैं, यही इस नाटक में सफलता-पूर्वक दिखलाया गया है। मांस-भक्षण, विधवा-विवाह तथा व्यभिचार का समर्थन धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम अंक में किया जाता है। दूसरे

में पाखंडियों के तर्क वेदांती, शैव तथा वैष्णव को पूजाघर से भगा देते है। तीसरे में मांस-मदिरा से छके हुए पुरोहित, राजा तथा मंत्री नाचते हुए मांस-मदिरा की कीर्ति गाते हैं। चौथे में यमराज के दरबार में इन सब को दंड देना तथा शैव-वैष्णवादि को उनके योग्य पद देना दिखलाया है। शास्त्रों के वचनों से अपने मतलब के छोटे छोटे टुकड़े लेकर किस प्रकार दुष्ट लोग अपनी बातों का समर्थन करते हैं, यह भलीभाँति इसमें प्रदर्शित किया गया है। अपने समय के अनेक प्रसिद्ध विद्वानों पर भी भारतेंदुजी ने इस नवीन हास्य-मिश्रित प्रथा से आक्षेप किए हैं पर वे कटु नहीं होने पाए है। पात्रों के उपयुक्त चित्रण के साथ भाषा प्रहसन के योग्य चलती बोलचाल की है। शास्त्रों से उद्धरण बहुत से दिए गए है।

इसी वर्ष में कवि कांचन कृत धनंजय विजय व्यायोग का अनुवाद किया गया था। इसमें प्राचीन प्रथानुसार पद्य-भाग अधिक है। अनुवाद मूल के अनुसार गद्य-पद्यमय है। इसका आख्यान इतना ही है कि राजा विराट के यहाँ पांडवों के एक वर्ष अज्ञातवास करने पर अंतिम दिन कौरवगण उक्त राजा का गोधन हरण कर ले जाते हैं और अर्जुन अकेले उन सबको परास्त कर हरण किए हुए गोधन को लौटा लाते है तथा विराट-कुमारी उत्तरा का अभिमन्यु से विवाह निश्चित होता है। अनुवाद अच्छा हुआ है।

सं० १९३२ में प्रेमयोगिनी नामक नाटिका का लेखन आरंभ हुआ और इसके केवल चार गर्भांक ही लिखे गए। इसमें तत्कालीन काशी का वर्णन है और आज की दशा से बहुत कुछ मिलता है। इस प्रकार के और भी बहुत से दृश्य लिखे जाने योग्य बच गए थे पर किसी कारण-वश वे नहीं लिखे जा सके। इसमें अपने पर भी बीती हुई कुछ बातों का एक पात्र पर घटाते हुए वर्णन किया है पर नाटक के अपूर्ण रहने से विशेष बात न दी जा सकी। इतने पर भी इस नाटक से इनकी निरीक्षण तथा उसे स्पष्टतः व्यक्त करने की शक्ति की उत्कृष्टता मालूम होती है।

सत्यहरिश्चंद्र इनकी अच्छी मौलिक रचना है। इसका आधार पौराणिक उपाख्यान ही है पर क्षेमीश्वर के चंडकौशिक से भी सहायता ली गई है। कथावस्तु में जो परिवर्तन किया गया है, वह नाटक का उन्नायक है। यह बालकों के लिए लिखा गया है और उनके लिए विशेष उपयोगी भी हो गया है। स्वप्न के दान को जागने पर सत्य मानकर दे देना सत्यवीर हरिश्चंद्र ही के योग्य था और इस प्रकार की कल्पना भी सत्यप्रतिज्ञ कवि की ही उपज हो सकती है। सत्यता का आदर्श बहुत

ऊँचा है। दक्षिणा चुकाने के लिए काशी जाकर सकलत्र बिकना और अयोग्य काम करते भी स्वामिभक्ति दिखलाना सत्य-प्रतिज्ञ हरिश्चंद्र के आत्मिक बल तथा चरित्र के उत्कर्ष का द्योतक है। एकमात्र पुत्र के एकाएक ज्ञात हुए शोक-काल में भी धैर्य रखते हुए कर माँगना तथा देना इन पति-पत्नी के योग्य ही था। वीर-करुण रस का यह अपूर्व नाटक इसी उपाख्यान के संस्कृत नाटकों से बहुत आगे बढ़ गया है। इस नाटक में राजधर्म तथा पति-पत्नी-धर्म के आदर्श उपस्थित किए गए हैं।

मुद्राराक्षस नाटक का अनुवाद इसी वर्ष में समाप्त हुआ था। संस्कृत नाट्य-साहित्य मे अपने विषय का एकमात्र नाटक होने से यह अद्वितीय तथा अति प्रसिद्ध है। इसका अनुवाद भी ऐसा हुआ है कि पढ़ने में मूल का आनंद आता है। कहीं-कहीं अनुवाद में कुछ छोड़ दिया गया है और कहीं बढ़ा दिया गया है पर वह कार्य इस प्रकार किया गया है कि उसका पता बिना मूल से मिलान किए नहीं लगता। पद्यमय अंशों के अनुवाद भी बहुत ही अच्छे हुए हैं। यह वीर रस का नाटक है।

कर्पूर-मंजरी सट्टक का अनुवाद सं० १६३३ की कविवचनसुधा में क्रमशः छपा है। यह पूरा नाटक शुद्ध प्राकृत में है और नाटक के इस भेद का यही एकमात्र उदाहरण है। इसका कथावस्तु इतना ही है कि एक लंपट राजा एक योगी की शक्ति द्वारा एक सुंदरी राजकन्या को बुलवाता है। उसकी रानी इस सुंदरी की मौसेरी बहिन निकलती है, जिसकी वह रक्षा करना चाहती है। परंतु दोनो में प्रेम हो जाता है और अंत में विवाह भी हो जाता है। शृंगार के साथ हास्य का भी काफी पुट है। अनुवाद अत्यंत सुंदर हुआ है। अनुवाद में पद्य मूल से अधिक तथा बहुत कुछ स्वतंत्र है। कुछ पद्य अन्य कवियों के भी रखे गए हैं।

इसी वर्ष बड़ौदा-नरेश मल्हारराव के गद्दी से हटाए जाने पर 'विषस्य विषमौषधम्' लिखा गया, जो रूपक का एक भेद भाण है। यह गायकवाड़ अपने कुप्रबंध के कारण सन् १८७५ ई० मे राज्यच्युत किए गए थे और वर्तमान महाराज सयाजीराव गद्दी पर बिठाए गए थे। कवि ने शक्तिशाली साम्राज्य की आँखों के सामने देशीय नरेशों के अत्याचार तथा प्रजापीड़न करने पर शोक तथा उनके दंड पाने पर हर्ष प्रकट किया है। अन्य नरेशों के प्रति उपदेश है कि वे इससे शिक्षा ग्रहण करें।

श्री चंद्रावली नाटिका की इसी वर्ष रचना हुई है, जो नाटककार की उत्कृष्ट रचनाओं मे एक है। यह अनन्य प्रेम रस से भरी हुई है। इसमें श्रीचंद्रावलीजी का प्रेम, विरह तथा सें अंत मिलन दिखलाया गया है।

इसका शृंगार रस प्रायः अंत तक विप्रलंभ है, केवल अंतिम दृश्य में मिलन होने पर संयोग हुआ है। इसमे प्रेम की सभी अवस्थाएँ वर्णित हैं और इसमें के कथोपकथन तथा पद्य अत्यंत सरल और हृदयग्राही हैं। पहिले अंक में चंद्रावलीजी तथा सखियों के वार्तालाप में अनुराग प्रकट होता है, दूसरे मे उपवन में सखियों से विरह-वर्णन करती है और विरहोन्माद में प्रलाप करती हैं। यह अवश्य बढ़ गया है पर अस्वाभाविक नहीं होने पाया है और न कोई सहृदय इसे पढ़ने या सुनने में उकता सकता है। तीसरे में विरहकातरा श्रीचंद्रावली तथा उनकी सखियाँ बातचीत करते हुए मिलन का उपाय ठीक करती है और चौथे मे जोगिन का वेश धारण कर श्रीकृष्णजी आते है तथा मिलन होता है। इन अंकों में यमुनाजी तथा वर्षा का वर्णन अच्छा हुआ है। इस नाटिका में निस्पृह दैवी प्रेम का सजीव चित्रण सच्चे प्रेमी भक्त द्वारा किया गया है और इसमे के एक एक पद प्रेमियों की निधि हैं। इस नाटिका का संस्कृत तथा ब्रजभाषा में अनुवाद उसी समय हो गया था।

भारत दुर्दशा भी इसी वर्ष निर्मित हुई थी। यह छः अंकों का छोटा सा रूपक है और इसमें नाटककार ने महाभारत के प्राचीन गौरव का ओजपूर्ण भाषा में वर्णन करते हुए उसकी वर्तमान दुरवस्था पर शोकाश्रु बहाए हैं, जिनका पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। उस समय के भारत से आज का भारत विशेष आगे नहीं बढ़ सका है और देश की दशा का जो चित्र कवि ने उस समय खींचा था वह आज भी बदलने योग्य नहीं हो पाया है। आलस्य-प्रिय भारत के लिए यह कोई नई बात नहीं है।

सं० १९३४ में भारत-जननी बँगला भारतमाता के आधार पर लिखी गई थी। कहा जाता है कि यह इनके एक मित्र की लिखी है पर वह इतनी भ्रष्ट थी कि भारतेंदुजी ने उसका पूरा संशोधन कर तथा अपनी कविता मिलाकर इसे प्रकाशित कराया था। मित्रजी को इस कारण अपना नाम मुखपृष्ठ पर देने या दिलाने का साहस नहीं पड़ा। इसमें देश-दशा ही का विवरण है और यह कई बार खेला भी जा चुका है।

सं० १९३७ में कई वर्ष के अनंतर नीलदेवी का प्रणयन हुआ, जो एक ऐतिहासिक नाटक है। एक क्षत्रिय-नरेश को सम्मुख युद्ध में परास्त करने मे असमर्थ मुसल्मान सेनापति रात्रि-आक्रमण कर उसे पकड़ लेता है और धर्म-त्याग न करने पर उसे मार डालता है। पति का बदला तथा शव लेने को रानी नीलदेवी छद्मवेश से मुसल्मान शिविर मे जाती है

और सेनापति को मारकर शव लाती है तथा सती हो जाती है। वीर तथा करुण के साथ हास्य रस का भी मेल दिया गया है। कादरों की डींग तथा पागल की बड़बड़ाहट से हँसी आ ही जाती है। वीरों की बातचीत से उत्तेजना मिलती है पर देवता के गान से हृदय रो उठता है कि क्या हम ऐसे गए बीते हो गए हैं। इसमें देश-हितैषिता का भाव पूर्ण रूपेण है और यह पठनीय तथा अभिनय के योग्य है।

इसी वर्ष शेक्सपीअर के मर्चेंट ऑव वेनिस का अनुवाद दुर्लभ-बंधु के नाम से आरंभ हुआ, जो बँगला पुस्तक सुरलता तथा बाबू बालेश्वरप्रसाद की सहायता से लिखा जाने लगा परंतु यह अपूर्ण रह गया, जिसे बाद को पं० रामशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्णदास ने पूरा किया था। भारतेंदुजी ने पात्रो के यूरोपियन नामों को सुंदर हिंदी रूप दे दिया है। अनुवाद अच्छा हुआ है।

अंधेर नगरी प्रहसन है, जो स० १६३८ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इसका पूरा नाम 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' है। इसमे दिखलाया गया है कि लोभ बुरा है और भले-बुरे की पहिचान रखनी चाहिए। ऐसा न करने का क्या फल होता है, वह भी प्रदर्शित किया गया है। विनोद ही विनोद मे बहुत से सत्य दुर्गुणो पर आक्षेप किए गए हैं, जो आज भी उसी रूप में, या कहे कि कुछ बढ़-चढ़कर, मौजूद हैं।

अत मे सं० १६४१ में सती प्रताप के चार दृश्य लिखे गए, जिसे बाद को बाबू राधाकृष्णदास ने तीन दृश्य और लिखकर पूर्ण किया था। इसमें वट-सावित्री के उस अमर उपाख्यान को नाटक का रूप दिया गया है, जिसे प्रति वर्ष ज्येष्ठ मास की अमावस्या को हिंदू-स्त्रियाँ त्योहार रूप में मनाया करती हैं। इसमें सत्यवान तथा सावित्री के सात्विक प्रेम का वर्णन है और मृत्यु से सत्यवान को किस प्रकार सती सावित्री ने रक्षा की है, इसका विवरण है। यह स्त्रियोपयोगी नाटक है। इसमें मनसा पति-वरण कर लेने तथा दूसरे से विवाह न करने का प्रण करने पर भी माता-पिता की इच्छा का ध्यान रखने ही ने सावित्री को सती का पर्याय आज भी बना रखा है।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि हिंदी मे नाटकों का आरंभ वास्तव में भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र की ही रचनाओं से हुआ है और उनके नाट्य-

नाट्यशास्त्र ज्ञान

शास्त्र-ज्ञान की परख उनकी मौलिक आठ नौ रचनाओ ही से किया जा सकता है। इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार के नाटक है और इन सभी की रचना मे इन्होंने वही मार्ग

ग्रहण किया है, जो समय के अनुकूल था। न इन्होंने प्राचीनता को प्राचीन मानकर छोड़ दिया है और न नवीनता को उसके नव्य प्रकाश की चमक में फँसकर पूर्णतया ग्रहण किया है। न एक की जटिलता में फँसे और न दूसरे की नकल ही उतारने में लगे। नाटक निबंध में स्वयं लिखा है कि 'अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं संफेट, पंचसंधि वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नही रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करने वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा-संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ जाता है।' तात्पर्य यह कि भारतेंदुजी ने समयानुसार मध्य मार्ग ही का अवलंबन किया था और इसमें, नाट्य-रचना को नया रुख देने में, वे सफल भी हुए।

भारतीय नाट्यकला के अनुसार नाटक के तीन मूल तत्व कथावस्तु, नायक तथा रस हैं और ये तीन सदा बने रहेंगे। समय कितना भी परिवर्तित हो और नवीनता की यात्रा कितनी भी बढ़ती चले पर ये तीन सदा एक रस साथ साथ बढ़ते रहेंगे। कथावस्तु से नाटक के आख्यान, घटना वा व्यापार के उस स्वरूप से तात्पर्य है, जो नाटककार ने मूल आख्यान आदि को अपनी रचना-नैपुण्य से दे दिया है, मूल आख्यानादि से नही है। यदि इस स्वरूप के देने मे उसने विशेष कुशलता दिखलाई तो उसका नाटक भी सफल हो जायगा। कथावस्तु के व्यापारादि को पात्रों के अभिनय तथा कथोपकथन द्वारा ही दर्शकों को हृदयंगम कराया जा सकता है और इन्हीं के द्वारा पात्रों का चरित्र चित्रण भी प्रदर्शित किया जाता है। यह चरित्र-चित्रण घटना के समय तथा स्थान के अनुकूल ही किया जाना चाहिए। नाटक के उद्देश्य का भी कथावस्तु के साथ विकसित होते चलना चाहिए। इन सब पर नाटककार के निजी भाव, अनुभव, विचार आदि का भी रंग चढ़ता रहता है, जिससे हर एक कुशल नाट्य-शिल्पी की एक निजी शैली बन जाती है, जो दूसरों से भिन्न होती है। रस की प्राणप्रतिष्ठा आवश्यक है, क्योंकि कोई भी रचना इसके बिना निर्जीव तथा नीरस रह जायगी।

वस्तु-संगठन में भी भारतेंदुजी ने अच्छी सफलता प्राप्त की है।

वस्तु संगठन

हरिश्चंद्र-उपाख्यान की प्रसिद्ध कथा मे जो कुछ परिवर्तन किया गया है, वह उसकी कथावस्तु का उन्नायक ही हुआ है। इंद्र तथा नारद के संभाषण बढ़ाकर बालकोपयोगी कुछ

उपदेश दिए गए हैं। सहायतार्थ चिल्लाती हुई आर्त स्त्रियों की रक्षा करते हुए क्षत्रियोचित कार्य के पुरस्कार में राजा हरिश्चंद्र को महर्षि शाप देने को उद्यत हों, राजा साहब ऐसे सुकार्य के लिए क्षमा माँगे और उस पर भी राज्यभ्रष्ट हों, यह एक अत्यंत भद्दा तथा कुत्सित आदर्श था, जिसे सफल नाटककार नहीं सहन कर सका। उसको पतिपरायणा तथा पुत्रवत्सला साध्वी महारानी को अशुभ स्वप्न देखकर घबड़ाती हुई भी गुरु तथा शास्त्र पर विश्वास रखते शांति कराते दिखलाना और पत्नीपरायण राजा से पत्नी के प्रति प्रेमप्रदर्शन करते हुए उसे सान्त्वना तथा साहस दिलाते अपने स्वप्न का वृत्त कहलाना अधिक समीचीन ज्ञात हुआ। स्वप्न में चंडकौशिक के दूसरे अंक की सारी कथा दो तीन पंक्तियों में कहला दी गई है और वह भी एक दोष का मार्जन करते हुए। स्वप्न में दिए हुए दान को सत्य मानने में सत्यता की पराकाष्ठा दिखलाई गई है और आदर्श तो होते भी इतने उच्च हैं कि साधारण जीव आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। अलौकिक स्वप्न को सत्य बनाने के लिए प्रतिग्राही ऋषि सशरीर आते हैं, पर राजा हरिश्चंद्र का आदर्श महत्व अक्षुण्ण ही बना रहता है। तृतीय अंक का चंडकौशिक का अर्थोपक्षेपक सार्थ नहीं है, वह यदि हटा दिया जाय तो कथा विशृंखल नहीं होती पर भारतेंदुजी ने उसे राजा हरिश्चंद्र के आने का कारण तथा समाचार देकर सार्थक कर दिया है। चंडकौशिक का चौथा तथा पाँचवाँ अंक मिलकर सत्यहरिश्चंद्र का चौथा अंक हुआ है। चंडकौशिक में एक अन्य डोम राजा साहब के साथ बराबर रहता है और उसीके कहने से वह कर माँगने जाते हैं पर सत्यहरिश्चंद्र में ऐसा नहीं है। राजा हरिश्चंद्र स्वत. अपनी प्रेरणा से सब कार्य करते है। कारुण्य इतना अत्यधिक हो गया है कि इसमें धर्म के स्थान पर स्वयं साक्षात् भगवान आते हैं और इनको वरदान देते हैं। अत में इंद्रादि सभी को एकत्र कर आपस में मिलने तथा उभय पक्ष के मनोमालिन्य को मिटा देने से यह अधिक उपदेशप्रद हो गया है। सत्यहरिश्चंद्रकार का यही कथा-परिवर्तन उसे बहुत ऊँचे उठा ले गया है।

चंद्रावली नाटिका का वस्तु-संगठन प्रेम, विरह तथा मिलन तीन ही शब्दों मे हुआ है और इसी क्रम से इतने सुश्रृंखलित रूप में गठित हुआ है कि कहीं उखड़ा-सा नहीं है। कथा-वैचित्र्य कुछ भी नहीं है पर है प्रेम का कँटीला मार्ग और उसकी महत्ता। पाठक या दर्शक अथ से इति तक उसे पढ़ता या देखता रहता है पर कभी उकताता नहीं प्रत्युत् प्रेम उसके हृदय पर इस प्रकार खचित हो जाता है कि वह उसे शीघ्र

नहीं भुला सकता और यही भक्ति की ओर उसे अग्रसर करता है"।

नीलदेवी ऐतिहासिक नाटक है। एक छोटी सी घटना लेकर इसमें देश की दुर्दशा दिखलाते हुए कोरी सिधाई के बदले शठं प्रति शाठ्यं की नीति उचित बतलाई गई है। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में महान् राजनीतिज्ञ भगवान् कृष्ण यदि इस नीति का अनुसरण न करते तो महाभारत युद्ध का स्यात् कुछ और ही फल होता। यह नाटक स्त्रियोपयोगी बनाया गया है और वस्तु-संगठन द्वारा उन्हें भी देश-हित के लिए देश-शत्रुओं के प्रति शस्त्र-ग्रहण का उपदेश है। शत्रु परास्त होने पर भी कपट से सम्मुख वीर सूर्यदेव को कैद कर मार डालता है और रानी नीलदेवी ऐसे कपटी शत्रु को उसी के शस्त्र से मारकर पति के शव को लाना तथा प्राचीन धर्मानुसार सती होना उचित समझकर वही नीति ग्रहण करती हैं। यह नीति भी पूर्णतया सफल होती है और शत्रुगण भी भाग जाते हैं।

भारत दुर्दशा भारतेंदुजी की निजी कल्पना है और इसके लिए कोई आधार, ऐतिहासिक घटना या आख्यानक नही है। यदि कोई आधार है तो वह नाटककार के हृदय में वर्तमान देश के प्राचीन गौरव की स्मृति, वर्तमान समय की दुरवस्था का शोक तथा भविष्य के लिए वर्तमान को देखते आशा का अभाव मात्र है। इन्हीं को उसमें मूर्त स्वरूप देकर कथावस्तु का गठन किया गया है। आलस्य, दासता आदि दुर्गुणों के प्रेमी भारतीयों पर स्थायी प्रभाव डालने ही के लिए इसे दुखांत बनाया गया है, यद्यपि भारतोदय की आशा नाटककार के हृदय में पूर्णरूपेण वर्तमान थी। यह उनकी अन्य कृतियों से स्वतः स्पष्ट है और इसमें भी भारत की उन्नति के अनेक उपाय बतलाए गए हैं। नायक भारत से उसकी दुरवस्था कहलाई गई है और प्रतिनायक भारत-दुर्दैव है, जो भारतीयों के दुर्गुणों को, जिनके कारण वे आज सात शताब्दि से परतंत्रता का दुःख भोग रहे हैं, अपने सैनिकों के रूप में भारत में उपद्रव मचाने को भेजता है। ये सब अपनी अपनी कृति को अलग अलग अलापते हैं। भारत की इस दुर्गति को रोकने तथा उन्नति करने के लिए कमीटी बनाई जाती है पर सब देखते हुए अंत मे कवि निराश ही रहता है। बंगाली के कथन में, पिसान से स्वेज नहर पाटना आदि में, वह तत्कालीन बतलाए जाने वाले उन्नति के उपायों को हास्यास्पद समझता है। नाटककार ने इस प्रकार देश के प्रति अपने भावों तथा विचारों को सफलतापूर्वक नाटक में व्यक्त किया है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में वस्तु-संगठन अधिक नहीं है।

धर्म की ओट में लोग किस प्रकार हिंसा, व्यभिचार आदि अकार्य करते हैं, यही दिखलाने के लिए एक राजा और उनके मंत्री, पुरोहित आदि की कल्पना की गई है। इन्हीं के द्वारा शास्त्रों के टुकड़े लेकर इन सब कुकार्यों का समर्थन कराया गया है और ऐसे लोग किस प्रकार ऐसा करते हुए भी संसार में धर्म का दंभ दिखलाते हैं, यह भी बतलाया गया है। अंत में ऐसे कार्यों का क्या पुरस्कार मिलता है, यह भी प्रदर्शित कर दिया गया है। यह नाटक मद्य-मांस आदि का विरोध करते हुए ही लिखा गया है और उसे अच्छी प्रकार व्यक्त कर रहा है।

इस प्रकार देखा जाता है कि भारतेंदुजी कथावस्तु के संगठन में अत्यंत सफल हुए हैं। व्यापार की कमी होते भी वस्तु के संगठन में कहीं शिथिलता नहीं आने पाई है। चरित्र-चित्रण पर भी कुछ नाटकों ही को लेकर विवेचना कर लेना अलं होगा।

सत्यहरिश्चंद्र के दो प्रधान पात्र सत्यवीर महाराज हरिश्चंद्र और क्रोधी मुनि विश्वामित्र हैं। एक की सत्यप्रियता, विवेक, दानशक्ति, शील-

चरित्र-चित्रण

सौजन्य, क्षमा आदि गुणों पर ईर्ष्या कर उसे इन सब से च्युत करने का दूसरा सतत प्रयत्न करता है। एक अपने उच्चतम वंश के गौरव तथा आत्माभिमान को न भूलकर और सहज क्षात्रधर्म तथा सत्यव्रत के सच्चे दर्प को न खोकर उस पथ से न विचलित होते हुए सभी विघ्न-बाधाओं को रौंदता हुआ निरभिमान आगे बढ़ता चलता है और दूसरा अपनी षड्यंत्र-कारिणी तथा अनिष्टकारिणी बुद्धि वैसी रुकावटें उपस्थित करने में लगाता रहता है। कुशल नाटककार कथावस्तु को इस प्रकार आरंभ से अंत तक घटनावली द्वारा गठित करता गया है कि दर्शकों की ज्यों ज्यो सहानुभूति एक पक्ष की ओर बढ़ती है, त्यों त्यों प्रतिपक्षी की ओर उनकी घोर अश्रद्धा तथा घृणा बढ़ती जाती है। अलौकिक शक्ति-संपन्न ऋषि स्वप्न में राजा हरिश्चंद्र से स्वयं पृथ्वी दान ले लेते हैं, किसलिए? साधारणतः मानव-प्रकृति स्वप्न की बात को असत्य मानती है और यदि राजा हरिश्चंद्र भी वैसा ही मान लेते तो वे प्रथम परीक्षा में, इस षड्यंत्र में पड़कर, अनुत्तीर्ण हो जाते पर ऐसा नहीं हुआ। तब ऋषिजी साक्षात् क्रोध के अवतार बने हुए आए और कुल राज्य ले लेने पर भी दक्षिणा के बहाने उन्हें सस्त्रीक बिकने पर बाध्य किया। इस क्रोधी ब्राह्मण से दान चुकता कर देने पर भी छुटकारा नहीं मिलता। वह राज्य, स्त्री, पुत्र तथा शारीरिक स्वातंत्र्य खोकर भी सत्यव्रत, सौम्यता, ईश्वर-भक्ति और

प्रतिपक्षी के प्रति सुजनता नहीं त्यागते। पुत्र रोहिताश्व के शव को अपनी त्यक्ता प्रिय पत्नी की गोद में देखकर भी वह स्वधर्म से च्युत नहीं होते। बिकी हुई शरीर को तथा उसे मिले हुए सांसारिक ऐश्वर्य को स्वामी का मानकर स्वामिधर्म की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है। आदर्श सत्यवीर सम्राट् के सभी कार्य आदर्श थे। दान देने मे असमर्थ पाकर दानवीर को कितनी मार्मिक व्यथा होती है, यह भी एक ही वाक्य में कितनी सुंदरता से दिखला दिया गया है। इन महानुभाव के चरित्र-चित्रण में कवि संस्कृत नाटककारों से भी अधिक सफल हुए हैं।

इंद्र द्वारा प्रेरित प्रतिनायक विश्वामित्र क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि की प्रतिमूर्ति से हो उठे हैं। वह यथाशक्ति तीव्र से तीव्र वाग्बाण छोड़कर राजा हरिश्चंद्र को विचलित करने का निरंतर प्रयास करते रहे पर अंत में फल उलटा हुआ। नायक के लोकोत्तर गुणों का असर क्रमशः प्रतिनायक पर होता चलता है और अंत में वह उसके प्रति पूरे श्रद्धालु हो उठते हैं। यह क्रमिक विकास अत्यंत स्वाभाविक हुआ है। इंद्र की भी ईर्ष्या अंत मे श्रद्धा मे परिणत हो गई। सत्यहरिश्चंद्र के अन्य पात्रों मे मुख्य महारानी शैव्या का चरित्र भी नाटककार ने बडी कुशलता से चित्रित किया है। सहज स्त्री-सुलभ लज्जा, संकोच, पति के प्रति दृढ़ विश्वास तथा श्रद्धा उसकी एक एक बात से स्पष्ट कर दी है। उसका पति सम्राट् से चांडाल-दास हो गया और वह भी अपने सत्य-हठ से, पर पुत्र-शोक-पीड़िता होने पर भी उसके मुख से एक भी शब्द पति के विरुद्ध नहीं निकला। दोनों अवस्था मे पति के साथ उसका समान व्यवहार रहा। उपाध्याय के प्रश्न पर अपने पति को ऐसी दुरवस्था मे दिखला कर नीचे दृष्टि कर लेने में कितनी व्यथा भरी है पर गूदड़ी का लाल फिर भी लाल ही था। महारानी शैव्या आदर्श स्त्री-रत्न थीं और वैसी ही चित्रित हुई हैं।

चंद्रावली नाटिका की नायिका श्रीचंद्रावलीजी निष्काम प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। श्रीकृष्ण के बाल-सुलभ सौंदर्य, चांचल्य तथा गुणों को सुनकर पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, देखने सुनने से वह प्रेम मे परिणत हो जाता है और अंत मे वह नहीं छिपता। सखियाँ जान जाती है और प्रश्न होते हैं। विरह-कष्ट बढ़ता है और विरहिणी एकांत मे प्रलाप करती है, जिससे विरह की सभी अवस्था लक्षित होती है। स्वयं विरह-कष्ट सहते हुए भी जब वह दर्पण में अपना मुख देखती हैं और उसे पीला पाती हैं तो वह ईश्वर से यही मनाती है कि उसके प्रिय श्रीकृष्ण उससे प्रेम

न करके इस प्रकार की विरह-यातना भोगने से बच जायँ, वह चाहे चिरकाल तक कष्ट भोगे। कितनी निरीहता तथा सच्चा प्रेम इससे प्रकट होता है। उसके कष्ट का अंदाज तो उसके दो एक दिन के प्रलाप ही से व्यक्त हो रहा है। प्रेम में माहात्म्य-ज्ञान नहीं रहता और माहात्म्य-ज्ञान के साथ, प्रेम का नहीं, श्रद्धा का मेल खाता है पर चंद्रावलीजी में माहात्म्य-ज्ञान के साथ पूर्ण आसक्ति है। 'प्रेमियों के मंडल को पवित्र करने वाली' श्रीचंद्रावलीजी का चरित्र बहुत ही सुन्दर चित्रित हुआ है।

भारत-दुर्दशा मे भारत-दुर्दैव तथा भारत-भाग्य नायक-प्रतिनायक हैं। भारत पराधीन हो गया है और स्वाधीनता के नाश होने के कारण एक ओर दुर्दैव और दूसरी ओर उसकी रक्षा के प्रयास भाग्य हैं। इन्हीं को लेकर इन दोनों पात्रों का भावमय सृजन हुआ है। भारत-दुर्दैव का चित्रण अच्छा हुआ है और उससे तत्कालीन देश-दशा का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसके प्रयासों के रूप मे भारतीयों के दुर्गुण बड़ी मार्मिकता से दिखलाए गए हैं। सेनापति सत्यानाश ने धर्म की ओट मे होते सामाजिक दोषों पर खूब चुटकियाँ ली हैं। अन्य सैनिकगण—अपव्यय, फूट, कचहरी आदि दोष जमे हुए है। रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि भेजे जाते हैं और इन सबका भी उन्ही के अनुरूप चित्रण हुआ है। इन सबका समष्टि रूप में यही फल हुआ कि दुर्दैव सफल हुआ। भारत-भाग्य प्राचीन भारत के गौरव, वर्तमान की दुर्दशा तथा भविष्य के लिए भारतीयों की पंगुता का वर्णन करता है, पर साथ ही उसमें कुछ आशा का भी सचार है।

नीलदेवी में नायक सूर्यदेव सच्चा राजपूत वीर है, वह सम्मुख युद्ध ही जानता है, रात्रि का चौर-युद्ध नहीं जानता और इसीसे धोखा खाकर कैद होता है तथा धर्म के लिए प्राण देता है। प्रति-नायक शरीफ अवसर का बंदा है, रात्रि मे डाका डालकर प्रतिद्वंद्वी को कैद करता है और जशन मनाता है। क्षुद्राशयगण कितना हाँ में हाँ मिलाते हैं और ऐसी नीच कृति का धर्म के ठेकेदार किस प्रकार समर्थन करते हैं, यह भी अच्छा चित्रित किया गया है। रानी नीलदेवी यह सब समाचार पाती है और पति का बदला तथा सती होने के लिए उसका शव लेने के लिए षड्यंत्र रचती है और उसमें वह सफल होती है। बड़ी वीरता तथा निर्भयता से वह आतयायी के डेरे पर जाती है और उसे मारकर पति के शव के साथ सती हो जाती है। इस नाटक में हास्य की अच्छी अवतारणा हुई है। पागल का प्रलाप पढ़कर या सुनकर हँसी रुकती नहीं, कायरों की

डींगों तथा उनकी बातों से भी बरबस हँसी आ जाती है। प्रहसन अंधेर-नगरी में हँसी विनोद का सामान काफी है पर चरित्र-चित्रण के नाते उसमें और गुंजाइश नहीं है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में धर्म की आड़ में मद्य-मांस सेवन की हँसी उड़ाई गई है। गृध्रराज, पुरोहित, शैव-वैष्णव, मंत्री, गंडकी-दास आदि सभी हैं और इनके चरित्र-चित्रों की साधारण रूपरेखा खींची गई है, पर हैं वे सब सजीव। स्थानाभाव होते भी वे अस्पष्ट और निर्जीव नहीं हो पाए हैं। इनके अन्य मौलिक पर अपूर्ण नाटकों में प्रेमयोगिनी तथा सती सावित्री हैं। प्रथम में काशी के मंदिरों में नित्य जानेवाले बगुला-भक्तों, दलाल, गंगापुत्र, भोजन भट्ट ब्राह्मण, गुंडों आदि के छोटे छोटे पर अत्यंत स्पष्ट चित्र अंकित हुए हैं, जिनका आज भी प्राय: उसी रूप में दर्शन मिलता रहता है। सती सावित्री में सत्यवान नायक तथा नायिका सावित्री है। दोनों में एक दूसरे को देखने से प्रेम उत्पन्न होता है और सावित्री उसको मनसा वरण कर लेती है। उसकी बातों से उसका शुद्ध पातिव्रत्य दिखलाते हुए माता-पिता की आज्ञा की भी मान्यता बतलाई गई है। सत्यवान का चित्रण भी सावित्री के पति के उपयुक्त किया गया है। इस प्रकार विवेचना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतेंदुजी चरित्र-चित्रण में विशेष सफल हुए हैं।

कथोपकथन

इस कार्य में भारतेंदुजी को सहज स्वाभाविक सफलता मिली है। यह स्वभाव ही से अत्यंत वाचाल थे और समाज-प्रिय थे। हर एक प्रकार के लोगों से, महाराजाओं से दरिद्रों तक, पारंगत विद्वानों से लेकर मूर्खों तक यह मिला करते थे और इनका निज का दरबार लगा रहता था। इन कारणों से बातचीत करने तथा उत्तर-प्रत्युत्तर में यह बड़े कुशल थे। इन सबका इनके नाटकों में सफलतापूर्वक उपयोग हुआ है। इनके कथोपकथन दो चार स्थलों को छोड़कर कहीं भी व्यर्थ के लंबे नहीं हुए हैं और न परिश्रम कर इन्हें गढ़ना ही पड़ा है, जिससे वे स्वच्छंद तथा सजीव हैं और गंभीरता से लदे हुए नहीं होने पाए हैं। इन्होंने अपनी वाक्यावली को काव्यालंकारों से लादने का भी कहीं प्रयास नहीं किया है और बिलकुल बोलचाल की भाषा पात्रों के अनुकूल रखी है। विरहिणी चंद्रावली की विरह-गाथा, शैव्या का विलाप और भारत का रोना यद्यपि बहुत बढ़ गए हैं पर वे स्थिति-विशेष के कारण ही हुए हैं।

स्वमातृभाषा-प्रेमी भारतेंदुजी ने अभारतीय शब्दों का अकारण भर-

मार कर हठधर्मी से बनी हुई खिचड़ी भाषा का समर्थन न कर जिस परिष्कृत तथा परिमार्जित भाषा को अपनी प्रतिभा, लेखन-कौशल तथा सतत उद्योग से प्रचलित किया था, वही आज की वर्तमान राष्ट्रभाषा हिंदी है, जिसके आदि प्रवर्तक या जन्मदाता वही कहे जाते हैं। इनके इसी भाषा-संस्कार के कारण इन्हें उक्त पदवियाँ दी गई थीं। इनका यह भी हठ न था कि पीढ़ी दर-पीढ़ी 'सैकल' करते उसे संस्कृत सी जटिल बना दी जाय। इनकी भाषा में दो या उससे अधिक शैलियाँ मिलती हैं। कहीं गंभीर विषयों को लेकर गांभीर्य से लदी हुई तुली शब्द-योजना है तो कहीं परिहास, व्यंग्य आदि में चलती फिरती वाक्यावली दी गई है। ऐसा परिवर्तन स्वभावतः भी होता चलता है पर ऐसे भी लोग होते हैं जो हँसना रोना भी कोषों ही की सहायता से प्रकट कर सकते हैं। भारतेंदुजी इस प्रकृति के न थे और न उनके पास इतने अध्यवसाय के लिए समय था।

भाषा

सत्यहरिश्चंद्र में रोहिताश्व की मृत्यु पर महारानी शैव्या विलाप करती हैं। 'हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया! हाय, मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय, अब मैं किसका मुख देख के जीऊँगी! हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया! हाय, मेरा ऐसा सुंदर खिलौना किसने तोड़ डाला! अरे बेटा! तैं तो मरे पर भी सुंदर लगता है।' छोटे छोटे वाक्य सरल बोलचाल की भाषा में अत्यंत स्वाभाविक रूप में रखे गए हैं, जिनसे करुणा उमड़ी पड़ती है। 'अरे रे, यह कौन महा भयंकर भेष अंग मे भभूत पोते, एड़ी तक जटा लटकाए, लाल लाल आँख निकाले साक्षात् काल की भाँति त्रिशूल घुमाता चला आता है। प्राण, तुम्हें जो अपनी रक्षा करनी हो तो भागो पाताल में, अब इस समय में भूमंडल में तुम्हारा ठिकाना लगना कठिन ही है।' इस शब्द-योजना तथा वाक्यों से भय आप ही आप टपका पड़ता है। सावित्री सखियों के समझाने पर आवेश में कहती है,—'निवृत्त करोगी? धर्म-पथ से? सत्य प्रेम से? और इसी शरीर मे?' छोटे छोटे शब्द सुननेवालों के हृदय पर चोट पर चोट करते हुए वक्ता के हृदय की गहराई में स्थित प्रेम की सत्यता प्रकट कर रहे हैं। 'कोई सुख से बैठी झूले की ठंढी ठंढी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेंग मारती है, कोई गाती है, कोई डरकर दूसरी के गले में लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगंद देती है पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।' सुगम सुबोध शब्दों में झूलन का चित्र खींच दिया है। "हहा!

एक पोस्ती ने कहा, 'पोस्ती ने पी पोस्त' नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी तो या कुंडी के उस पार या इस पार ठीक है।' कैसा सुंदर परिहास है और उसी के उपयुक्त भाषा भी है।

इस प्रकार के बहुत से उद्धरण दिए जा सकते हैं पर इतने ही से ज्ञात हो जाता है कि यह भाषा को जटिलता, दुर्बोधता आदि से बचाकर सरलता तथा सुगमता की ही ओर लाते थे। इनकी भाषा इनके भावों को विकसित करते हुए मार्मिकता से उन्हें स्पष्ट कर श्रोता तथा दर्शकों को हृदयंगम करा देती थी। सुगम प्रचलित फारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि के शब्द इनकी भाषा में बराबर मिलते हैं और मुहावरों का तो ऐसा प्रयोग स्थान स्थान पर किया है कि इनके भाव खिल उठे हैं। इनकी भाषा में इन कारणों से वह प्रवाह, चलतापन तथा सजीवता आ गई है कि पढ़ते ही बनता है।

भारतेंदुजी के नाटकों मे कविता का बहुत बड़ा अंश आ गया है पर है वह प्रायः सब व्रजभाषा मे। इस परंपरा की काव्य-भाषा के परिष्करण में भी इन्होंने बहुत प्रयत्न किया है और उसकी सफलता का यह बड़ा प्रमाण है कि इनकी कविता इन्हीं के समय विद्वानों तथा जन साधारण में लोकप्रिय हो गई थी। प्राचीनता के कारण व्रजभाषा में आई हुई दुरूहता, शब्दों के तोड़ मरोड़ से उसकी रूप-विकृति आदि को दूर कर इन्होंने अपनी काव्यभाषा में सुबोधता, प्रसाद गुण आदि लाकर उसे ऐसा सुव्यवस्थित शिष्ट निखरा हुआ रूप दिया है कि इनके बाद के कवियों ने उससे बराबर लाभ उठाया। सौकुमार्य के साथ इनकी भाषा में नैसर्गिक सरल प्रवाह था, जिससे इनकी काव्यधारा अत्यंत सुंदर, निर्मल तथा कर्ण-मधुर होती थी। समान रूपेण सभी भावों को इनकी भाषा व्यक्त कर सकती थी और काव्य के अलंकरण आप से आप बिना प्रयास के प्रस्फुटित होते चलते थे। उर्दू के ज्ञाता तथा कवि होने के कारण उसकी स्वच्छंदता तथा सजीवता भी इनकी भाषा में व्याप्त है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था और वह सदा इनके अनुकूल चलती रही।

भारतेंदुजी कहते है—'एक प्रेम है, एकहि प्रन है, हमरो एकहि बानो।' वास्तव में इनका प्रेम प्रधानतः ईश्वरोन्मुख अर्थात् अपने इष्टदेव गोपाल के प्रति और देश के प्रति था। इनकी सभी रचनाओं में यही प्रेम ओत-प्रोत है और इसके सिवा जो कुछ है वह भी इसी के लिए है। प्रेम वह मनोविकार है, जो स्थायी

प्रेम-सिद्धांत

रूप से जीव मात्र में रहता है और दर्शन, गुण-श्रवण आदि साधनों द्वारा उद्बुद्ध होकर प्रेमपात्र से विलग नहीं रहना चाहता। ऐसा यदि नहीं हो सकता तो प्रेमी को अति कष्ट होता है। प्रेम पारस्परिक तथा एकांगी दो प्रकार का होता है और साथ ही उत्तम, मध्यम तथा अधम भी होता है। निस्वार्थ प्रथम है तो स्वार्थयुक्त अंतिम है और अकारण प्रेम, मित्रता आदि मध्यम है। प्रेम व्यापक शब्द है, जिसके अंतर्गत वात्सल्य स्नेह, देश-प्रेम, ईश्वर प्रति भक्ति आदि सभी आ जाते हैं। मौलिक नाटकों में भारतेंदुजी ने शुद्ध शृंगारमय प्रेम का बहुत ही कम वर्णन किया है। उनमें केवल ईश्वरोन्मुख प्रेम तथा देश-प्रेम ही का बोलबाला है।

चंद्रावली नाटिका में परमहंस परमभक्त श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि 'जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादि अंधकार नाश हो जाते है और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आपसे आप खुल जाता है– वह किसी को नही मिली।' कैसे मिले! संसार तो वादों के फेर में उलझ रहा है। व्रज की गोपियों का 'कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बात मिलती हैं।' भारतेंदुजी ने इसीका इस नाटिका में प्रदर्शन किया है। इसमें विरह ही प्रधान है, केवल अत में मिलन होता है। यह विरह-वर्णन इतना नैसर्गिक, हृदयग्राही और सम-वेदना-उत्पादक है कि इसको पढ़-सुनकर ही लोग तन्मय हो जाते है। श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चपलता, सौंदर्य तथा गुण को सुनकर ही चंद्रा-वली में पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, यही देखते-सुनते क्रमशः प्रेम में परि-णत हो जाता है और न मिलने से विरह बढ़ता है। 'हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी', दूसरा उसे क्या समझ सकता है। विरह की सभी दशाएँ भोगती हैं, उन्मादिनी हो जाती हैं पर निष्काम प्रेम के कारण अपना कष्ट देखकर, उद्वेलित होकर भी यही कहती है कि 'भगवन्, मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे।' क्यो, इसीलिए कि वह भी मेरे समान विरह-कष्ट न भोगे। कितना निस्वार्थ प्रेम है। यह प्रेम चंद्रावली के रूप में ईश्वर के प्रति है, जिससे अंत ही में मिलन होता है।

भारतेंदुजी की राजभक्ति, लोकहित के कार्य, मातृभाषा-सेवा आदि सभी उनके देश-प्रेम की शाखा प्रशाखाएँ थीं। स्वदेश के लिए सब कुछ अर्पण कर उसी की चिंता में सदा व्यग्र रहते इन्होंने अपना छोटा-सा

जीवन व्यतीत कर दिया था। नाटककार के हृदय में अपने दुर्दशाग्रस्त देश के दो चित्र, भूत तथा वर्तमान के, उपस्थित थे और तीसरे की वह कल्पना कर सका था। भारत पहिले कितनी उन्नत अवस्था में था, इसका इन्होंने अत्यंत उदात्तपूर्ण वर्णन किया है पर उसकी वर्तमान दुर्दशा देखकर कवि का हृदय दग्ध सा हो गया है। कवि कहता है कि "हाय! यह वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान श्रीकृष्णचंद्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि स्मशान हो रही है। अरे यहाँ की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उद्योग, उदारता, धन, बल, मान, दृढ़-चित्तता, सत्य सब कहाँ गए।" इस भाव से देशभक्त कवि का हृदय मर्माहत हो रहा है और प्राचीन उन्नत अवस्था का वर्णन करना मानों जले दिल के फफोले फोड़ना है। देखिए—

भारत तेज जगत विस्तारा। भारत भय कंपत संसारा॥
जाके तनिकहि भौंह हिलाए। थर थर कंपत नृप डरपाए॥

जाके जय की उज्जल गाथा। गावंत सब महि मंगल साथा॥
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा। ज्वलित अनल समान अवनीसा॥

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान। करते अमृतोपम वेद गान॥
तब मोहत सब नर-नारि वृंद। सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद॥

उक्त उद्धरण में 'कृष्ण बरन' कितना क्षोभपूर्ण और भावगर्भित है। काला वर्ण देखकर घृणा करते हो, पर इन्हीं कृष्णकाय पुरुषों के दिग्विजय से किसी समय पृथ्वी थहराती थी, कपिलदेव, बुद्ध आदि इसी वर्ण के थे और भास, कालिदास, माघ आदि काले कलूटे ही थे। इनकी विजय-यात्रा, उपदेश और काव्य काले ही अक्षरों में लिखे जाते हैं। पर आज क्या है—

भारत भाग न जात निहारे। थाप्यो पग ता सीस उघारे॥

समदुःख कातर साथियों को देखकर दुःखी कुछ धैर्य धारण करता है, यह प्रकृति है पर जब वे पुनः उन्नति कर लेते हैं तब तो उस निराश्रय का धैर्य ही छूट जाता है।

कहा करी तकसीर तिहारी। रे बिधि रुष्ट याहि की बारी॥
सबै सुखी जग के नर-नारी। रे बिधना भारतहि दुखारी॥

अंत में कवि इस न मिटनेवाले अपयश-पंक को धो डालने के लिए घबड़ाकर अंतिम उपाय कह उठता है।

तुम में जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु बेग करि तरल तरंगा॥
अहो भयानक भ्राता सागर। तुम तरंगनिधि अति बल आगर॥

बढ़हु न बेगि, धाइ क्यो भाई। देहु भरत भुव तुरत डुबाई ॥
धोवहु, भारत अपजस पंका। मेटहु भारत भूमि कलंका ॥

अयोध्या, चित्तौर, पंचनद आदि नामों के उल्लेख मात्र सच्चे मातृ-भूमि-भक्त के हृदय में किन किन भावों को उद्वेलित कर देते हैं, वह अवर्णनीय है। कहाँ राम-राज्य का गर्व और कहाँ वर्तमान की कुदशा पर क्षोभ। ऐसा नैराश्य-पूर्ण हृदय रखते हुए भी ईश्वर से स्वदेश की मंगल-कामना के लिए कवि कहता है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए ॥
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी संपति जानि इनहि तुम रच्छ्यो तुरतहि धाई ॥
प्रलय काल सम जौन सुदरसन असुर प्रान-सहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी ॥
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्तबछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई ॥
हाय सुनत नहि निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूडत लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई ॥

कितना मार्मिक उपालंभ देते हुए यह कहा गया है कि अब तो मरणासन्न भारत की रक्षा कीजिए।

भारतेंदुजी ने समग्र भारतवासियों को संबोधित कर उनके देश की प्राचीन काल की अवस्था, मध्यकाल की परतंत्रता तथा अवनत अवस्था और वर्तमानकाल मे अवसर पाकर भी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर न होने की कायरता को डंके की चोट वर्णन किया है। राष्ट्रभाषा की उन्नति करते हुए देश-सेवा के लिए सबको अनेक प्रकार से प्रोत्साहन देते रहे। इनका चरित्र तथा इनकी रचनाएँ सभी इस देशभक्ति के रंग से रँगी हुई है और इनकी यह ऐसी निजी विशेषता है कि यह हिंदी तथा हिंदुस्तान के इतिहास में अजर अमर हो गए हैं।

भारतेंदुजी के नाटकों में प्राय. सब रसों का समावेश हो गया है। शृंगार रसराज है और इसका स्थायी भाव प्रेम है। इसके दो भेद संयोग और वियोग है। चंद्रावली नाटिका में दोनों, और दूसरा प्रचुर मात्रा में, आ गए है। वर्षा-ऋतु अपनी पूर्ण शोभा से आ गया है, हिंडोला पड़ा है, चंपकवर्णी एक नायिका झूल रही है और सखियाँ उस दृश्य का वर्णन कर रही हैं। स्वयं वह

रस

उमंग के साथ झूलती हुई अपने प्राणपति के हृदय में विरहशूल हूल रही है और छाए हुए बादलों को देख बड़े चाव से गाते हुए सबको रिझाती तथा हँसाती है। उसके हँसने, मुख फेरने, बोलने, मुख की लाली आदि पर वे प्राण निछावर कर रही है। पेंग मारते समय दोहरी हो जाने की छवि और गोरे मुख पर चूनरी की फबन कैसी शोभा दे रही है।

हूलति हिए में प्रानप्यारे के विरह-सूल
फूलति उमंग भरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबनि 'हरि-
चंद' चाव चौगुनो बढाइ घन घोरे पै॥
वारि वारि डारौ प्रान हँसनि मुरनि बत-
रान मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै।
ऊनरी घटा मे देखि दूनरी लगी है आहा
कैसी आज चूनरी फबी है मुख गोरे पै॥

भाषा का कैसा सरस प्रवाह है। विरहिणी अपनी दशा सखी से वर्णन करती है और कितनी सरलता से। इसे सहृदय ही समझ सकते है कि उनके से हृदयवालों पर इसका क्या असर पड़ता होगा। देखिए—

मनमोहन तैं बिछुरी जब सो
तन आँसुन सों सदा धोवती है।
'हरिचंद जू' प्रेम के फंद परी
कुल की कुल लाजहि खोवती हैं।
दुख के दिन को कोउ भाँति बितै
बिरहागम रैन सँजोवती है।
हमही अपुनी दशा जानै सखी
निसि सोवती है किधौं रोवती है।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है और इसके चार भेद मुख्य हैं— युद्ध, धर्म, दान तथा दया। कर्मवीर, सत्यवीर आदि भी भेद माने जाते हैं। दो एक उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदा ही।
जागत ही सब रहै रैन हूँ सोअहिं नाहीं॥
कसे रहैं कटि राति दिवस सब वीर हमारे।
अस्व पीठ सो होहि चारजामे जिनि न्यारे॥
दैहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहि चखाई।
जो पै इक छनहू सनमुख ह्वै करहिं लराई॥

एक एक शब्द से उत्साह छलक रहा है। भाषा में न शब्दों के तोड़-मरोड हैं, न दो दो तीन तीन अक्षरों का पिच्चीकरण है और न टवर्ग की भरमार है, तिसपर भी वीर-दर्प की कमी नहीं है।

तनहि बेंचि दासी कहवाई। मरत स्वामि आयसु बिनु पाई॥
करु न अधर्म सोचु मन माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥

जिस शरीर को बेचकर दासी हुई है उसको बिना स्वामी की आज्ञा के नष्ट करना अधर्म है, यह समझ लो। क्योंकि पराधीन के लिए स्वप्न में भी सुख नहीं लिखा है। यह उक्ति सत्यवीर राजा हरिश्चंद्र की है और धर्म की कैसी यह मार्मिक व्यजना है कि असह्य कष्ट पाते हुए भी वह मृत्यु-सुख नहीं उठा सकती।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। सत्यहरिश्चंद्र इसके उदाहरणों से भरा हुआ है। राजा हरिश्चंद्र पुत्र की अवस्था का विचार कर शोक कर रहे हैं।

जेहि सहसन परिचारिका राखत हाथहिं हाथ।
सो तुम लोटत धूरि में दास-बालकन साथ॥

स्मृति, ग्लानि आदि के कारण शोक उमड़ा पड़ रहा है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। भीमसेन दुश्शासन के प्रति क्रोध के कारण कहते हैं—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुश्शासन केरो।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो॥
ताही कर सों कृष्णा की बेनी बँधवाई।
भीमसेन ही सो बदलो लैहै चुकवाई॥

एक एक शब्द से उग्रता, अमर्ष, व्यंग्य प्रकट हो रहे हैं। भयानक का भय तथा वीभत्स का जुगुप्सा स्थायी भाव है, जिनके उदाहरण सत्य-हरिश्चंद्र के स्मशान-वर्णन मे काफी दिए हुए हैं। उसी नाटक मे तथा अन्य में भी अद्भुत रस प्रचुर मात्रा मे आया है। इसका स्थायी भाव आश्चर्य है। राजा हरिश्चंद्र को जब कापालिक रसेंद्र दे रहा था, तब उनके इस कथन पर कि 'जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है, क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना स्वत्व मात्र बेंच चुका।' वह आश्चर्य चकित होकर कह उठा—

चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
पै बीरन के मन कबहुँ चलहि नहीं ललचाय॥

शांत रस का स्थायी भाव शम है। चंद्रावली नाटिका के आरंभ में नारदजी के प्रश्न पर शुकदेवजी ब्रजभूमि के विषय में कहते हैं—

ब्रज के लता-पता मोहि कीजै ।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज, जामें सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।
श्रीराधे राधे मुख यह बर मुँह माँग्यो हरि दीजै ॥

युगलमूर्ति श्रीराधाकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज में रहते हुए उन्हीं की स्मृति में भक्तगण प्रेमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि इनके नाटकों में सभी रसों का परिपाक होता रहा है।

प्राकृतिक वर्णनों की कमी

देखा जाता है कि कुछ कविगण बाह्य-प्रकृति या शुद्ध प्रकृति की वर्णना में अधिक प्रयास करते हैं और कुछ ने मानव-प्रकृति के वर्णन ही में अपनी कविता सीमित रखी है। बहुत कम ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने दोनों क्षेत्रों में समान रूपेण कविता करने में योग्यता दिखलाई है। ध्यान रखना चाहिए कि शुद्ध प्रकृति-वर्णन भी मानव-हृदय पर उन प्राकृतिक दृश्यों के देखने से जो असर पड़ता है उसी के अनुकूल चलता है। एक ही दृश्य अनेक हृदयों पर अनेक रूप से असर डालता है और कविहृदय उन्हीं अनुभूत भावों के अनुसार ही उनका वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य-जगत् में प्राकृतिक दृश्यों का जो विधान होता है वह वही है जो मानव-हृदय पर खचित होता है और इससे भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं हो सकती। प्रकृति के अनुकरण पर मानव द्वारा बनाए वैसे ही दृश्य युक्त प्राकृतिक दृश्यों के अंतर्गत न आकर मानव प्रकृति ही में माने जाएँगे। प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों में प्रकृति के प्रति जो भावुकता, प्रेम और तन्मयता थी, वह बाद को क्रमशः कम होती चली गई पर तब भी कवि प्रकृति के लाडले की उपाधि से विभूषित किए जाते हैं। आदि कवि वाल्मीकि ऋषि से आरंभ होकर जो परंपरा कालिदास और भवभूति तक चली आई है, उसमें प्रकृति-वर्णन विशद है पर बाद को कम होती हुई वह गौण हो गई। इसका मुख्य कारण तो यही है कि पहिले के कविगण प्रकृति ही की गोद में अधिकतर लालित-पालित होते थे पर बाद को वैसा न रह गया और वे बड़े बड़े नगरों के बीच रह कर मानव-कृत उद्यानादि ही में प्रकृति-सौंदर्य की झाँकी ले लिया करते थे। ऐसी दशा में यह परिवर्तन अवश्यंभावी था।

भारतेंदुजी का जन्म, पालन तथा मृत्यु सभी एक नगर के बीच भव्य भवन में हुआ था और यही कारण है कि वह प्रकृत्या प्रकृति के उपासक न हो सके। उन्हें उद्यानादि का भी विशेष शौक न था और

पर्यटन-यात्रादि में भी यह वन्य शोभा की ओर विशेष रुचि न रखते थे। यही कारण है कि शुद्ध प्रकृति-वर्णन की इनकी रचनाओं में अत्यंत कमी है। सत्यहरिश्चंद्र मे जिस गंगा का वर्णन है, वह उच्च पर्वत-मालाओं तथा रम्य वनस्थली के बीच स्वच्छंद बहती हुई धारा न होकर काशी के विशालकाय घाटमाला के नीचे प्रवाहित गंगाधारा है, जिसमें पाप-प्रक्षालनार्थ सहस्रों स्त्री-पुरुष अवगाहन कर रहे हैं। इसी से इसमें मनुष्य ही का वर्णन प्रधान है—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनु पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥
कहुँ सुदरी नहात बारि कर जुगल उछालत।
जुग अबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
दीठि जही जहँ जात रहत तितही ठहराई।
गंगा-छबि हरिचंद कछू बरनी नहि जाई॥

चंद्रावली नाटिका मे ललिता द्वारा नौ छप्पयों में यमुनाजी का वर्णन कराया गया है पर उनमें कवि-कौशल ही अधिक है, शुद्ध प्रकृति-शोभा की ओर दृष्टि कम है। एक विरह-विधुरा की सखी पर उस दृश्य का क्या असर पड़ता है, इसपर ध्यान अधिक है, देखिए—

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-शोभा।
कै उमगे पिय-प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

यह होते भी नीचे लिखे पद मे स्वतंत्र प्रकृति का ही केवल वर्णन है—

कूजत कहुँ कलहस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारडव उडत कहूँ जल-कुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥

भारतेंदुजी प्रकृति ही से विनोदी तथा परिहास-प्रिय थे। यह गंभीर मुहर्रमी सूरतवाले नहीं थे और अनेक प्रकार के कष्टों के होते भी वह सदा प्रसन्नचित्त तथा प्रेम-मग्न रहते थे। इनमें जिंदा-दिली अर्थात् सजीवता पूरी मात्रा में थी और इनकी रचनाओं में वह बराबर पाई जाती है। यही नाटकों के विषय में भी कहा जा सकता है परंतु कुछ नाटकों में विशेष रूप से परिहास रखा गया है। यह परिहास इस रूप में नहीं है कि ऊपर से चिपके से मालूम हों या बलात् बीच में घुसेड़ दिए गए हों या केवल नाम, शब्द आदि को विकृत बनाकर श्रोताओं से जबरदस्ती हँसने के लिए कहने के समान हों। साथ ही ये कुरुचिपूर्ण भी नहीं हैं प्रत्युत् कुछ न कुछ सार्थक ही है, भर्ती मात्र नहीं है। नाटकीय कथावस्तु के अंग से होकर ये चलते हैं, कोरी हँसी के लिए प्राचीन विदूपक, पेटू भोजनभट्ट के समान व्यर्थ ही बीच में नहीं भर दिए गए हैं। कर्पूर मंजरी का विदूपक भारतेंदुजी का कल्पित नहीं है, वह राजशेखर का है। अंधेर नगरी प्रहसन है और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति प्रहसन न होते भी परिहासमय है। नील-देवी में भी परिहास काफी है। विद्या सुंदर, प्रेमयोगिनी तथा भारत दुर्दशा में भी हास्य के लिए उपयुक्त अवसर आप से आप बन गए हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इनके परिहास में भी देश-प्रेम छिपा चलता है, वह उसे उस समय भी नहीं भूल सके हैं। देखिए—

परिहास

१. हिंदू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम॥
चूरन जब से हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥

२. बिस्तर पै मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥
धोती भी पहिरे जब कि कोई गैर पिन्हादे।
उमरा का हाथ पैर चलाना नहीं अच्छा॥

३. मोटा भाई बनाकर मूँड़ लिया। एक तो खुद ही सब पड़िया के ताऊ, उसपर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धार्यें धार्यें गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई गई, बस हाथी के खाए कैथ हो गए।

४. अदालती घूसबाजी पर शिष्ट व्यंग्य—चित्रगुप्त से मंत्रीजी कहते है—'आप मुझे एक बेर राज्य पर भेज दीजिए, मैंने जितना धन बड़ी बड़ी कठिनाई और बड़े-बड़े अधर्म से एकत्र किया है सब आपको भेंट करूँगा।'

वास्तव मे अनुवाद करना उतना सुगम नहीं है, जितना कुछ लोगों ने समझ रखा है। जब यह गद्य के लिए कहा जा सकता है, तब पद्य के लिए तो अवश्य ही दुरूह हो जाता है। मौलिक रचना से भी यह अधिक कष्टसाध्य है। भारतेंदुजी ने रत्नावली, पाखड विडंबन, धनंजयविजय, कर्पूर मंजरी तथा मुद्राराक्षस संस्कृत से और दुर्लभबंधु अग्रेजी से अनुवाद किए है पर इनमे मौलिक से कम आनंद नही मिलता। मुद्राराक्षस के मंगलाचरण का प्रथम श्लोक है--

अनुवाद

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला, किन्नु नामैतदस्या ?
नामैं वास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृत कस्य हेतो. ?
नारीं पृच्छामि नेन्दु, कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु—
र्दैव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरित शाठ्यमव्याद्विभोर्व' ॥

इसका अनुवाद सवैया मे इस प्रकार है।

कौन है सीस पै ? चद्रकला, कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी ?
हाँ यही नाम है, भूल गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी ॥
नारिहि पूछत चद्रहि नाहि, कहै विजया यदि चद्र लवारी।
यों गिरिजै छलि गग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी ॥

इतना सुंदर अनुवाद है कि दोनों, मूल तथा अनुवाद, बार बार पढ़ने योग्य है। इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिए जा सकते है, जिनमे अनुवाद की गध भी नहीं आती और मूल से भी बढ़कर आनद मिलता है। इस प्रकार अनुवाद करना भारतेंदुजी की जन्मसिद्ध प्रतिभा और सिद्धहस्त काव्य-कौशल था। दुर्ल्लभबंधु अंग्रेजी से अनुवाद है और इसके पात्रों के नामो का अनुवाद भी कितना सुंदर है कि वह अनुवाद की कोटि मे न आकर मौलिक हो गया है। पोरशिया का पुरश्री, नेरिसा का नरश्री, वैसेनियो का वसंत आदि नामकरण अत्यत सुंदर हुए हैं।

भारतेंदुजी ने स्वगत की बहुत कम योजना की है और यत्र तत्र जहाँ की भी है, वहाँ भी बहुत छोटी छोटी है। कहीं भी दो तीन पक्तियों से अधिक नही हुई है। आधुनिक नाट्यकला-विशारद भी, तात्पर्य पाश्चात्य विद्वानो से है, इसे स्वाभाविक नहीं मानते और यह उचित भी है। संसार भर सुन ले पर बगल में खड़ा पात्र कान में उँगली डाले बिना ही उसे सुन न पावे सहज स्वाभाविक नहीं है। भारतेंदुजी के मौलिक नाटकों में व्यापार अधिक है भी नहीं और उन्होंने ऐसी परिस्थितियाँ बचाई हैं, जिनमें व्यर्थ के लंबे स्वगतों की आवश्यकता पड़े।

स्वगत

संस्कृत लक्षण ग्रंथों के अनुसार कुछ ऐसी बातें निर्धारित हो चुकी हैं, जिन्हें अभिनय अर्थात् नाटक में दिखलाना वर्ज्य है। भारतेंदुजी ने इन वर्जित अंशों को प्रायः नहीं आने दिया है क्योंकि इनके नाटकों के व्यापार अधिक जटिल हुए ही नहीं हैं और वे अभिनय के उपयुक्त भी बने हैं जिससे अनभिनेय अंशों का अभाव है। किसी अंश के वर्ज्य होने का एक मुख्य कारण उसकी रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय किए जाने की कठिनाई है।

षष्ठ प्रकरण

भारतेंदु-काल के अन्य नाटककार

लाला श्रीनिवासदास वैश्य का जन्म सं० १६०८ में हुआ था। इन्होंने गृह पर ही हिंदी, उर्दू, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं का अच्छा अभ्यास कर लिया था तथा निजी व्यापार में भी बड़े दक्ष हो गए थे। इनकी योग्यता इतनी बढ़ गई थी कि युवावस्था ही में यह म्यूनिसिपल कमिश्नर तथा ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट नियत हो गए थे। अनेक स्थानों पर कोठियाँ होने के कारण भ्रमण करना आवश्यक हो गया था, जिससे इन्हें सांसारिक अनुभव खूब हो गया था। यह मातृभाषा हिंदी की साहित्य-सेवा में भी दत्तचित्त रहे। इन्होंने एक उपन्यास परीक्षागुरु तथा प्रह्लादचरित, तप्तासंवरण, संयोगता-स्वयंवर और रणधीर-प्रेममोहिनी चार नाटक लिखे थे। भारतेंदुजी से इनकी घनिष्ठ मित्रता थी और उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद सं० १९४४ में इनकी मृत्यु हो गई।

श्रीनिवासदास

इनके प्रथम नाटक प्रह्लादचरित्र में ११ दृश्य है। पहिले में सनकादि आकर वैकुंठ के द्वारपाल जय-विजय को उन्हें रोकने के कारण शाप देते हैं। दूसरे मे प्रह्लादजी हरिभजन करते हुए आते हैं और उनके माता-पिता पाठशाला में उन्हें पढ़ने को बिठाते हैं। तीसरे में पढ़ना अस्वीकार कर हरि-नाम जप करना ही अपना ध्येय बतलाने पर प्रह्लाद को गुरुजी हिरण्यकशिपु के पास ले जाते है, जो चौथे में इन्हें समझाता है पर इनके न मानने पर घातकों को इन्हें मार डालने की आज्ञा देता है। घातकों द्वारा मारा जाना, हाथी के नीचे कुचलवाना, विष देना, चिता पर जलाना और समुद्र में फेकना इन पॉच प्रयासों की असफलता पॉचवें से नवे दृश्यों तक दिखलाई जाती है। दसवे में पिता पुत्र को पुन. समझाने का असफल प्रयास करता है और ग्यारहवे में जब वह स्वयं उसे मारना चाहता है तब नृसिंहजी अवतरित होकर उसे मार डालते है।

प्रह्लादोपाख्यान प्रसिद्ध है और नाटककार ने इसमें जो कुछ परिवर्तन यत्र तत्र किया है, वह कथावस्तु का उन्नायक नहीं हो सका है प्रत्युत् और

भी शिथिल हो गया है। कथोपकथन अधिक है और हरि-नाम-जप का माहात्म्य दिखलाने का अत्यंत शिथिल प्रयास है। चरित्र-चित्रण तो कुछ भी नहीं हो सका है और भाषा में भी कुछ जोर नहीं है। नाट्यकला तथा अन्य सभी दृष्टि से यह नाटक यहाँ तक सफल नहीं हो सका है कि नाटककार स्वयं इसे अपनी रचना कहने में संकोच करते थे।

तप्तासंवरण पहिले सन् १८७४ ई० के १४ फरवरी तथा १५ मार्च के हरिश्चंद्र मैगजीन के दो अंकों में छपा और सन् १८८३ ई० में प्रथम वार पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। नांदी तथा प्रस्तावना के अनंतर प्रथम अंक मे तप्ता तथा संवरण का साक्षात् मात्र होता है। दूसरे में दोनों में बातचीत होती है और गौतमजी आते है पर संवरण के प्रणामादि न करने से रुष्ट होकर उसे शाप देते हैं कि वह जिसके ध्यान में है, वही उसे भूल जाय। प्रार्थना करने पर आशीर्वाद देते है कि अंग-स्पर्श करने से यह शाप दूर हो जायगा। तीसरे में तप्ता सखियों सहित विरहिणी रूप में आती है, पत्र लिखती है, जोगिन बनती है पर संवरण के आने पर उसे नहीं पहिचानती। चौथे में मित्र सहित संवरण आता है और विरहाधिक्य मे मूर्छित हो जाता है, तप्ता आती है और उसे अपना-सा दुखी समझकर उसके मुख से वस्त्र हटाती है तथा अंग-स्पर्श से शाप मिट जाने से उसे पहिचान लेती हैं। पाँचवे मे वशिष्ठजी की कृपा से सूर्य भगवान प्रसन्न होकर आते है और स्वपुत्री तप्ता को संवरण को विवाह देते है।

इसमे शाकुंतल के शाप तथा पत्रलेखन का उपयोग किया गया है, नही तो कथावस्तु प्रायः नहीं के समान है। कथोपकथन और चरित्र-चित्रण भी सुंदर नहीं बन पड़ा है और भाषा भी विशेष सुगठित नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रह्लादचरित से यह नाटक अच्छा है।

रणधीर-प्रेममोहिनी सं० १६३४ मे समाप्त होकर उसी वर्ष प्रथम बार सदादर्श प्रेम से प्रकाशित हुई थी। कलकत्ते से जो इसके संस्करण प्रायः तीस बत्तीस वर्ष बाद निकले उनमें नाटककार की भूमिका निकाल दी गई, जो डिमाई साइज़ के ग्यारह पृष्ठों मे थी। इसमें नाट्यकला पर ही अधिक लिखा गया है। नाटक पाँच अंकों मे बँटा है। पहिले और तीसरे में पाँच पाँच तथा दूसरे और चौथे में चार चार गर्भांक हैं। पाँचवे में केवल एक गर्भांक है। यह दुखांत है और इसमें प्रस्तावना आदि नही है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है कि पाटन का राजकुमार रणधीरसिह पिता से रुष्ट हो सूरत आकर बस जाता है और सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी के स्वयंवर मे उसका अपमान होता है। रणधीर, प्रेम-

मोहिनी के भाई रिपुदमनसिह की अहेर में सिंह से रक्षा करता है और दोनों मे सच्ची मित्रता होती है। रणधीर के कारिंदे लोभ से उसका नाश करने को मदिरा-वेश्या की इसे लत लगाना चाहते हैं पर इस मित्र तथा स्वामिभक्त सेवक जीवन की सम्मति और अपने मन की दृढ़ता से वह इनसे दूर रहते हैं। नायक-नायिका मे प्रेम होता है पर स्वयंवर मे आए हुए राजागण सूरत के नरेश की आज्ञा से, जो अपने को रणधीर से अपमानित समझने लगा था, सम्मिलित होकर रणधीर के महल पर धावा करते हैं। रिपुदमन उसकी सहायता करने मे मारा जाता है और रण-धीर सब शत्रुओ का अंत कर घायल हो प्रेममोहिनी के पास जाता है तथा वहीं उसी की गोद मे प्राण छोड़ता है। प्रेममोहिनी की भी मृत्यु हो जाती है और दोनों एक चिता पर जलाए जाते हैं।

यह प्रेम-गाथा होते हुए भी दु:खांत है। कथावस्तु का गठन अच्छा हुआ है और शृंगार तथा वीर रस दोनो का कथानक मे सुंदर सम्मिश्रण किया गया है। चौबेजी की बातचीत मे हास्य रस का भी पुट है और अत में करुण ही करुण है। रणधीरसिंह का चरित्र एक सच्चे धीर वीर के रूप मे चित्रित किया गया है। जिस प्रकार प्रेम मे वह अटल था वैसे ही वह सभा, युद्ध तथा मित्र की सहायता मे भी रहा। सांसारिक पाशों से भी वह निर्भयता के साथ दूर रहा और सच्चे मित्र तथा अनुचर के दुख-सुख मे सहचर रहते हुए भी दुष्ट मित्रों को हानि पहुँचाने की चेष्टा नहीं की। प्रेममोहिनी मे जो अनुराग रणधीर के प्रति उत्पन्न हुआ वह उत्तरोत्तर बढ़ता तथा दृढ़ होता गया और अत मे वह उसी पर बलिदान भी हो गई। रिपुदमनसिह ने सयोगवश रणधीरसिंह से जो मित्रता स्थापित की उसे अत तक अपने प्राण के साथ निबाहा। दुष्ट कर्मचारियों तथा लोभी मित्रो से सजग रहने की मंत्रणा देना, कुमार्ग की ओर चित्त न जाने देने का प्रयास करते रहना और अपने पिता के सामने उसका पक्ष ग्रहण करना मित्र के उपयुक्त ही कार्य थे। इतना कहा जा सकता है कि यदि रिपुदमनसिह अपने पिता से खुल कर सब बातें समझाते तो स्यात् नाटक सुखांत हो जाता पर होना तो उसे दुखांत था। अनुचर जीवन की स्वामिभक्ति उसी प्रकार अंत तक दृढ़ रही जिस प्रकार सुख-वासीलाल का लोभ और स्वामिद्रोह। तात्पर्य यह कि चरित्र-चित्रण अच्छा किया गया है। कथोपकथन पात्रों के अनुकूल भाषा मे हुआ है और आवश्यकतानुसार उसमें आवेश, ओज, मृदुता आदि लाई गई है। कहीं कहीं व्यर्थ ही फारसी, अरबी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया

संयोगता-स्वयंवर मे प्रायः शुद्ध हिंदी रखी गई है। पृथ्वीराज कहते हैं—'जयचंद की अभिमानी मूर्ति मुझको अब तक प्रत्यक्ष सी दीख रही है। रे दुष्ट, जो तू मीन बनकर जल मे छिप जायगा, पक्षी बनकर आकाश मे उड़ जायगा अथवा सर्प बनकर भूमि में घुस जायगा तो भी आज तुझको जीता न छोड़ूँगा।'

लाला साहब कवि न थे और यत्र-तत्र जो कुछ कविता का नाटकों मे समावेश किया है, उसमें अधिकतर दूसरों की है। इनका एक पद लीजिए-

रूप अनूप सबहि प्रिय लागै।
परम भयंकर प्राणी सिंहहु गिरजा गिन अनुरागै॥
मुख को पूरन चंद्र सरिस लख मृग हठ संग न त्यागै।
जनक-सुता सम रूप जान जिय वानर चरनन लागै॥
कमला जान मत्त कुंजर गण चरण कमल रस पागै॥

प्रेमघन

पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उपाध्याय का जन्म सं० १९१२ भाद्रपद कृष्ण ६ को मिर्जापुर मे हुआ था। हिंदी, फारसी तथा अंग्रेजी की कुछ शिक्षा घर पर प्राप्त कर सं० १९२४ मे स्कूल मे भर्ती हुए पर तीन वर्ष बाद छोड़ दिया। इसके अनतर गृह पर ही संस्कृत आदि का अध्ययन करते रहे। सं० १९२६ मे इनका भारतेंदुजी से परिचय हुआ और यह क्रमशः उनके अंतरंग मित्र बन गए। इन्होंने मिर्जापुर मे कई समाज स्थापित किए तथा आनंदकादंबिनी और नागरी-नीरद पत्र निकाले। इन्होंने बहुत सी कविता तथा गद्य-लेख लिखे, जिनमे कुछ पुस्तकाकार तथा कुछ इनके पत्रों में प्रकाशित हुए। इन्होंने भारत-सौभाग्य, प्रयागरामागमन, वारांगना-रहस्य तथा वृद्धविलाप चार नाटक लिखे है। इनकी मृत्यु फाल्गुन शु० १४ सं० १९७९ को हुई।

इन्होंने भारत-सौभाग्य नाटक छात्रों के कथन पर अभिनय के लिए सन् १८८८ ई० मे लिखना आरभ किया था और दूसरे वर्ष के अंत के साथ इसे समाप्त किया। उसी वर्ष यह इन्ही के प्रेस में छपकर प्रकाशित हुआ। इसमे प्रस्तावना तथा छ. अक हैं। इसमे ५३ पुरुष पात्र और ४२ स्त्री पात्र के सिवा और भी बहुत से साधारण पात्र पात्री गण हैं। इसमें भारत नायक और बदइकबालए-हिंद प्रतिनायक हैं। प्रतिनायक नायक को नष्ट करने का निरंतर प्रयास करता है और नायक केवल दूसरे का आश्रय ग्रहण कर अपनी रक्षा करना चाहता है। अंत मे उसीका आश्रित होकर या अधीनता स्वीकार कर अपना सौभाग्य मनाता है। यही इस भारत सौभाग्य की विशेषता है। यह नाटक भारतेंदुजी के

भारत-दुर्दशा की नकल पर बना है और इस पर भारत-जननी की छाया भी पड़ गई है। आशावादियों के लिए चाहे इस नाटक में आशा की छाया कुछ मिल जाय पर जिस आशय से यह नाटक लिखा गया है, वह बिलकुल असफल रहा। इसे पढ़कर किसी भी भारतीय में न प्राचीन गौरव के लिए गर्व, न मध्य की दशा के लिए शोच और न वर्तमान के लिए आशा का संचार होगा। भाषा भी आधी उर्दू सी है और बची बचाई में ग्रामीण, मारवाड़ी आदि के लंबे लंबे कथन भरे हैं। कविता में भी उर्दू के गजल काफी हैं और हिंदी कविता में आवश्यक सजीवता, ओज आदि नहीं है। पंचम अंक के तृतीय गर्भांक में सभा होती है, जिसमें शुद्ध फारसी-अरबी भरी भाषा में अठारह पृष्ठों में व्याख्यान पर व्याख्यान दिए गए हैं। हिंदी के नाते एक स्थान पर पाँच पंक्तियाँ एक 'मनई' से कहलाई गई हैं और अंत में दो पृष्ठों में एक ब्राह्मण से शुद्ध हिंदी बुलवाई गई है। साथ ही इस नाटक का खेलना भी असंभव सा है। यह नाटक वस्तु-संगठन, कथोपकथन, चरित्र चित्रण आदि सभी दृष्टि से अत्यंत शिथिल है और न किसी रस का पोषक ही बन सका है। प्रेमघनजी इस नाटक-रचना में विफल रहे।

प्रयागरामागमन एक छोटा सा रूपक है, जो सं० १९६१ में प्रकाशित हुआ था। इसमें रामचंद्र का सस्त्रीक तथा सबंधु प्रयाग में भरद्वाज ऋषि का आतिथ्य-स्वीकार वर्णित है। वस्तु-संगठन की आवश्यकता ही नहीं थी और चरित्र-चित्रण के लिए विशेष स्थान न था पर जो कुछ था वह अच्छी प्रकार चित्रित हुआ है। कथोपकथन में केवल सीताजी द्वारा ब्रजभाषा का प्रयोग खटकता है, क्या शुद्ध हिंदी अनुपयुक्त होती ? कविता भी दी गई है और वह अच्छी है। यह रूपक पठनीय है। इन दो के सिवा प्रेमघनजी ने वारांगना-रहस्य लिखा है, जो अधूरा रह गया है और वृद्धविलाप एक छोटी सी कृति है।

प्रेमघनजी गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले—लेखक थे। . .... . अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे।' यह होने पर भी व्यर्थ का आडंबर नहीं आ पाता था और इनके लेख विचारपूर्ण होते थे। लाला श्रीनिवासदास के संयोगता-स्वयंवर नाटक की इन्होंने विशद तथा कड़ी आलोचना की है पर स्वतः इनके नाटक उच्च कोटि के नहीं हो सके।

है और कहीं कहीं सरल संस्कृत शब्दों के अर्थ पाद टिप्पणी में फारसी अरबी शब्दों में दिए गए है। शंका होती है कि ऐसा इन भाषाओं में अपना ज्ञान दिखलाने को किया गया होगा। मारवाड़ी भाषा का भी प्रयोग हुआ है और कुछ पद्य तथा गाने भी रखे गए हैं। एक बात उल्लेखनीय है कि नाटक मे सांसारिक अनुभव की बहुत सी बात इस प्रकार आ गई हैं, जो बलात् लाई गई नहीं ज्ञात होतीं और साथ ही लेखक के अनुभव तथा व्यवहार-कौशल को प्रकट करती हैं।

इस नाटक में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण प्रधानतः किया गया है पर साथ साथ नवीनता भी मिली हुई है और अभिनय भी इसका कुछ हेर फेर के साथ सफलता पूर्वक हो सकता है। लालाजी के नाटकों में यह सबसे अच्छा बन पड़ा है।

संयोगता-स्वयंवर लालाजी की अंतिम रचना है। इसमें प्रस्तावना तथा पाँच अंक है। क्रमशः प्रथम में तीन, द्वितीय में दो, तृतीय में दो, चतुर्थ में एक तथा पंचम में दो गर्भांक हैं। एक सोरठा तथा तीन दोहों में नांदी करने के अनंतर सूत्रधार आकर नाटक तथा नाटककार का परिचय देता है और प्रथम गर्भांक का आभास देता है। संयोगता कर्णाटकी के साथ आती है, जो पृथ्वीराज के यहाँ से आकर संयोगता के पास रहते हुए उसका प्रेम पृथ्वीराज के प्रति बढ़ाती रहती है। इसी गर्भांक में यह भी सूचना दी जाती है कि पृथ्वीराज की स्वर्णप्रतिमा के गले में वरमाला डाल दी गई है तथा उसका प्रेम भी उनके प्रति पूर्ण रूप से हो गया है। द्वितीय गर्भांक में जयचंद की सभा मे चंद कवि पृथ्वीराज को सेवक-रूप मे साथ लेकर आता है और वहाँ दोनों में कहा-सुनी होती है। जयचंद पृथ्वीराज को कुछ कुछ पहिचान जाता है पर शंका निवारण करने को कर्णाटकी को बुलाता है। उससे भी शंका दूर न होकर बढ़ती है। तृतीय गर्भांक मे चंद अपने डेरे मे पृथ्वीराज से बातचीत करता है, कर्णाटकी आतिथ्य का सामान लेकर आती है और फिर जयचंद स्वयं आता है। वह पृथ्वीराज को पहिचानकर डेरे को घेर लेने के लिए सेना भेजता है और पृथ्वीराज लंगरीराय को उससे युद्ध करने के लिए आज्ञा देता है। द्वितीय अंक के दो गर्भांकों मे संयोगता तथा पृथ्वीराज का परिचय और मिलन होता है। तृतीय अंक के प्रथम गर्भांक मे पृथ्वीराज युद्ध की तैयारी करता है और द्वितीय मे द्वंद्व-युद्ध तथा जयचंद की सेना का पराजय होता है। चतुर्थ अंक में एक गर्भांक है और उसमे पृथ्वीराज आकर संयोगता को लिवा जाता है। पाँचवें

अंक के प्रथम गर्भांक में पृथ्वीराज जयचंद को समाचार देकर संयोगता के साथ दिल्ली जाने की तैयारी करता है और द्वितीय में जयचंद संयोगता के गांधर्व-विवाह कर लेने का समाचार पाकर लाचार हो उसे दानदहेज देकर विदा करता है।

• यह नाटक भाषा तथा नाट्यकला दोनों दृष्टि से शिथिल है। इतिहास की घटना में भी हेरफेर किया गया है। लाला साहब के समय सयोगता के स्वयंवर की घटना बिलकुल अनर्गल नहीं सिद्ध हो चुकी थी अत उस सबंध मे उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। तब भी यह नाटक अच्छा नहीं बन पडा है और उस समय भी इसकी कठोर आलोचना हो चुकी है।

लाला साहब ने रणधीर-प्रेममोहिनी को छोड़कर अपने अन्य तीनो नाटको मे प्राचीन प्रथानुसार प्रस्तावना दी है। रणधीर-प्रेममोहिनी की भूमिका मे आपने यूरोपीय नाटकों का विशेष विवरण दिया है और उसीके प्रभाव से प्रस्तावना हटा दी गई है। स्वगत की योजना इस नाटक मे दूसरों से कहीं अधिक है और इसमे कथोपकथन में बड़े लंबे लंबे भाषणों की भर्ती है। यद्यपि इन भाषणों में पढ़ने योग्य तथा अनुभव की बातें ही अधिक हैं पर नाटक के लिए ये आवश्यक नही कहे जा सकते। भाषा के विषय मे आप लिखते है कि 'रणधीर और प्रेममोहिनी के नाटक में दोनों की तरफदारी छोड़कर साधारण बोलचाल पर बरताव किया गया। हाँ कहीं बहुत जरूरत पड़ी तो दूसरी भापा (फारसी) का सहज वचन लेकर काम चला लिया।' पात्रों की योग्यता के अनुसार भी यह भाषा मे हेरफेर कर देते थे। उदाहरण लीजिए—

'जीवन—क्या मैं रणधीरसिंह से बेईमान हो जाऊँ। एक को मालिक बनाकर दूसरे की आस करूँ, झूठी मेहनत दिखलाकर मालिक को धोखा दूँ। मुझसे तो यह नहीं हो सकता, मैं तो सच्ची मेहनत भी नही जताया चाहता। जताऊँ क्या ? जिसके अन्न से इस देह का पालन होता है उसके काम मे यह देह को लगाना चाहिए।' सुखबासीलाल कहता है—'आज तो हमारे खुदावंद न्यामत शिकारगाह से एक नया पंछी लाए थे, देखें इसका क्या ढंग रहै। चौबेजी तो सवा पा घी के सीधे में निहाल है लेकिन हमारे दिल की ख्वाहिश कभी पूरी न हुई। हमारे बिरादरी लोग हजारों का फायदः उठाते हैं.. .. ...हर काम के आगाज मे चंद दर चद नुक्स नुमायाँ होते हैं मगर कोशिश व तनदेही करने से वह सब बआसानी रफै हो सकते है।

संयोगता-स्वयंवर में प्रायः शुद्ध हिंदी रखी गई है। पृथ्वीराज कहते हैं—'जयचद की अभिमानी मूर्ति मुझको अब तक प्रत्यक्ष सी दीख रही है। रे दुष्ट, जो तू मीन बनकर जल मे छिप जायगा, पक्षी बनकर आकाश मे उड़ जायगा अथवा सर्प बनकर भूमि में घुस जायगा तो भी आज तुझको जीता न छोड़ूँगा।'

लाला साहब कवि न थे और यत्र-तत्र जो कुछ कविता का नाटकों मे समावेश किया है, उसमे अधिकतर दूसरों की है। इनका एक पद लीजिए-

रूप अनूप सबहि प्रिय लागै।
परम भयंकर प्राणी सिंहहु गिरजा गिन अनुरागै॥
मुख को पूरन चंद्र सरिस लख मृग हठ संग न त्यागै।
जनक-सुता सम रूप जान जिय वानर चरनन लागै॥
कमला जान मत्त कुजर गण चरण कमल रस पागै॥

प्रेमघन

पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उपाध्याय का जन्म सं० १९१२ भाद्रपद कृष्ण ६ को मिर्जापुर मे हुआ था। हिंदी, फारसी तथा अंग्रेजी की कुछ शिक्षा घर पर प्राप्त कर सं० १९२४ में स्कूल में भर्ती हुए पर तीन वर्ष बाद छोड़ दिया। इसके अनतर गृह पर ही संस्कृत आदि का अध्ययन करते रहे। सं० १९२९ मे इनका भारतेंदुजी से परिचय हुआ और यह क्रमश उनके अंतरग मित्र बन गए। इन्होंने मिर्जापुर मे कई समाज स्थापित किए तथा आनंदकादंबिनी और नागरी-नीरद पत्र निकाले। इन्होने बहुत सी कविता तथा गद्य-लेख लिखे, जिनमें कुछ पुस्तकाकार तथा कुछ इनके पत्रों में प्रकाशित हुए। इन्होंने भारत सौभाग्य, प्रयागरामागमन, वारांगना-रहस्य तथा वृद्धविलाप चार नाटक लिखे है। इनकी मृत्यु फाल्गुन शु० १४ सं० १९७९ को हुई।

इन्होंने भारत-सौभाग्य नाटक छात्रों के कथन पर अभिनय के लिए सन् १८८८ ई० मे लिखना आरंभ किया था और दूसरे वर्ष के अंत के साथ इसे समाप्त किया। उसी वर्ष यह इन्हीं के प्रेस मे छपकर प्रकाशित हुआ। इसमे प्रस्तावना तथा छः अक हैं। इसमे ५३ पुरुष पात्र और ४२ स्त्री पात्र के सिवा और भी बहुत से साधारण पात्र पात्री गण हैं। इसमें भारत नायक और बदइकबालए-हिंद प्रतिनायक हैं। प्रतिनायक नायक को नष्ट करने का निरंतर प्रयास करता है और नायक केवल दूसरे का आश्रय ग्रहण कर अपनी रक्षा करना चाहता है। अंत में उसीका आश्रित होकर या अधीनता स्वीकार कर अपना सौभाग्य मनाना है। यही इस भारत सौभाग्य की विशेषता है। यह नाटक भारतेंदुजी के

भारत-दुर्दशा की नकल पर बना है और इस पर भारत-जननी की छाया भी पड़ गई है। आशावादियों के लिए चाहे इस नाटक में आशा की छाया कुछ मिल जाय पर जिस आशय से यह नाटक लिखा गया है, वह बिलकुल असफल रहा। इसे पढ़कर किसी भी भारतीय मे न प्राचीन गौरव के लिए गर्व, न मध्य की दशा के लिए शोच और न वर्तमान के लिए आशा का संचार होगा। भाषा भी आधी उर्दू सी है और बची बचाई मे ग्रामीण, मारवाड़ी आदि के लंबे लंबे कथन भरे हैं। कविता में भी उर्दू के गजल काफी हैं और हिंदी कविता में आवश्यक सजीवता, ओज आदि नहीं है। पंचम अंक के तृतीय गर्भांक मे सभा होती है, जिसमे शुद्ध फारसी-अरबी भरी भाषा मे अठारह पृष्ठों मे व्याख्यान पर व्याख्यान दिए गए हैं। हिंदी के नाते एक स्थान पर पाँच पंक्तियाँ एक 'मनई' से कहलाई गई हैं और अंत मे दो पृष्ठों मे एक ब्राह्मण से शुद्ध हिंदी बुलवाई गई है। साथ ही इस नाटक का खेलना भी असंभव सा है। यह नाटक वस्तु-संगठन, कथोपकथन, चरित्र चित्रण आदि सभी दृष्टि से अत्यंत शिथिल है और न किसी रस का पोषक ही बन सका है। प्रेम-घनजी इस नाटक-रचना मे विफल रहे।

प्रयागरामागमन एक छोटा सा रूपक है, जो सं० १९६१ में प्रकाशित हुआ था। इसमें रामचंद्र का सस्त्रीक तथा सबंधु प्रयाग में भरद्वाज ऋषि का आतिथ्य-स्वीकार वर्णित है। वस्तु-संगठन की आवश्यकता ही नही थी और चरित्र-चित्रण के लिए विशेष स्थान न था पर जो कुछ था वह अच्छी प्रकार चित्रित हुआ है। कथोपकथन में केवल सीताजी द्वारा ब्रजभाषा का प्रयोग खटकता है, क्या शुद्ध हिंदी अनुपयुक्त होती? कविता भी दी गई है और वह अच्छी है। यह रूपक पठनीय है। इन दो के सिवा प्रेमघनजी ने वारांगना-रहस्य लिखा है, जो अधूरा रह गया है और वृद्धविलाप एक छोटी सी कृति है।

प्रेमघनजी गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले—लेखक थे।.. ..... अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे।' यह होने पर भी व्यर्थ का आडंबर नहीं आ पाता था और इनके लेख विचारपूर्ण होते थे। लाला श्रीनिवासदास के संयोगता-स्वयंवर नाटक की इन्होंने विशद तथा कड़ी आलोचना की है पर स्वतः इनके नाटक उच्च कोटि के नहीं हो सके।

भारतेंदुजी के शिक्षक पं० ईश्वरीप्रसादजी तिवाड़ी के पुत्र पं० शीतलाप्रसादजी त्रिपाठी काशी के संस्कृत कॉलेज में साहित्य के प्रधान अध्यापक तथा प्रसिद्ध विद्वान थे। यह हिंदी व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे और प्राचीन लिपियों के पढ़ने में भी अत्यंत कुशल थे। इन्होंने जानकीमंगल नाटक लिखा है, जिसका अभिनय भी हो चुका है। इसी के अभिनय में एक अभिनेता के न आने पर भारतेंदुजी ने उसका पार्ट तुरंत यादकर स्वयं किया था। यह नाटक गद्य-पद्यमय है। मिश्रबंधुविनोद में इनके रामचरितावली नाटक का भी उल्लेख है।

शीतलाप्रसाद

इनका जन्म फाल्गुन कृष्ण ५ सं० १९१५ को वृंदावन में हुआ था। इन्होंने गृह पर संस्कृत की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी। हरिश्चंद्र मैग-जीन पढ़ने से इनमें हिंदी-प्रेम तथा देश-सेवा की ओर प्रवृत्ति हुई। इन्होंने सं० १९३२ में 'कविकुल कौमुदी' सभा स्थापित की। इनके साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी लेख प्रभावजनक होते थे। सन् १८८३ ई० में लाहौर के भारतेंदु मासिक पत्र को यह वृंदावन से प्रकाशित करने लगे। आपने प्रायः दो सौ लेख तथा बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। समाचार पत्रों के बड़े प्रेमी थे और सभी का पूरा संग्रह रखते थे। नदिया के विद्वानों ने इन्हें सं० १९४७ में विद्यावागीश की पदवी दी थी। इनका देहांत रविवार २३ दिसंबर सन् १९२५ ई० को हुआ था।

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण जी ने सात आठ छोटे छोटे रूपक लिखे हैं, जिनमें एक सरोजिनी अनुवाद है और अन्य सब मौलिक हैं। छोटे छोटे आख्यान, घटना आदि लेकर ये रचे गए हैं। सुदामा दारिद्र्यमोचन लेकर श्रीदामा नाटक लिखा गया है, जिसमें प्रस्तावना तथा पाँच दृश्य हैं। सती चंद्रावली में सात दृश्य हैं। प्रथम में दो देवांगना मंगलाचरण करती है। द्वितीय में कई युवतियाँ जल भरने आती हैं और उनमें से एक चंद्रावली शाहजादा अशरफ द्वारा पकड़ी जाती है। तृतीय में हिंदू रईस औरंगजेब से आकर प्रार्थी होते हैं कि वह छोड़ दी जाय पर उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं होती और अशरफ आकर कहता है कि वह खुशी से उसकी स्त्री होना चाहती है। चौथे में चंद्रावली आत्महत्या का प्रयास करती है। पाँचवे मे हिंदुओं का बलवा होता है। छठे में अशरफ के मारे जाने की सूचना के साथ औरंगजेब के क्रोध का प्रदर्शन है और अंतिम में चंद्रावली का स्वतः जलकर मरना दिखलाया गया है। यह दुखांत है

और भाषा-भाव आदि की दृष्टि से बहुत अच्छा है। अमरसिंह राठौर ऐतिहासिक नाटक है और इसमें पंद्रह दृश्य हैं। प्रथम में दो वैतालिकों द्वारा मंगलाचरण कराकर नाटक आरंभ होता है। इसमे जोधपुर-नरेश गजसिंह के प्रथम पुत्र अमरसिंह का निर्वासन, शाहजहाँ द्वारा नागौर राज्य की जागीर-प्राप्ति और अंत में उसी दरबार में सलाबत खाँ को मारकर मारे जाने की घटना दिखलाई गई है। मुसल्मानों की भाषा में उर्दूपन भरा है। नाटक वीर-रस प्रधान है पर तब भी उस वीर नायक के उपयुक्त नही बन पड़ा है। 'तन मन धन श्रीगोसाईं जी के अर्पण' नामक छोटा सा प्रहसन है, जिसमें दिखलाया गया है कि किस प्रकार दुराचारी गुरु लोग अंधभक्त शिष्यों की बहू-बेटी की प्रतिष्ठा लूटने का प्रयत्न किया करते हैं। यह तेरह पृष्ठों में है और आठ दृश्यों में विभक्त है। इसमें पद्य एक भी नहीं है। यह सन् १८९० ई० में प्रथम बार छपा।

गोस्वामी जी सुकवि थे और गद्य-लेखन में भी अत्यंत कुशल थे। भाषा पर अच्छा अधिकार था और प्रतिभा की भी कमी न थी। आपके निबंधों में गंभीरता रहती थी और भारतेंदुजी के अनुकरण पर आपने भी अनेक विषयों पर रचनाएँ की हैं।

गोप

भरतपुर-नरेश बल्देवसिंह के भ्रातुष्पुत्र दुर्जनसाल के पुत्र कृष्णदेव-शरण सिंह का उपनाम गोप था। काशी के वार्डस् स्कूल में इनका भारतेंदुजी से परिचय हुआ और इनकी मित्रता ऐसी हुई कि अंत तक एक रस निभ गई। व्रजभाषा में यह अच्छी कविता करते थे, जो हरिश्चंद्र मैगजीन तथा चंद्रिका मे बराबर छपती थी। इन्होंने भारतेंदुजी की चंद्रावली नाटिका का व्रजभाषा में रूपांतर किया था। इसी नाटक की चाल पर इन्होंने माधुरी रूपक लिखा है, जो बहुत दिनों तक भारतेंदु जी की कृति समझी जाती रही। इसमें विरह-कातरा माधुरी श्रीकृष्ण के वियोग में अपनी दशा का वर्णन करती है और अन्य सखी उसकी सहायता करती हैं। यह बहुत छोटा रूपक है और इसकी भाषा व्रजभाषा-मिश्रित हिंदी है।

तोताराम

यह कायस्थ वैष्णव थे तथा श्रावण शुक्ल १० सं० १९०४ को इनका जन्म हुआ था। बी० ए० तक पढ़कर यह फतहगढ़ स्कूल के हेडमास्टर हो गए और फिर बनारस में इनकी बदली हो गई। यहीं इन्होंने बँगला, गुजराती, महाराष्ट्री आदि का अध्ययन किया। सन् १८७७ ई० में नौकरी छोड़कर इन्होंने अलीगढ़ में प्रेस खोला और 'भारतबंधु साप्ताहिक निकालने लगे। वहीं इन्होंने

भाषा संवर्द्धिनी सभा तथा लायल लाइब्रेरी स्थापित किया। यह हिंदी के प्रचार के लिए अंत तक प्रयत्नशील रहे। वाल्मीकीय रामायण का राम-रामायण के नाम से दोहे-चौपाइयों में अनुवाद कर रहे थे पर पूरा न हो सका। ७ दिसम्बर सन् १९०२ ई० को इनकी मृत्यु हुई।

इनका प्रथम नाटक कीर्तिकेतु सन् १८७४ ई० के हरिश्चंद्र मैगजीन में तथा बाद को चंद्रिका मे क्रमशः प्रकाशित हुआ था। प्रस्तावना में इन्होंने नाटक तथा नाटककार का उल्लेख नहीं किया है। कविता का इसमे आधिक्य है। प्रत्येक पात्र अपनी बातचीत मे एक न एक दोहा या अन्य पद अवश्य कहता है। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण दोनों ही शिथिल हैं। इसके अनंतर दूसरा नाटक केटो कृतांत लिखा, जो देखने मे नहीं आया। आपकी कविता तथा गद्य दोनों ही साधारण कोटि के हैं और इसी कारण कथोपकथन में रोचकता का अभाव है।

बालकृष्ण भट्ट

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म आषाढ कृ० २ रविवार को सं० १९०१ में प्रयाग मे हुआ था। इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था तक संस्कृत का अध्ययन किया। इसके अनंतर इन्होंने एक मिशन स्कूल में भर्ती होकर एंट्रेंस तक शिक्षा प्राप्त की। उसी स्कूल में कुछ दिन अध्यापन करने के बाद इन्होंने संस्कृत का अध्ययन तथा हिंदी साहित्य-सेवा आरंभ किया। कई वर्ष तक शिवराखन स्कूल के प्रधान पंडित रहने के अनंतर यह कायस्थ पाठशाला में प्रायः बीस वर्ष तक संस्कृत के प्रोफेसर का कार्य करते रहे। स्वदेशी आंदोलन के कारण इन्हें यह पद त्यागना पड़ा। सन् १८७७ ई० मे इन्होंने हिंदी-प्रवर्धिनी सभा स्थापित की और वहीं से हिंदी-प्रदीप पत्रिका निकाली, जिसे बहुत दिनों तक घाटा उठाकर चलाया। इन्होंने बहुत से छोटे छोटे गद्य-प्रबंध, कई उपन्यास तथा चार पाँच नाटक लिखे। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शब्दसागर के यह भी एक संपादक रहे। इनकी मृत्यु श्रावण कृ०१३ सं० १९७१ सोमवार को हुई। प्रयाग का भारतीभवन पुस्तकालय इन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

भट्टजी ने कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह, पद्मावती, शर्मिष्ठा तथा चंद्रसेन नाटक लिखे थे। इनमें पद्मावती तथा शर्मिष्ठा माइकेल मधुसूदनदत्त कृत बंगला नाटकों के अनुवाद हैं, जिनमें प्रथम क्रमशः सन् १८७८ ई० के हिंदी प्रदीप में प्रकाशित हुआ है। प्रथम तीन तत्कालीन सामाजिक विषय लेकर लिखे गए है और उन विषयों को लेकर उस समय अनेक लेखकों ने नाटक, उपन्यास, लेख आदि

लिखे हैं। चंद्रसेन नाटक स्यात् पौराणिक है पर वह देखने में नहीं आया।

भट्टजी वर्तमान हिंदी गद्य भाषा की नीव रखनेवाले लेखकों में से थे। यह भारतेंदुजी के घनिष्ठ मित्रों में से थे और हिंदीप्रदीप का शीर्षक पद भी भारतेंदुजी कृत ही है। भट्टजी अपने को भारतेंदुजी का अनुयायी कहते थे और उन्हीं की भाषा-प्रणाली को अपनाया था। तब भी इनकी भाषा इनकी निजी है और उसपर इनकी छाप स्पष्ट लगी हुई है। इसमें कुछ ऐसा अनोखापन है, जो अन्यत्र जल्दी नहीं मिलता। व्यंग्य तथा हास्य-मिश्रित भाषा तीव्रता तथा परिहास से भरी रहती है और शृंगारिक अंश अत्यंत सरस होते हैं। गहन विषय की भाषा गंभीर साहित्यिक होती है। मुहावरों की यह बड़ी शिष्ट योजना करते थे। बातचीत तक में यह मुहावरों का सुदर प्रयोग करते रहते थे। इनके ये छोटे-छोटे रूपक वास्तव में उस समय के सामाजिक अनाचार पर हृदयस्पर्शी लेख है, केवल कथोपकथन देकर उन्हे विशेष पठनीय बना दिया गया है।

हरिश्चंद्र मैगजीन के १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या में 'बाला-विवाह' नामक एक नाटक की प्रस्तावना तथा प्रथम गर्भांक प्रकाशित

श्रीशरण

हुआ है, जिसके लेखक श्रीशरणजी हैं। पात्रों का नामकरण अच्छा व्यंग्यमय किया गया है, जैसे कीर्ति-कंटक सेठ, क्षुद्रबुद्धि पुरोहित, दुर्जना नाऊ आदि। इसमें बाल्य-विवाह की बुराई दिखलाई गई है। इसी संख्या में इनके एक उपन्यास धैर्यसिंधु का प्रकाशन भी आरंभ हुआ है।

जब्बलपुर जिला के अंतर्गत गढ़ा के ताल्लुकादार राजा अमानसिह गोटिया की भी वार्डस् स्कूल काशी में भारतेंदुजी से मित्रता हुई और

अमानसिह गोटिया

यह यहाँ छः वर्ष तक अध्ययन कर अपने राज्य को लौट गए। इन्होंने पं० जगेश्वरदयाल की सहायता से मदन-मजरी नाटक लिखा था, जिसके 'बनाने में हमारे बाबू हरिश्चंद्र ने बड़ा ही श्रम किया कि इसको शुद्ध करके प्रचलित करा दिया।' यह नाटक खेलने में भी भारतेंदुजी का साथ देते थे। इस नाटक मे प्रेमलीला का वर्णन है और अनेक सुकवियों के चुने हुए कवित्त सवैये दिए गए है। राजकुमार मदनमोहन तथा कुमारी मंजरी के अनुरक्त होने से कथावस्तु का आरंभ होता है। दोनों में पत्र-व्यवहार के अनतर मिलन होता है पर कुमारी का पिता पता पाकर कुमार को कैद कर देता है। दोनो विरह विह्वल होते है। कुमार का पिताससैन्य आकर

उसे छुड़ाता है और विवाह होता है। अंत में मंजरी अप्सरा बनकर कुमार की परीक्षा लेती है। यह नाटक विद्यासुंदर की चाल पर बना है और उसके कई पद भी इसमें दिए गए हैं। फारसी मिश्रित पद भी दो एक आ गए हैं। नाटक साधारण है पर भाषा उस समय के लिए परिमार्जित है।

दामोदर शास्त्री

पूना-निवासी पं० दामोदर शास्त्री काशी में आ बसे थे। माता, पिता, स्त्री तथा पुत्र सभी के काशीवास लाभ करने पर और जीविका-रहित होने से यह भारतेंदुजी के साथ रहने लगे। सन् १८७४ ई० में यह बिहार में एक स्कूल के पंडित होकर चले गए और कुछ दिन बाद बिहारबंधु पत्र के संपादक हुए। वहाँ कुछ दिन रहकर यह पुनः भारतेंदुजी के पास चले आए। संस्कृत में 'विद्यार्थी' पत्रिका निकालते रहे, जो बाद को मोहन-चंद्रिका में सम्मिलित हो गई। संस्कृत में कई पद भारतेंदुजी तथा अपने नाम की छाप से बनाए हैं। मराठी तथा हिंदी मे भी बहुत से पद बनाए हैं। इन्होंने रूपक रूप में रामलीला सातो कांड लिखा है और बालखेल तथा राधामाधव दो नाटक लिखे है। बालखेल हरिश्चंद्र-मोहन-चंद्रिका के श्रावण सं० १९३६ की संख्या मे छपना शुरू हुआ था और राधामाधव का कुछ अंश अगस्त सन् १८७९ ई० के सारसुधानिधि में प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद है। मृच्छकटिक का भी हिंदी अनुवाद किया है। महाराष्ट्र होते भी यह शिष्ट हिंदी लिख लेते थे। रामलीला सातो कांड अलग अलग लिखा है। ये अधिकतर गद्य ही में है, पर कहीं कहीं सवैया कवित्त भी दिए गए हैं। अरण्यकांड में सूर्पणखा द्वारा बत्तीस पदों में श्रीसीताजी का नख-शिख वर्णन किया है। भाषा की दृष्टि से यह भारतेंदुजी के अनुगामी रहे।

पंड्याजी

पं० मोहनलाल विष्णुलालजी पंड्या का जन्म सं० १९०७ में हुआ था। कुछ दिन स्कूल में शिक्षा प्राप्तकर घर ही पर अध्ययन करते रहे। इनके पिता भारतेंदुजी के घर काम काज से आते जाते थे इससे पंड्याजी से इनसे मित्रता हो गई। इसके अनंतर यह उदयपुर चले गए। इन्होंने प्रायः एक दर्जन पुस्तकें लिखी हैं और पृथ्वीराज रासो का संपादन किया है। इन्होंने एक प्रह्लाद नाटक लिखा है, जिसका प्रथम अंक प्रथम गर्भांक हरिश्चंद्र मेगजीन की १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या मे छपा है। इसमें प्रस्तावना नहीं है और केवल गद्य में है। भाषा शुद्ध हिंदी है।

यह उन्नाव-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे पर इनके पिता संकटाप्रसाद ज्योतिषी कानपुर मे आ बसे थे। इनका जन्म आश्विन कृ० ९ सं० १९१३ को हुआ था। स्कूल में कुछ दिन शिक्षा प्राप्त कर उसे छोड़ दिया और गृह पर ही अध्ययन करते रहे। 'कवि-वचन सुधा' के पढ़ने से हिंदी-प्रेम इनमें अंकुरित हो उठा।

प्रतापनारायण मिश्र

कानपुर मे लावनी की चर्चा उस समय अधिक थी, इससे लावनी के साथ कविता की ओर भी इनकी रुचि हो गई। सन् १८८३ में यह 'ब्राह्मण' पत्र निकालने लगे, जिसमें इनके हास्य तथा व्यंग्यपूर्ण लेख और कविता बराबर निकलती थी। सन् १८८९ ई० मे हिन्दुस्तान के सहकारी संपादक हुए। इन्होंने १२ अनूदित तथा २० मौलिक पुस्तके लिखीं। यह स्वतंत्र प्रकृति के मनमौजी पुरुष थे। नाट्य-कला के प्रेमी थे। आषाढ़ शुक्ला ४ सं० १९५१ को इनका शरीरांत हुआ। इन्होंने छः नाटक-प्रहसन लिखे हैं, जो सभी साधारण कोटि के हैं।

भारत-दुर्दशा रूपक केवल तीन अंकों में लिखा गया है, जो भारतेंदुजी कृत भारत-दुर्दशा की नकल पर बना है। यह बिलकुल साधारण है। अभिज्ञान शाकुंतल का स्वतंत्र अनुवाद गीतिकाव्य में करके उसका संगीत-शाकुंतल नाम रखा है। अनुवाद अच्छा हुआ है और भाषा खड़ी बोली है। सन् १८८६ ई० मे कलिकौतुक रूपक प्रकाशित हुआ। इसमे व्यभिचार, मांस-मदिरा-सेवन, भंड-साधुओं के कपट, दुराचारियों के अनाचार आदि दिखलाए गए हैं। इसमें चार दृश्य हैं और प्रस्तावना न देकर केवल एक दोहे में नांदी दी गई है। भाषा अच्छी है तथा विषय का प्रतिपादन अच्छा है। कुकर्म का फल तथा उसके मित्र दोनों ही बुरे होते हैं। कुछ गाने भी दिए गए हैं तथा उर्दू शैरो का काफी पुट है।

इनके सिवा गो-संकट नाटक, कलिप्रभाव, जुआरी खुआरी तथा हठी हमीर भी इनकी रचनाएँ है, जिनमें अंतिम ऐतिहासिक है। अलाउद्दीन खिल्जी ने अपने एक सरदार को शरण देने के कारण हम्मीरसिंह पर चढ़ाई की थी, उसी घटना को लेकर यह नाटक लिखा गया है। जुआरी खुआरी साधारण प्रहसन है और प्रथम दोनों नाटक सामाजिक हैं।

मिश्र जी में प्रतिभा, कवित्व-शक्ति तथा शिष्ट परिहासप्रियता अच्छी मात्रा में थी और कई भाषाओं पर अच्छा अधिकार था। मुहाविरों, ग्रामीण कहावतों का वह ऐसा अच्छा प्रयोग करते थे कि भाषा में जान आ जाती थी। उर्दू की जिंदादिली इनके नस-नस में भरी थी। भारतेंदु-जी के यह परम भक्त थे और उनकी यह श्रद्धा उस समय से अब तक

कुछ विशिष्ट लोगों को बराबर खलती रही है। मिश्रजी के उपर्युक्त गुणों का उनकी कविता तथा गद्यलेखों में जितना परिचय मिलता है उतना उनके नाटकों में नही। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि मन-मौजीपन से इन्होंने भी नाटक लिख डाले है पर इनकी प्रवृत्ति इस ओर अधिक नहीं थी और इसी से इन रचनाओ में अधिक परिश्रम नहीं कर सके तथा न मनोयोग दे सके।

इनका जन्म अगहन बदी ७ सं० १६०८ को कलकत्ते में हुआ था। आपने एंट्रेंस तक शिक्षा प्राप्त की थी। यह कई स्थानो में जीविका के

कार्तिकप्रसाद

निमित्त घूमते फिरते रहे पर अंत में काशी में आकर रहने लगे। यहीं ६ जुलाई सन् १९०४ ई० को मृत्यु हो गई। आपने कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया था और प्रायः बीस पुस्तकें लिखीं, जिनमें बगला के अनुवाद अधिक हैं। हिंदी के प्रचार में आपका विशेष हाथ था। आपका एक नाटक 'रेल का विकट खेल' हरिश्चंद्र मैगजीन की १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या में छपने लगा था। इसकी प्रस्तावना तथा प्रथम अंक ही उक्त संख्या में प्रकाशित हुआ था। इनकी भाषा भी भारतेंदु काल ही की थी और संयत तथा गंभीर होती थी। इसमें ग्रामीण भाषा का भी अच्छा समावेश किया गया है।

यह इलाहाबाद के अंतर्गत सिरसा में बस गए थे पर इनके पूर्वज आगरा के रहनेवाले थे। इनके पिता दयालदास टंडन खत्री थे। इनका

काशीनाथ खत्री

जन्म सं० १६०६ में आगरे में हुआ था और इन्होंने प्रयाग में शिक्षा प्राप्त की थी, जहाँ इनके बड़े भाई नौकर थे। शिक्षा समाप्त होते ही उसी स्कूल में यह अध्यापक नियत हो गए और बाद को सिरसा में प्रधान अध्यापक के पद पर इनकी बदली हो गई। बारह वर्ष इस पद पर रहे और इसके अनंतर यह स्कूल ही टूट गया। इसके बाद गवर्नमेंट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर तथा लाट साहब के दफ्तर के पुस्तकाध्यक्ष नियत हुए। कुछ दिन बाद नौकरी छोड़कर यह सिरसा में रहने लगे और लेन देन का व्यापार करने लगे। यहीं साहित्य-सेवा में अंत तक लगे रहे। ६ जनवरी सन् १८६१ ई० को इनकी मृत्यु हो गई।

नाटक-रचना में इनका प्रथम प्रयास 'ग्राम पाठशाला तथा निकृष्ट नौकरी' नाटक है, जो पहिले हरिश्चंद्र-चंद्रिका तथा कवि-वचन सुधा में प्रकाशित हुआ था। बाद को सन् १८८३ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। ये दो छोटे छोटे स्वतंत्र नाटक है। प्रथम में मुदर्रिसों अर्थात्

ग्राम पाठशाला के अध्यापकों की दुर्दशा दिखलाई है और दूसरे में नौकरी मिलने में कितनी कठिनाई उठानी पड़ती है और मिल जाने पर भी कितनी दुर्दशा भोगनी पड़ती है, यह दिखलाया गया है। दोनों में अलग अलग प्रस्तावना दी गई है। 'तीन इतिहासिक रूपक' तीन अति छोटे छोटे रूपकों का संग्रह है। पहिला 'सिंधु देश की राजकुमारियाँ' वह ऐतिहासिक घटना है, जो मुसल्मानों की सिंध पर प्रथम चढ़ाई के समय घटित हुई थी। दूसरे 'गुन्नौर की रानी' में भूपाल-राजवंश के संस्थापक तथा गुन्नौर के पराजित राजा की विधवा रानी का वृत्तांत है और तीसरे 'लव जी का स्वप्न' में रघुवश की एक कथा लव के स्वप्न को लेकर कथावस्तु रचा गया है। इन तीनों में व्यापार का विस्तार प्राय नहीं सा है। यह सन् १८८४ ई० में प्रकाशित हो चुका था। इसके सिवा इन्होने बाल-विधवा-संताप नाटक लिखा है, जो छोटा-सा एक रूपक है। इसमें विधवाओं के कष्ट दिखलाते हुए विधवा-विवाह का शास्त्रीय प्रमाणों से समर्थन किया है।

बाबू काशीनाथ अच्छे अनुवादक अवश्य थे और इनकी रचनाओं में अधिकांश अनुवाद ही हैं। यह सशक्त प्रतिभाशाली लेखक नहीं थे। इनकी मौलिक रचनाएँ अधिकतर देश-हितकर, नीति, धर्म, समाज आदि विपयों पर ही लिखी गई हैं। इनके नाटक भी ऐसे ही विषयों पर लिखे गए हैं पर न वे विशेप जोरदार है और न अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हुए है। नाट्य-शास्त्र के ज्ञान का भी इन रूपकों से अधिक परिचय नही मिलता पर ये अवश्य ही तत्कालीन दशा का अच्छा दृश्य उपस्थित करते है।

यह मुरादाबाद निवासी वैश्य थे और वैद्यगी करते थे। इन्होंने बहुत सी पुस्तके अनेक विषयों पर लिखी हैं, जिनमे माधवानल-कामकंदला, मयूरध्वज, लावण्यवती. अर्जुन मदमर्दन, पुरुविक्रम, अभिमन्यु वध आदि नाटक हैं। यह इसी नाम की छाप से कविता भी करते थे, जो अति साधारण तथा शिथिल होती थी। भाषा पर भी इनका विशेष अधिकार नहीं था और वह अशुद्ध भी होती थी। पुरानापन तथा ब्रजभापा का मेल भी बहुत है। नाटकों के वस्तु-संगठन, कथोपकथन आदि भी अत्यंत शिथिल हैं। हाँ, लिखा बहुत है। इनका रचनाकाल सं० १९२५ से १९५५ तक है। इनके मालती-माधव की कथा की सूचना 'सुदशा प्रवर्तक' के सितंबर सन् १८८१ ई० के अंक में निकली थी। अभिमन्यु-वध का लिखा जाना सं० १९३७ में आरंभ

शालिग्राम

हुआ था। इस नाटक का नाम जयद्रथ-वध अधिक समीचीन होता क्योंकि कथानक वहाँ तक पहुँचकर समाप्त हुआ है। ८० वे पृष्ठ पर अभिमन्यु का वध होता है और उसके बाद ११२ पृष्ठों में जयद्रथ-वध दिखलाया गया है। इस कथानक के लिए जितने ओज की आवश्यकता थी, उतना नही आ सका है और चरित्र-चित्रण भी किसी पात्र का उपयुक्त नहीं हुआ है। नाटक साधारण है।

पुरु-विक्रम में सिकंदर तथा पुरु के युद्ध को रूपक का रूप दिया गया है पर नाटककार का इतिहास-ज्ञान बिलकुल थोथा है। यवन (ग्रीक) को मुसलमान मान लेना सबसे बड़ी भूल हुई है। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण नही के समान है और कथोपकथन में कुछ भी दम नहीं है। भाषा भी सदोष है। नाटक साधारण है। यह स्यात् इनकी अंतिम रचना है।

राजा मोरध्वज एक प्रसिद्ध भक्त नरेश हो गए हैं। उसी कथा को रूपक का यह रूप दिया गया है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को मोरध्वज का पुत्र रोक लेता है और युद्ध में सब को, अर्जुन को भी, परास्त करता है। अंत में श्रीकृष्ण अर्जुन के कहने पर साधु बनकर भक्त की परीक्षा को जाते हैं और वह उस परीक्षा में सफल होता है। कृष्णजी दोनों में मैत्री कराकर घोड़ा दिलवा देते हैं। मोरध्वज तथा उनके पुत्र का चित्रण अच्छा हुआ है और जो कुछ वस्तु है, उसका संगठन भी सुस्पष्ट किया गया है। भाषा में ब्रजभाषा का पुट है और नाटक प्राचीन शैली पर है।

माधवानल-कामकंदला बड़ा नाटक है। यह अंक-गर्भांक में विभक्त भी है पर है नाटक रूप में आख्यानक मात्र। माधवानल और कामकंदला ने पूर्व जन्म की आपस की कथा कहने में छब्बीस पृष्ठों का एक गर्भांक दिखला डाला है। कई पृष्ठों के बड़े बड़े स्तोत्र, बारहमासा, विरह की कविता भरी हैं, और उसपर खूब लंबे लंबे भाषण या बतकही दी हुई है। व्यापार अधिक है नहीं, इसलिए यह सब भर्ती की गई हैं। शिथिल भाषा में साधारण नाटक है।

इनके अन्य नाटक भी प्रायः इसी प्रकार के हैं।

यह प्रयाग समाचार पत्र के संपादक थे। इन्होंने जयनारसिंह की, होली खगेश, चक्षुदान आदि नाटक लिखे हैं। प्रथम छोटा सा रूपक है, जिसमें दवा न कर झार-फूँक करके ही बच्चों का मूर्खगण द्वारा प्राणनाश करना दिखलाया गया है। यह प्रायः पूरा ग्रामीण भाषा में लिखा गया है। इनके अन्य नाटक देखने मे नहीं आए।

देवकीनंदन त्रिपाठी

प्रसिद्ध साहित्यसेवी पं० मयाशंकरजी याज्ञिक के पूर्वजों में से यह थे और याज्ञिक के अपभ्रंश-रूप जानी अल्ल से प्रसिद्ध थे। इन्होंने विज्ञान विभाकर नाटक लिखा है, जिसका तीसरा अंक ३१ मई सन् १८८० ई० के सारसुधानिधि मे प्रकाशित हुआ है। यह भरतपुर राज्य के दीवान थे तथा रायबहादुर की पदवी से विभूषित थे। उक्त नाटक के सिवा अन्य कई पुस्तके लिखी है। यह प्राय· सं० १९६७ तक वर्तमान थे।

बिहारीलाल

मझौली राज्य के महाराजाधिराज कुमार लाल खड्गबहादुर-मल्ल हिंदी-साहित्य के प्रेमी थे। इन्होंने प्रायः १४–१५ पुस्तके लिखी हैं, जिनमें महारास, बाल-विवाह विदूषक, भारत आरत, कल्पवृक्ष, हरितालिका, भारत-ललना तथा रति-कुसुमायुध नाटक है। यह भारतेंदुजी के परम मित्रों में से थे और बॉकीपुर का खड्गविलास प्रेस इन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

खड्गबहादुर मल्ल

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के यह फुफेरे भाई थे। इनका जन्म सं० १६२२ में हुआ था और इनके पिता तथा बड़े भाई की मृत्यु पर इनका पालन भारतेंदुजी के यहाँ हुआ था। एंट्रेंस तक पढ़कर इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और गृह पर ही हिंदी, उर्दू, बॅगला आदि की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। नागरी प्रचारिणी सभा काशी के यह प्रमुख नेता थे और उसके उन्नयन में अंत तक दत्तचित रहे। यह सुकवि तथा अच्छे गद्य-लेखक थे। इन्होंने प्रायः पच्चीस पुस्तके लिखीं, जिनमें चार नाटक हैं। भारतेंदुजी के सतीप्रताप को भी इन्होंने पूरा किया था। ४२ वर्ष की अवस्था में सं० १६६४ में इनकी मृत्यु हो गई।

राधाकृष्णदास

इनका पहिला रूपक 'दुःखिनी बाला' है, जो हरिश्चंद्र-चंद्रिका तथा मोहन-चद्रिका मे सं० १६३७ में प्रकाशित हुआ था। उसी वर्ष यह पुस्तकाकार भी छपा था। इसके दो वर्ष बाद यह कुछ सुधार कर तथा कथोपकथन और एक दृश्य बढ़ाकर प्रकाशित किया गया। नायिका श्यामा दूसरी आवृत्ति में सरला हो गई। यह कुल गद्य में है और छः दृश्य हैं। प्रथम में प्रस्तावना है और द्वितीय में पुत्रोत्पत्ति पर व्यर्थ का व्यय दिखलाया गया है। ये दोनों बहुत छोटे है। तीसरे में जन्मपत्री बनने के कारण, सुशील शिक्षित बड़े वर को छोड़कर, कुरूप छोटे वर से शादी की जाती है। चौथा दृश्य द्वितीय आवृत्ति में बढ़ाया गया है और इसमें वर की जड़ता दिखलाई गई है। पॉचवे में विधवा सरला का कष्ट वर्णित है और छठे में कष्ट न सह सकने के कारण वह विष खा

लेती है। यह साधारण रूपक है और अपव्यय, विधवा-विवाह आदि कुरीतियों पर लिखा गया है।

इनका दूसरा नाटक महारानी पद्मावती अथवा मेवाड़-कमलिनी ऐतिहासिक है। महाराणा रत्नसेन की रानी पद्मावती के सौंदर्य को सुनकर दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। हारने पर धोखे से संधि का बहाना कर चित्तौड़ आता है और रत्नसेन को कैद कर ले जाता है। पद्मावती सात सौ वीरों को डोलियों में बिठाकर साथ ले अलाउद्दीन के डेरे में जाती है और रत्नसेन को छुड़ाकर ले आती है। अलाउद्दीन क्रुद्ध हो चित्तौड़ घेर लेता है, स्त्रियाँ जहरव्रत करती हैं और क्षत्रियगण युद्ध में मारे जाते हैं। यह नाटक छः अंकों तथा उन्नीस दृश्यों में विभाजित है। यह वीर रस पूर्ण नाटक है और भाषा, गद्य तथा पद्य, दोनों की, ओजपूर्ण तथा प्रांजल है। नायक, नायिका तथा प्रतिनायक सभी का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। पात्रों की बातचीत भी सरल तथा उनके उपयुक्त हुई है। कुल बातो का विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस नाटक की रचना में नाटककार सफल हुआ है। इसमें काफी कविता का भी समावेश हुआ है जो वीर रस के अनुकूल है। इसकी भूमिका में आरंभ से उस समय तक का मेवाड़ का इतिहास दिया गया है।

धर्मालाप में भारत के प्राचीन सनातन धर्म तथा अन्य धर्मों के माननेवालों के, नई पुरानी रोशनी के, आपस में कथोपकथन है, जो सं० १९४२ मे लिखा गया था। पहिले यह धर्मामृत पत्र में छपा और बाद को पुस्तकाकार निकला। इसमे भारतेंदुजी के पद अधिकतर लिए गए हैं।

इनका सबसे बड़ा तथा सर्व-श्रेष्ठ नाटक महाराणा प्रतापसिंह सं० १९५४ में समाप्त हुआ था। इसका कुछ अंश पहिले साहित्यसुधानिधि में छपा था। इसकी भूमिका में अकबर की मेवाड़ पर चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त दिया गया है। इस नाटक में प्रस्तावना, सात अंक तथा छत्तीस गर्भांक हैं। द्वितीय अंक मे नौरोज के दिनों में अकबर किस प्रकार राजपूत बालाओं पर अत्याचार करता था और पृथ्वीराज की रानी ने किस प्रकार उसकी धर्षणा कर उसकी आदत छुड़ाई थी, इसका बड़ी ओजपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। चतुर्थ अंक के प्रथम गर्भांक में अकबर का तानसेन के साथ वृंदावन जाना प्रदर्शित किया गया है और पाँचवें में एक वेश्या तथा साधारण मुसल्मानो की बकवाद है। छठे

अंक के चौथे गर्भांक मे बालकों का खेल है और पाँचवें मे उक्त मुसलमानों की भँड़ैती है। नाटक के मुख्य कथावस्तु से इन सबका कोई संपर्क नही है। मुख्य कथावस्तु प्रधानतः अकबर का मेवाड़ पर विजय करने का प्रयास तथा महाराणा प्रताप का उन्हे विफल करना है। नाटक का आरंभ प्रताप के राजदरबार से होता है, जिसमें अकबर से देश की रक्षा करने का प्रण किया जाता है। दूसरे तथा तीसरे गर्भांक मे भी राजपूतों तथा महाराणी द्वारा भी क्रमशः उसी का समर्थन किया जाता है। तीसरे अंक मे राजा मानसिह का आतिथ्य और अपमान होता है। इसी अंक के तीसरे और चौथे गर्भांक मे प्रासंगिक कथा आरंभ होती है, जो एक वीर युग्म की प्रेम-कथा है। गुलाबसिंह तथा मालती पारस्परिक प्रेम रखते हुए भी स्वदेश को शत्रु से मुक्त न होने तक अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करते है और दोनों इस कार्य मे दत्तचित्त होते हैं। चौथे अंक में गुलाबसिंह पता लगाने दिल्ली पहुँचते है और अकबर को उत्तेजित कर मानसिह के मेवाड़ पर चढाई करने की आज्ञा लेने का समाचार पृथ्वीराज के पत्र सहित लेकर मेवाड़ लौटते है। पंचम अंक में पत्र प्रताप को मिलता है, शाही सेना अजमेर पहुँचती है और महाराणा युद्ध को जाते है। युद्ध मे घायल महाराणा की उनके भाई सक्ता जी जंगल मे रक्षा करते है और चेतक घोड़े की मृत्यु होती है। इसी अंक के दो गर्भांकों मे मालती तथा गुलाबसिह का प्रेम अलग अलग दिखलाया गया है। छठे अंक के प्रथम गर्भांक में सलीम आकर हल्दी घाटी की विजय का समाचार कहता है और उत्सव मनाया जाता है। दूसरे गर्भांक मे राणा प्रताप का कष्ट दिखलाया जाता है। तीसरे में मालती तथा गुलाबसिंह का मिलन होता है पर उसी प्रण के अनुसार दोनों तुरंत अपने कार्य मे लगते हैं। छठे गर्भांक मे आहत गुलाबसिंह को खोजकर ले जाते है। सप्तम अंक के प्रथम गर्भांक मे मुसलमानी सेना का आक्रमण तथा युद्ध, द्वितीय मे भीलों द्वारा महाराणा के परिवार की रक्षा और तृतीय मे घोर वन मे महाराणा के कष्ट दिखलाए गए हैं। इन कष्टों से उकताकर महाराणा ने सधि का प्रस्ताव किया और यह समाचार पाकर अकबर की प्रसन्नता तथा पृथ्वीराज की शंका चौथे गर्भांक मे दिखलाई गई है। पाँचवे मे गुलाबसिंह पृथ्वीराज का पत्र लाकर महाराणा को देते हैं और वह पुनः युद्ध के लिए उत्साहित होते हैं। छठे में महाराणा मेवाड छोड़कर जाने का प्रबध करते हैं कि उनके मंत्री भामाशाह अपना सब धन उन्हे सौंप देते हैं और पुनः सेना एकत्र कर मेवाड

पर अधिकार किया जाता है। सातवें में अकबर को समाचार मिलता है कि प्रताप ने पुनः मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। आठवें में महाराणा के दरबार में गुलाबसिंह तथा मालती के विवाह का प्रबंध करना और पुत्र को स्वदेश-प्रेम का उपदेश देना वर्णित है।

यह नाटक शुद्ध ऐतिहासिक कथावृत्त पर गठित हुआ है पर साथ ही गुलाबसिंह तथा मालती की गौण-कथा भी चलती रही है, जो मूल कथावस्तु के साथ समाप्त हुई है। कथावस्तु अवश्य कुछ विशद हो गया है पर तब भी पूर्णरूपेण सुश्रृंखलित है, कहीं भी शैथिल्य नहीं आने पाया है। आधिकारिक कथा के नायक तथा प्रतिनायक महाराणा प्रताप और सम्राट् अकबर तथा प्रासंगिक के नायक-नायिका गुलाबसिंह और मालती हैं। इन दोनों का शुद्ध तथा सच्चा प्रेम है पर वे कभी उस प्रतिज्ञारूपी दीवाल का, जिन्हें उन्हीं दोनों ने देशप्रेम की दृढ़ भित्ति पर उठाया था, उल्लंघन नहीं करते। मालती आहत गुलाबसिंह को खोजने के लिए भयंकर युद्धस्थल में निर्भीक होकर जाती है और बराबर अपने प्रिय को देशसेवा के लिए उत्तेजित तथा उत्साहित करती रहती है। उनके इन कार्यों को उनका राजा अच्छी प्रकार पुरस्कृत करता है, केवल धन से ही नहीं, हृदय से। महाराणा प्रताप का चरित्र-चित्रण भी अनुपम हुआ है। वह सुख में तथा दुःख में, ऐश्वर्य तथा निर्धनता में स्वदेश तथा स्वदेश-हितैषियों के लिए सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते थे। युद्ध में सेना-संचालन करते भी सबके आगे रहते थे और अनेक कष्ट सहते भी हतोत्साह नहीं होते थे। बालिका के कष्ट से एक बार विचलित होना तथा पुनः अपने कार्य में अदम्य उत्साह के साथ संलग्न होना दिखलाकर नाटककार ने महाराणा प्रताप के चरित्र को उज्ज्वलतर ही किया है। सम्राट् अकबर के यौवन की अविवेकता को एक ही ठोकर में दूर करना, उसकी राजनीति तथा शत्रु की भी वीरता और स्वदेश प्रेम की दाद देना दिखलाकर प्रतिनायक के हृदय की महानता स्पष्ट की है। राजपूतों, भीलों तथा मंत्री भामाशाह और अन्य गौण पात्रों के भी चित्रण अच्छे हुए हैं। कथोपकथन भी प्रत्येक पात्र के योग्य ही दिया गया है और भाषा भी अनुकूल रखी गई है। कविता अधिक नहीं है पर जो है उन सब में संजीवनी शक्ति भरी है और वीर रस के उपयुक्त ओज से पूर्ण है। कुछ पद प्रेम के भी हैं जिनमें मृदुलता है। नाटककार सुकवि हैं और उनका भाषा पर अच्छा अधिकार है। स्वच्छ सरल तथा अवसर के अनुकूल होते पाठक या श्रोता को तात्पर्य तुरंत हृदयगम करा

देने की उसमें शक्ति है। इस नाटक का प्रधान रस वीर है पर साथ-साथ शृंगार तथा हास्य का भी पुट दिया गया है। इस नाटक का अभिनय भी कितनी ही बार सफलतापूर्वक हुआ है। तात्पर्य यह कि यह नाटक हिंदी की प्रथम श्रेणी के नाटकों में से है और भारतेंदुजी तथा प्रसादजी के बीच के समय का यह सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

सतीप्रताप भारतेंदुजी अधूरा छोड़ गए थे, जिसे बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया था। अनुकरण करने की इनकी शक्ति सराहनीय है और इस प्रकार इस नाटक को पूरा किया है कि यदि बतलाया न जाय तो कोई नहीं कह सकता कि इन्होंने कितना अंश लिखा था।

इनके पिता सन् १८४० ई० मे पंजाब से आकर काशी में बस गए। उनके तीन पुत्रों में सबसे छोटे यही थे। इनका जन्म सं० १९१६ में यहीं हुआ। इनके पिता इन्हें एक वर्ष का छोड़कर मरे थे पर इनकी माता ने अपने पुत्रों का बड़े कष्ट से पालन किया। इन्होंने संस्कृत लेकर बी० ए० तक पढ़ा था। भारतेंदुजी की इन पर बड़ी कृपा थी। इन्होंने इनके पत्र तथा प्रेस का भारत-जीवन नामकरण किया था। इस प्रेस से उस समय हिंदी की बहुत अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं और इनके पत्र ने भी हिंदी-प्रचार मे हाथ बँटाया था। जलोदर रोग से २५ दिसंबर सन् १९०६ ई० को इनकी मृत्यु हो गई।

रामकृष्ण वर्मा

इन्होंने कथा-सरित्सागर का दस भाग तक अनुवाद किया तथा कई अन्य पुस्तके लिखीं। नाटको में इन्होंने मौलिक एक भी नहीं लिखा है पर अनुवाद कई किए हैं। ये सभी बंगला से अनूदित हैं। इनके नाम कृष्णकुमारी नाटक, पद्मावती तथा वीर नारी हैं।

कृष्णकुमारी नाटक में मेवाडपति भीमसिह की पुत्री कृष्णकुमारी से विवाह के लिए जोधपुर तथा जयपुर के दोनों नरेशों ने संदेश कहलाया और साथ ही दोनो ने यह भी धमकी दी कि यदि उनकी प्रार्थना स्वीकार न की जायगी तो वे मेवाड़ पर चढ़ाई करेंगे। उस समय मेवाड़ अत्यत निर्बल हो रहा था और मराठो तथा पिंडारों से लुट लुटा चुका था। अंत में इस आक्रमण से मेवाड़ की रक्षा करने के लिए अमीरखाँ पिंडारा की राय से कृष्णा का बलिदान दिया गया था। इसी घटना पर माइकेल मधुसूदनदत्त ने यह नाटक रचा था, जिसका अनुवाद सन् १८८३ ई० में पहिले मथुरा के 'भारतेंदु' पत्र में क्रमशः छपा था। इन्हीं की दूसरी रचना पद्मावती का अनुवाद सन् १८८८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें राजा इंद्रनील तथा पद्मावती की प्रेमकथा है, जिसमें नारदजी तथा देव-

नारियों का समावेश कर पौराणिक रूप दिया गया है। इसके एक वर्ष बाद वीरनारी का अनुवाद हुआ, जिसमें सिधुनरेश दाहिर के मारे जाने पर उनकी रानी का युद्ध करना और अंत में अनेक क्षत्राणियों के साथ साथ जहरव्रत लेना वर्णित है।

ये सभी अनुवाद है, इससे नाट्यकला के विषय में आलोचना करने का स्थानाभाव है। परंतु वर्माजी अनुवाद-कार्य में सफल हुए है और इनकी भाषा भी मॅजी हुई है। कहीं कहीं कविता का पद्यानुवाद भी किया है। यह कविता में 'बलबीर' उपनाम रखते थे।

केशवराम भट्ट

महाराष्ट्र ब्राह्मण पं० केशवराम भट्ट का जन्म सं० १६११ आश्विन कृ० ५ को हुआ था। इन्होंने एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी और हिंदी, उर्दू तथा फारसी का गृह पर अच्छा अध्ययन किया था। सं० १६३१ में इन्होंने बिहार-बन्धु प्रेस खोला और बिहार-बन्धु समाचार पत्र प्रकाशित करने लगे। सं० १६३४ में यह ऑफिशिएटिंग डिप्टी इंसपेक्टर नियत हुए और उसी वर्ष स्थायी भी हो गए। इसके दो वर्ष बाद बिहार हाई इंगलिश स्कूल के प्रधान पंडित नियत हुए और तेरह वर्ष तक यह कार्य करते रहे। इन्होंने हिंदी में कई पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें दो तीन, स्कूलों में कई वर्षों तक पाठ्यग्रंथ नियत रही। इनकी मृत्यु स० १६६१ में माघ कृ० २ को हुई थी।

इन्होने अपनी अन्य रचनाओ के सिवा दो नाटक लिखे हैं—सज्जाद-सुंबुल तथा शमसाद-सौसन। ये दोनों उर्दू शब्दावली से भरे हैं और पात्र भी सभी मुसल्मान हैं। ये दोनों स्वतंत्र भी नहीं हैं. जैसा भट्टजी ने स्वय भूमिका में लिखा है। सज्जाद-सुंबुल शरत्-सरोजिनी के और शमसाद-सौसन सुरेंद्र-विनोदिनी के आधार पर लिखे गए थे तथा दोनों इन्ही के बिहार-बंधु द्वारा प्रकाशित किए गए थे। सज्जाद सुंबुल का प्रणयन सं० १९३१ (४ मार्च सन् १८७४ ई०) में आरंभ हो चुका था। इसमें ६ अंक हैं, जिनमें प्रथम तीन में चार चार और अंतिम तीन मे पॉच पॉच झॉकियॉ है। प्रेम-लीला के सिवा कुछ प्रहसन भी है। यह नाटक रूप मे उपन्यास है। इसमे डॉकू बदमाशो की लीला, झूठी मुकद्दमेबाजी, मार पीट तथा ऐसी ही घटनाएॅ भरी हैं, जो उपन्यासों ही में अधिक शोभा देती है। ऐसा ज्ञात होता है कि बंगला उपन्यास को नाटक का रूप दिया गया है। अनाथिनी सुंबुल सज्जाद के यहाॅ आश्रय पाती है और दोनों में प्रेम हो जाता है। सज्जाद की बहिन गुलशन से अब्बास प्रेम करने लगता है, जिसे सज्जाद आश्रय देता है।

शमशेर नामक रईस ने इसका सर्वस्व-मोचन कर इसे निकाल दिया था। बाद को इसीने सज्जाद के विरुद्ध मुकद्दमे चलाए, उसकी बहिन को चुरा ले गया पर अंत में वह स्वयं एक परित्यक्ता रखेली द्वारा मारा गया और सज्जाद-सुबुल तथा अब्बास-गुलशन में विवाह हो गया। बगाली वैज्ञानिक की अवतारणा में हास्य रस को पूरा अवसर दिया गया है।

शमसाद-सौसन सन् १८८० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें चार अक और १७ झाँकियाँ हैं। इसमें भारतेंदुजी का एक पद भी दिया गया है। इसमें पाँच पात्र और दो पात्री हैं। शमसाद और सौसन एक दूसरे से प्रेम करते हैं। शमसाद का कुछ रुपया रो साहब के यहाँ बाकी है, जिसे पक्का बदमाश चित्रित किया गया है। यह हैंडनोट लेकर फाड़ डालता है और शमसाद को मारकर निकलवा देता है। सौसन का भाई कैसर शरारती है और वह इन दोनों प्रेमियो में लड़ाई लगाता है पर उसका भी प्रेम शमसाद की बहिन हमीदा पर है। रो को शमसाद ने अवसर पाकर पीटा, जिसका बदला लेने को उसने हमीदा पर चोरी का इलजाम लगाकर हवालात में बंद कर दिया। रात्रि में वह उसपर अत्याचार करने गया पर कैदियों द्वारा मारा गया। हमीदा छूटकर आई और अत में कैसर ने अपनी करतून कहकर दोनों में विवाह करा दिया तथा उसका भी हमीदा से विवाह हो गया। रो का इन अत्याचारों में सहायक दीनानाथ बगाली है, जिसकी नीचता का अच्छा चित्रण किया गया है। ढेर का ढेर खानेवाले हाजी की अवतारणा कर हास्य का भी कुछ समावेश किया गया है।

दोनो में कथावस्तु सुगठित है और चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। शृगार प्रधान तथा हास्य, भयानक आदि गौण रस हैं। कथोपकथन भी अच्छा है। ग्रामीण भाषा का प्रयोग हुआ है। यद्यपि ये दोनो बँगला के आधार पर लिखे गए हैं पर कुछ मौलिकता लिए हुए है, इसीसे इतनी व्याख्या आवश्यक जान पड़ी।

बाबू बालेश्वरप्रसाद अग्रवाल बी० ए० भारतेंदुजी के अंतरंग मित्रों में से थे। यह पहिले नार्मल स्कूल के हेडमास्टर थे, बाद को डिप्टी कलेक्टर और फिर काशिराज के दीवान नियत हुए। यहाँ से हटने पर बोर्ड ऑव रेवेन्यू के सेक्रेटरी नियुक्त हुए। इन्होंने काशी-पत्रिका समाचार-पत्र निकाला, जो शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत हुआ था। प्रयाग का बेलवेडियर प्रेस इन्हींने स्थापित किया था, जहाँ से सतबानी सीरीज निकलती थी। यह राधास्वामी मत के माननेवाले थे। इन्होंने मर्चेंट ऑव वेनिस

के अनुवाद में, जिसे भारतेंदुजी ने दुर्लभ-बंधु नाम से किया था, सहायता दी थीं और स्वयं भी वेनिस का सौदागर नाम से उसका स्वतंत्र अनुवाद किया था।

मिर्जापुर निवासी पं० बद्रीनारायणजी उपाध्याय 'प्रेमघन'जी के यह छोटे भाई थे। इन्होने प्रयाग से बी० ए० की परीक्षा पास की थी।

मथुराप्रसाद उपाध्याय

शेक्सपीअर के प्रसिद्ध नाटक मैकबेथ का अंग्रेजी से हिंदी में 'साहसेंद्र-साहस' नाम से अनुवाद किया है, जो पहिले क्रमशः आनंद-कादंबिनी में प्रकाशित होता रहा और बाद को सन् १८९३ ई० में पुस्तकाकार छपा। अनुवाद की भाषा क्लिष्ट संस्कृत गर्भित और यत्र-तत्र पूर्ण संस्कृत हो गई है। इनकी शैली इनके अग्रज ही के प्रायः समान है। गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में सफलतापूर्वक अनुवाद हुआ है तथा नामों को भी संस्कृत रूप दिया गया है।

यह श्रद्धेय महामना पंडित मदनमोहनजी मालवीय के पितृव्य थे। इन्होंने मुद्राराक्षस का भी अनुवाद किया था पर भारतेंदुजी के अनुवाद को देखकर अपना अनुवाद नहीं प्रकाशित कराया।

गदाधर भट्ट

इन्होंने शूद्रक के मृच्छकटिक का हिंदी अनुवाद किया है, जो अच्छा हुआ है। हिंदी प्रदीप के सितंबर, सन् १८८० ई० के अंक में इसका छपना आरंभ हुआ था।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपने 'नाटक' निबंध मे अपने समय के नाटकों की जो सूची दी है, उसमें इनका नाम भी दिया है। इन्होंने

ठाकुर दयालसिंह

संस्कृत से मृच्छकटिक का और अंग्रेजी से मर्चेंट ऑव वेनिस का 'वेनिस का सौदागर' नाम से अनुवाद किया था। दोनों ही अनुवाद देखने में नहीं आए।

आपका जन्म चैत्र कृष्ण १३ सं० १९१९ को हुआ था। आप जयपुर-निवासी थे पर साहित्य-सेवा का अधिक कार्य आबू में हुआ था,

पुरोहित गोपीनाथ

जहाँ यह जयपुर राज्य की ओर से एजेंट गवर्नर-जेनरल के यहाँ बहुत दिनों तक रहे थे। इन्होंने आगरा कॉलेज से सन् १८८९ ई० में एम० ए० परीक्षा पास की थी। इन्होंने गद्य पद्य की अनेक रचनाओं के सिवा शेक्सपिअर के कई नाटकों का हिंदी में अच्छा अनुवाद किया है। 'ऐज़ यू लाइक इट' का मन-भावन के, 'रोमियो एंड जूलिअट' का प्रेमलीला नाटक के नाम से तथा 'मर्चेंट ऑव वेनिस' का वेनिस का वैपारी नाम से अनुवाद किया था, जो सभी श्रीवेंकटेश्वर

स्टीम प्रेस बंबई से प्रकाशित हुए है। भाषा आदि के विचार से अनुवाद अच्छे हुए है।

गुप्तजी का जन्म पंजाब के जिला रोहतक में सन् १८६५ ई० में हुआ था। आरंभ मे यह उर्दू पत्रों मे लेख लिखा करते थे पर गृह पर इन्होंने हिंदी का अध्ययन बराबर जारी रखा। इसके अनंतर कई पत्रों के यह संपादक रहे। इनकी मृत्यु कलकत्ते मे भारतमित्र का संपादन करते हुए सन् १९०७ ई० में हुई। इन्होंने भारतेंदुजी की रत्नावली के अधूरे अनुवाद को देख कर उसका पूरा अनुवाद करने का निश्चय किया। 'स्वर्गीय भारतेंदुजी पर बहुत भक्ति होने के कारण मैने यह काम किया।' यह अनुवाद सन् १८९८ ई० मे पूर्ण हो चुका था पर उसे पुनः 'शुद्ध और सरल' बनाकर सन् १९०२ ई० मे प्रकाशित किया। भाषा पर गुप्तजी का कितना अधिकार था यह सभी हिंदी प्रेमी जानते है। यह अनुवाद गद्य-पद्य-मय है और कविता भी अत्यंत सरस हुई है।

बालमुकुंद गुप्त

इनके पितामह राजपूताना से काशी आकर बस गए और यहीं चैत्र शुक्ल ८ सं० १९१५ को इनका जन्म हुआ था। गृह पर ही संस्कृत का इन्होंने अच्छा अध्ययन किया और तीव्र बुद्धि होने के कारण छोटी अवस्था ही में यह अच्छी कविता करने लगे। स० १९३७ में इन्होंने साहित्य की आचार्य परीक्षा पास की। सरस तथा शीघ्र कविता करने के कारण इन्हें सुकवि तथा घटिकाशतक पदवियाँ मिली। कई स्कूलों मे यह प्रधान पंडित रहे और अंत में सं० १९५५—६ मे पटना कॉलेज मे यह प्रोफेसर नियत हुए, पर एक वर्ष बाद ही इनका शरीरांत हो गया। इन्होंने प्रायः ७५ पुस्तकें लिखीं, जिनमें कुछ अधूरी और अप्रकाशित रह गईं तथा कुछ संस्कृत मे हैं।

अंबिकादत्त व्यास

सन् १८८२ ई० मे भारतेंदुजी द्वारा प्रेरित होकर इन्होंने गोसंकट नाटक लिखा था, जो चार वर्ष बाद प्रथम बार खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसमें तीन अंक हैं और गर्भांक या दृश्य न देकर केवल पट-परिवर्तन से दृश्य बदलते गए हैं। बकरीद के अवसर पर गोहत्या होने का समाचार सुनकर हिंदू जनता में उत्तेजना फैलती है और वे उसे शांति से रोकने का प्रयास करते हैं। सफल न होने पर अकबर बादशाह के यहाँ जाकर वे प्रार्थना पत्र देते है और वह इस पर गोहत्या रोकने की आज्ञा दे देता है। इतनी ही कथावस्तु है। पद्य भी यथास्थान दिए गए है। भाषा सरल है पर प्रौढ़ नहीं है। कुछ हास्य रस का भी

चौबेजी की अवतारणा में समावेश है। इसी विषय को लेकर उस समय और भी नाटक लिखे गए थे, पर यह उन सब में सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।

'कलियुग और घी' में रूपक रूप मे घी में चर्बी के मेल पर आक्षेप किया है। कलियुग घी को चर्बी का मेल देकर भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता है और उत्साह तथा एकता उसकी रक्षा करते हैं। आठ पृष्ठ की साधारण रचना है। सं० १६३५ वि० में निर्मित होकर ललिता नाटिका पहिले उचितवक्ता में प्रकाशित हुई और तब स० १९४० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह चार अंकों की छोटी नाटिका है और व्रजभाषा में लिखी गई है। कविता अधिक और अच्छी है पर कुल नाटिका रासलीला के लिए लिखी ज्ञात होती है। शृंगार रस के साथ मनसुखा की अवतारणा में कुछ हास्य का भी पुट मिला है। 'मन की उमंग' में कुछ कथोपकथन का समावेश है पर वह नाटक नहीं कहला सकता। भट्ट नारायण के वेणीसंहार का व्यासजी ने अनुवाद किया है। इनके सिवा मरहट्ट नाटक, देवपुरुष दृश्य तथा भारत सौभाग्य नाटक भी इन्होंने लिखा है। संस्कृत में भी एक नाटक लिखा है, जिसका 'सामवत' नामकरण किया है।

व्यासजी की भाषा में पंडिताऊपन अधिक है पर विषय की गहनता के अनुसार शुद्ध तथा शिष्ट भाषा भी बराबर मिलती है। लंबे-लंबे वाक्य लिखने में भी आप पटु थे। कविता भी आपकी उच्च कोटि की है। यह सब होते भी नाटक-रचना में आप विशेष सफल न हो सके।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

कवि सम्राट् पं० हरिऔधजी उन इने गिने साहित्यकारों में है, जिन्होंने अपने बहुमूल्य जीवन के प्राय. पचास वर्ष साहित्य-भांडार को अमूल्य रत्नों से भरने में लगा दिए हैं। अब हरिऔध-जी कवि ही प्रसिद्ध है पर अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ मे आपने उपन्यास तथा नाटक भी लिखे थे। "इस नाटक के प्रथम मैंने कोई दूसरा नाटक लिपिबद्ध नहीं किया है।" नाटक क्या, वास्तव बात तो यह है कि एक श्रीकृष्ण शतक नामक लघु पुस्तिका के अतिरिक्त इस नाटक के प्रथम अपर कश्चित ग्रंथ मेरे द्वारा न अनुवादित हुआ है न रचा गया है।' यह रुक्मिणी परिणय नाटक इन्हीं की कृति है पर यह अब इतनी प्रचलित नहीं है। हिंदी साहित्य के इतिहासकार भी स्यात् इसे भूल चले हैं। यह नाटक सन् १८६४ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था।

इस नाटक में नांदी-प्रस्तावना, नौ अंक और एक अतिरिक्त अंक है।

याचकों द्वारा श्रीकृष्ण-कीर्तन सुनकर रुक्मिणीजी में उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। रुक्म राजसभा में श्रीकृष्ण का तिरस्कार कर शिशुपाल से रुक्मिणी का विवाह करना निश्चय करता है. बारात आती है पर श्रीकृष्ण भी रुक्मिणी का पत्र पा कर पहुँच जाते हैं और उसका हरण करते हैं। युद्ध में सभी राजों तथा रुक्म को परास्त कर सकुशल भाई के साथ द्वारिका पहुँच जाते हैं। अतिरिक्त अंक में श्रीकृष्ण का रुक्मिणीजी से परिहास करना अंकित हुआ है।

इस नाटक में कथावस्तु प्राय: सुगठित है और चरित्र-चित्रण भी स्थान के अनुसार यथाशक्ति अच्छा ही हुआ है। कथोपकथन बहुत लंबे-लंबे हैं और स्वगत की मात्रा भी काफी तथा बेढंगी है। दो पुरुष बातें कर रहे हैं पर बीच बीच में मन में स्वगत खूब समझ बूझकर उत्तर देते हैं। भाषा तत्सम संस्कृत शब्दों से भरी है और कितने अप्रचलित क्लिष्ट शब्द भी आ गए हैं। कविता भी इसी प्रकार की भाषा में है। रस शृंगार तथा वीर है पर आधिक्य प्रथम ही का है। वर्ज्य दृश्य बचाए गए हैं और नाटक प्राचीन संस्कृत शैली ही पर लिखा गया है। यह सब होते भी व्यापार की कमी, भाषा की क्लिष्टता और प्राचीनता के कारण नाटक अभिनेय नहीं हो सका है तथा पठन-पाठन के लिए भी काफी मनोरंजक नहीं हुआ है। इन्हीं सब को समझकर हरिऔधजी ने पुन नाटक लेखन की ओर कृपा नहीं की। यह केवल सफल कवि ही हैं।

हरिऔधजी का दूसरा नाटक

प्रद्युम्नविजय व्यायोग सन् १८९३ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। 'फिर यदि मम रचित इस प्रद्युम्न-विजय व्यायोग में, जिसको मैंने भाषा-कवि-चक्र-चूडामणि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र गोलोक-निवासी के संस्कृत से अनुवादित धनंजय-विजय व्यायोग की छाया लेकर निर्मित किया है, महामहा अशुद्धियाँ बड़े-बड़े भ्रम हों तो विचित्र बात नहीं है।' इस प्रकार देखा जाता है कि यह रचना संस्कृत व्यायोग के अनुवाद के आदर्श पर बना है और साथ ही तत्कालीन प्रचलित भाषा का नमूना भी है। नांदी तथा प्रस्तावना के अनंतर नाटक आरंभ होता है। प्रस्तावना में वंशावली भी दी गई है और कई नाटक 'बनाने' का उल्लेख भी है। धनंजय-विजय के अनुकरण पर इसमें भी तीन भाग पद्य और एक भाग गद्य है। कथावस्तु इस प्रकार है कि निकुंभ ने यज्ञ में वसुदेवजी तथा आचार्य ब्रह्मदत्त को धमकाया कि यदि उसे यज्ञ में भाग न मिलेगा तो वह यादवों को कारागार में बंद करेगा और

ब्रह्मदत्त की पाँच सौ कन्याओं का हरण कर लेगा। यज्ञ का भाग न मिलने पर उसने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की तब प्रद्युम्नजी उन ब्राह्मण कन्याओं को युद्ध कर छीन लाए और निकुंभ के साथी राजाओं को परास्त कर डाला। निकुंभ के श्रीकृष्ण द्वारा मारे जाने की भी सूचना दी गई है। व्यायोग में यह सब युद्ध-कथा दूसरों से वर्णन करा दी जाती है, इसलिए इसमें इंद्र तथा प्रवीर और जयंत के वार्तालाप में युद्ध-वर्णन हुआ है। प्रधान रस वीर है। कविता अच्छी है पर वीर रस की कविता में ओज लाने के लिए भाषा का रूप बिगाड़ा गया है। उदाहरण—

१. तागिडदं तीरं छागिडद छुट्टे।
बागिड़द बोर लागिडदं लुट्टे॥
२. कृणणणण कोपे। चृणणणण चोपे।
सृणणणण सूर। पृणणणण पूरं॥
३. चमक्के कृपानं। कड़क्के कमानं॥
तडक्के तुफंगं। सडक्के अभंगं॥

ये नाटक भारतेंदु-काल के अंत में लिखे गए थे और वे भी समय के प्रभाव ही से। इनके अनंतर हरिऔधजी ने कोई भी नाटक नहीं लिखा है अतः इस नाटक रचयिता को उसी काल ही में स्थान देना समीचीन ज्ञात हुआ।

रत्नचंद

यह इटावा के अंतर्गत जसवंतनगर के निवासी थे। इनका जन्म-काल सं० १८९७ है। यह बी० ए० तथा वकालत पासकर हाईकोर्ट के वकील हुए। इन्होंने नाटक-प्रकाश नामक पत्रिका निकाली थी, जिसमें इनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इन्होंने न्यायसभा नाटक, भ्रमजालक, प्रपंच नाटक, हिंदी उर्दू नाटक लिखे हैं, और इनके सिवा नूतन चरित्र उपन्यास तथा अन्य कई पुस्तकें लिखी हैं।

शिवनंदनसहाय

इनका जन्म सं० १९१७ में आरा जिला के अंतर्गत अख्तियारपुर में हुआ था। आप गद्य तथा पद्य दोनों के सुलेखक थे। कई इतिहास तथा जीवनचरित्र लिखे हैं। इन्होंने सुदामा नाटक गद्य तथा पद्य में लिखा है। पं० अंबिकादत्त व्यास के गो-संकट नाटक का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। भारतेंदुजी, गो० तुलसीदासजी तथा श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की विशद जीवनियाँ लिखी हैं। १५ मई सन् १९३२ ई० को इनकी मृत्यु हो गई।

यह मिश्र थे और इनका जन्म आषाढ़ कृष्ण २ सं० १९१६ को मुरादाबाद में हुआ था। यह बलदेवप्रसाद मिश्र के बड़े भाई थे। यह संस्कृत तथा हिंदी के अच्छे विद्वान थे और इन्होंने कई मौलिक तथा अनुवाद ग्रंथ लिखे हैं। इन्हें महोपदेशक तथा विद्यावारिधि की उपाधियाँ मिली थीं। इन्हीं की लिखी सतसई की टीकापर पद्मसिंहजी शर्मा ने सतसई-संहार लिखा था। मिश्रजी ने सीता-वनवास नाटक भी लिखा है, जो अच्छा बन पड़ा है। इसके सिवा वेणीसंहार तथा अभिज्ञान शाकुंतल का अनुवाद किया है। संस्कृत के कई अन्य ग्रथों का भी आपने अनुवाद किया है। व्याख्यान देने की आपको अच्छी क्षमता थी।

ज्वालाप्रसाद

गोस्वामीजी मथुरा-वृंदावन के निवासी थे। इनका जन्म माघ कृ० १५ सं० १६२२ को हुआ था। साहित्य आचार्य परीक्षा तक तथा अन्य कई विषय प्रथम परीक्षा तक पढ़कर यह संसार के कार्य में लग गए। कुछ दिन यह पिता के साथ आरा में रहे और वहाँ इन्होंने आर्य पुस्तकालय स्थापित कराया। सं० १६४७ के लगभग यह काशी आकर यहीं बस गए। इनके मातामह गो० श्रीकृष्ण चैतन्यजी भारतेंदुजी के साहित्य-गुरु थे, इस कारण इस सत्संग से इनकी भी रुचि हिंदी की सेवा की ओर गई और इन्होंने कविता, संगीत, जीवनचरित, नाटक, उपन्यास आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ कीं। इन्होंने स्फुट लेख भी लिखे और उपन्यास पर एक मासिक-पत्र भी यह निकालते रहे। उपन्यासों की इन्होंने भरमार कर दी है। कई समाचार-पत्रों के यह संपादक भी रहे और सस्कृत मे भी इन्होंने कुछ रचना की है। ज्येष्ठ शु० ५ सं० १६८६ को आपकी काशी में मृत्यु हो गई।

किशोरीलाल

गोस्वामीजी ने चौपट चपेट प्रहसन तथा मयंकमंजरी नाटक लिखे है, जो दोनों प्रायः एक ही समय प्रकाशित हुए हैं। प्रहसन मे शुद्ध त्रिया चरित की एक कहानी को रूपक-रूप दिया गया है। बनारसी लुच्चों की बोली का खूब प्रयोग है, कहीं कहीं अश्लीलता की हद कर दी है। नायिका कुलवधू चंपकलता से ऐसे शब्द कहलाए हैं, जो वेश्याओं के मुख मे शोभा पा सकते हैं। मयंकमंजरी नाटक मे पाँच अंक बहुत बड़े बड़े हैं। इसमें प्रेमलीला का वर्णन है और यह शृंगारमय है। गोस्वामीजी ने इसमे कविता काफी दी है और यत्र तत्र गद्य में भी व्रज-भाषा का पुट मिलता है। यह मयकमजरी तथा वीरेंद्रसिंह के प्रेम से आरंभ होता है, अनेक बाधाएँ पड़ती हैं पर वे क्रमशः दूर हो जाती हैं

और अंत में मिलन होता है। मयंकमंजरी की सखियाँ भी वीरेंद्रसिंह के दोनों मित्रों को ब्याही जाती हैं और नाटक समाप्त होता है। यह नाटक अभिनेय नहीं है क्योंकि व्यापार बहुत कम है, केवल कविता भरकर वृहद्‌काय कर दिया गया है। कविता तथा नाटक दोनों ही साधारण कोटि के हैं।

गोस्वामीजी के ये दोनों नाटक सन्‌ १८९१ ई० में प्रथम वार प्रकाशित हुए थे।

सुदर्शनाचार्य

पंजाब में लुधियाना के अंतर्गत जगराओं बस्ती के वंशीधरजी के यह पुत्र थे और इनका जन्म सं० १६२७ में हुआ था। इन्होंने घर पर कुछ अध्ययन किया था पर पिता का प्रेम कम हो जाने से यह जयपुर गए और वहाँ कुछ शिक्षा प्राप्त कर काशी चले आए। यहीं इन्होंने कई वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन किया। सं० १६६३ के लगभग इन्होंने अनर्घनल चरित लिखा, जो दो वर्ष बाद वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुआ। यह दश अंक का महानाटक है और इसमें नल तथा दमयंती के विवाह, देशत्याग, विरह तथा पुनर्मिलन की पूरी कथा है। इसमे नाटककार ने संस्कृत पदावली अधिक दिया है और यत्र तत्र हिंदी की भी कविता दी है। गद्य की भाषा हिंदी है। यह नाटक विशेष कर प्राचीन संस्कृत शैली पर बना है और श्लोकों का प्राचुर्य है। परंतु ये श्लोक अधिक उत्तम नहीं बन पड़े हैं। इनपर संस्कृत के साहित्य-मर्मज्ञ ही विशेष राय दे सकते हैं।

बलदेवप्रसाद

मुरादाबाद-निवासी पं० बलदेवप्रसाद मिश्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और पौष शुक्ल ११ सं० १९२६ को इनका जन्म हुआ था। इन्होंने हिंदी पढ़कर अंग्रेजी का अध्ययन किया और फारसी, संस्कृत, बँगला, महाराष्ट्री तथा गुजराती का भी कुछ अभ्यास किया। इस प्रकार योग्यता बढ़ाकर इन्होंने साहित्य-सरोज, भारतवासी आदि कई पत्रों का संपादन किया। इन्होंने प्रायः पचीस पुस्तकें लिखी हैं। इनका देहांत श्रावण शुक्ला ७ सं० १९६१ सोमवार को हुआ।

प्रभासमिलन नाटक मे श्रीकृष्ण, वसुदेव आदि और नंद-यशोदादि गोपगोपियों के तीर्थयात्रादि करते हुए प्रभास-क्षेत्र में मिलने का दृश्य वर्णित है, जिसके कुछ अंश अत्यंत हृदयस्पर्शी हैं। मीराबाई नाटक में सुप्रसिद्ध मीरा का चरित्र रूपक-रूप में वर्णित है, जिसमे मीरा के भक्ति रसपूर्ण पदों का भी संकलन यत्र तत्र किया गया है। यह नाटक अत्यंत मनोहर तथा भक्ति से परिप्लुत हुआ है। लल्ला बाबू प्रहसन छोटा होते भी सुरुचिपूर्ण परिहास युक्त है। विचित्रविनोद नाटक भी इनकी एक और रचना है।

परिशिष्ट

कुछ अन्य नाटकों की तालिका

१. अबला-विलाप नाटक—लेखक रुद्रदत्त शर्मा, अध्यापक आर्य सभा सहारनपुर। सन् १८८४ के अप्रैल, मई के शुभचिंतक (भाग १ अंक ६-७) मे छपना आरंभ हुआ था।

२. ज्ञानोदय नाटक—भारत सुदशाप्रवर्तक, सितंबर सन् १८८१ ई० मे छपना आरभ हो गया था। लेखक का नाम नही दिया है।

३. अनमेल व्याह-दु:ख रूपक—भारत सुदशाप्रवर्तक जुलाई सन् १८८२ ई० मे छपने लगा था।

४. नई रोशनी का विप—हिंदी प्रदीप के पौष शु० संवत् १९४१ की संख्या में तीसरा अंक १ गर्भांक प्रकाशित हुआ था।

५ शर्मिष्ठा— माइकेल मधुसूदन कृत— अनुवादक श्री रामचरण शुक्ल। इसका आरंभ हिंदी प्रदीप में मार्च सन् १८८० ई० के अंक मे हुआ था।

६ मनमोहिनी नाटक—कलकत्ता-निवासी मोतीलाल जौहरी कृत। २ पात्री २ पात्र। हिंदी प्रदीप की जुलाई सन् १८८० ई० की संख्या में इसका छपना आरंभ हुआ था।

७ सरोजिनी नाटक—गणेशदत्त कृत। भारतेंदुजी के नाटक निबंध मे इसका उल्लेख है।

८. सावित्री नाटक—जालंधर-निवासी देवराज खत्री कृत। इन्होंने और भी छोटी छोटी कई पुस्तकें लिखी है।

९. मिथिलेशकुमारी नाटक—गोरखपुर के अंतर्गत सहगौरी-निवासी विंध्येश्वरी तिवाड़ी कृत है, जिनका जन्मकाल सं० १९१४ है।

१०. अद्भुत नाटक—जिला कानपुर के एक ग्राम-निवासी कमलाचरण मिश्र रचित। इन्होंने यह एक प्रहसन लिखा है, जो इनके प्रयास पर आप हँस रहा है। स० १९४१ में यह समाप्त हुआ। अन्य पाँच नाटक लिखने की इन्होंने सूचना दी है पर वे सभी इसी प्रकार के अनर्गल प्रयास होंगे। कविता भी बहुत सी इसमें दी है, जो अत्यंत साधारण है।

११. आनंदोद्भव नाटक—पं० कृष्णविहारी शुक्ल, बदरिका-निवासी कृत। १म भाग, यह प्रहसन है; इसमे छोटे साइज के २७ पृष्ठ हैं।

सन् १८८६ में बंबई कल्पतरु प्रेस में छपा है। साधारण है और इसमें संन्यासी, पंडित आदि का वेश्या के फेर में पड़ना दिखलाया गया है।

१२. सर्राफी नाटक—मेरठ की देवनागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री पं० गौरीदत्त कृत। सन् १८९० ई० में गोरखपुर प्रेस से यह प्रकाशित हुआ है। इसमें ३ एक्ट और प्रत्येक में दो दो सीन हैं। सर्राफी (मुंडा) हरफों के कारण महम्मद अली और महमूद अली को एक सा लिखने से एक की थाती दूसरे को सौंपने के कारण सेठजी का सर्वनाश दिखलाते उक्त लिपि की सदोषता बतलाई गई है। गद्य-पद्य खड़ी बोली में है, पृष्ठ संख्या २४ है।

१३. मिथिलेशकुमारी—विध्येश्वरी प्रसाद त्रिपाठी कृत। सन् १८८८ ई० में खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। यह आषाढ़ शु० १० सं० १९४२ को समाप्त हुआ। इसमें भारतेंदुजी के विद्यासुंदर का अनुकरण किया गया है। कथावस्तु में नाम आदि का तथा कुछ साधारण हेरफेर है। कथोपकथन बहुत बढ़ा दिया गया है और प्रस्तावना जोड़ी गई है। भारतेंदुजी के कुछ पद भी दिए गए हैं। पृष्ठ संख्या ६९ है। इसमें ६ अंक अर्थात् दृश्य हैं।

१४. ठगी की चपेट बग्गी की रपेट—हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ द्वारा १८८४ ई० में रचित। भारतजीवन प्रेस से छपा है। यह प्रहसन चार अंकों में है। अति साधारण रचना है। ठगों का चोरी का गहना बेचने का स्वाँग कर ठगना इसमें दिखलाया गया है।

१५. उद्धव-वशीठि नाटक—मथुरा निवासी विद्याधर त्रिपाठी उपनाम रसिकेश कृत। प्रथम संस्करण सन् १८८७ ई० में भारत जीवन प्रेस से छपा है। इसमें प्रस्तावना तथा चार अंक हैं। पृष्ठ संख्या ४३ है। पहिले में गोपियाँ मनसुखा को पत्र देकर श्रीकृष्ण के पास भेजती हैं, दूसरे में मनसुखा द्वारा संदेश पाकर वह उसे लौटाते हैं कि उत्तर उद्धव के हाथ भेजेंगे। तीसरे में मनसुखा लौटकर गोपियों से हाल कहता है और चौथे में उद्धव उत्तर लेकर आते हैं तथा गोपियों के अति विरह-प्रदर्शन पर श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट होते हैं। भाषा ब्रजभाषा है। रचना साधारण है।

१६. अकबर गोरक्षा न्याय नाटक—काशी-वासी पं० जगतनारायण रचित। सन् १८९५ ई० में सदाशिव प्रेस बंबई से प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ संख्या १७५ है। इसमें अस्सी के ऊपर पात्र हैं, साधारण गानों से भरा है, भाषा बिलकुल अशुद्ध और कविता लचर है। उपदेशकपन

अधिक है और वैसी ही साधारण थोथी बातें हैं। अकबर, उसके नवरत्न सभी गाकर बातचीत करते है, गाने ही मे रोते हॅसते हैं।

१७. अश्रुमती नाटक—बंगला से उदितनारायण लाल वकील गाजीपुर द्वारा अनूदित है। भारतजीवन प्रेस से यह सन् १८६५ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ संख्या २१७ है। इसमें ५ अंक, ३५ गर्भांक हैं। कथा का सार ऐतिहासिक है पर कथावस्तु अत्यंत बेहूदी कल्पना मात्र है। अनुवाद की भाषा अच्छी है। सती नाटक भी इन्हीं की दूसरी रचना है।

१८ सती नाटक—मूल लेखक मनमोहन वसु। सन् १८८६ ई० में प्रकाशित। दक्ष-सुता सती के पितृगृह में यज्ञ-समारोह के अवसर पर महादेवजी को निमंत्रण नहीं दिया गया, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मसभा में उत्थान न देकर दक्ष का अपमान किया था। सती महादेवजी के मना करने पर भी मायके गई और वहीं शरीर त्याग दिया। यही इस नाटक में वर्णित है और प्रहसन का भी शांतिराम की अवतारणा मे समावेश है। अनुवाद भी अच्छा हुआ है।

१९. देवाक्षर चरित—बलिया-निवासी पं० रविदत्त शुक्ल कृत। निर्माणकाल सन् १८८४ ई० है। यह भारतेंदुजी को समर्पित किया गया है। यह गंभीर प्रहसन है और इसमें फारसी अक्षरो के दुर्गुण दिखलाए गए हैं। अंत में देवाक्षर के गुण दिए गए हैं। यह ४७ पृष्ठों का है और इसका उस समय अभिनय भी हुआ था।

२०. गंगोत्री नाटक—सारन-निवासी बालमुकुंद पांडेय द्वारा सन् १८९५ ई० मे रचित। इसमें प्रस्तावना तथा पाँच अंक हैं। प्रथम में दो और अन्य सब में तीन तीन गर्भांक हैं। रचना अति साधारण है, भाषा शिथिल तथा अशुद्ध है और रचेता नाट्यकला से अनभिज्ञ है। कथावस्तु इतनी है कि नवविवाहिता गंगोत्री धन-लोभ से पिता-माता द्वारा राजा के पास पहुँचाई जाती है पर वह अस्वीकार करती है और उसका पति भी एकाएक पहुँचता है। वह मारा जाता है और गंगोत्री आत्महत्या करती है।

२१. कामिनी-कुसुम नाटक—पं० राधाकृष्ण के पुत्र हरिनारायण चतुर्वेदी कृत। भारतेंदुजी के विद्यासुंदर नाटक को नाम आदि के कुछ हेर फेर के साथ बिलकुल अपना लिया है। कहीं कहीं वाक्य के वाक्य ज्यों के त्यों ले लिए हैं। इसमें प्रस्तावना बढ़ाई गई है और उसे प्रथम

अंक का प्रथम गर्भांक कर दिया है। विदूषक का अंश भी बढ़ाया गया है। रचना साधारण है।

२२. क्या इसीको सभ्यता कहते हैं ?—माइकेल मधुसूदनदत्त की कृति 'एई कि सभ्यता' का हिंदी अनुवाद है, जिसे पं० ब्रजनाथ शर्मा ने किया है। सन् १८८८ ई० में भारतजीवन प्रेस से प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। यह प्रहसन है और नई सभ्यता को सिगरेट, मांस मदिरादि ही तक समझनेवालों पर आक्षेप है।

२३. बाल्यविवाह नाटक—फर्रुखाबाद-निवासी देवीप्रसाद शर्मा त्रिपाठी रचित। सन् १८८४ ई० में लिखा गया था पर बाद को संशोधित होकर प्रकाशित हुआ। इसमें बाल्य-विवाह तथा योग्य-अयोग्य के विवाह के दुर्गुण दिखलाए गए हैं। रचना साधारण है और भाषा भी शिष्ट नही है।

२४. रत्नावली—देवदत्त त्रिपाठी ने सस्कृत से अनुवाद किया है। अनुवाद अत्यंत शिथिल हुआ है। भारतेंदुजी इसको देखकर दुखित हुए थे, जैसा उन्होंने अपने 'नाटक' निबंध में लिखा है। बाबू बालमुकुंद गुप्त ने भी रत्नावली के अपने अनुवाद की भूमिका में इसका उल्लेख किया है। देखिए इसी पुस्तक का पृष्ठ ६६। इन्होंने 'अति अंधेर नगरी' नामक एक और नाटक लिखा है।

२५. अद्भुत पतिव्रता नाटक—श्रीनंदकिशोर शर्मा कृत। लाहौर से प्रकाशित भारतेंदु के अंक १ संख्या १ में इसकी सूचना है।

२६. चंद्रकला नाटिका—श्रीनानकचंद कानूनगो कृत। इन्होंने 'जौनपुर का काजी' नाम से एक छोटा तथा साधारण रूपक और भी लिखा है। ये दोनों क्रमशः लाहौर तथा वृंदावन के भारतेंदु पत्र में सं० १९४०-१ में प्रकाशित होते रहे। इनमें ब्रजभाषा का पुट काफी है।

२७. वीरबाला—एक ऐतिहासिक छोटी-सी नाटिका है, जिसकी सूचना भारतेंदु सन् १८८४ में है कि मथुरा में छपी है।

२८. कल्क्यवतार नाटक—भारतेंदु मे अक्तूबर सन् १८८३ ई० से छपना आरभ हुआ था। साधारण छोटा रूपक है।

२९. भंगतरंग प्रहसन—मथुरा के चौबे लोगों का हाल है। छः दृश्यों तक भारतेंदु पत्र में छपा हुआ देखने मे आया। लेखक का नाम नहीं दिया है। सन् १८८३-४ में क्रमशः प्रकाशित होता रहा।

३०. दमयंती-स्वयंवर नाटक—सन् १८६५ की हरिश्चंद्र कौमुदी मे इसका विज्ञापन निकला है कि चरखारी के पं० गौरीशंकर भट्ट से यह पुस्तक मिल सकती है।

३१. 'एक हास्य रस की मटकी' तथा 'वाह बेटा!' ये दो छोटे प्रहसन सन् १८९५ की हरिश्चंद्र कौमुदी मे प्रकाशित हुए थे।

३२ वल्लभकुलदम्भ दर्पण नाटक—इसके लेखक मथुरा-निवासी माधुरीदास उपनाम ब्लाकटानंद हैं। यह नाटक दो भागों में है और इनका द्वितीय सस्करण सन् १६०७ ई० मे प्रयाग, यूनिअन प्रेस से हुआ था। सचित्र है। पहिले भाग में गोस्वामियों का तथा दूसरे मे उनकी स्त्रियो का चित्रण है। लेखक जलघरिया से अधिकारी हो गया था और कुल कच्चा चिट्ठा जानकर उसने यह पुस्तक लिखी। और भी पुस्तकें लिख रहे थे पर अंत मे धन लेकर शांत हुए। कहा जाता है कि अंत में अपना सर्वस्व काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को दान कर गए।

३३. भर्तृहरि निर्वेद नाटक—पं० वचनेश मिश्र द्वारा संस्कृत से अनूदित तथा सं० १९६९ में प्रथम बार प्रकाशित। मूल नाटककार पंद्रहवीं शताब्दि के श्री हरिहर है। भर्तृहरि की पतिव्रता पत्नी परीक्षार्थ पति का यह झूठा सदेश पाकर कि उसकी मृत्यु हो गई मर जाती है। इससे भर्तृहरि अत्यंत शोकाकुल होता है पर गोरखनाथजी के उपदेश से तथा उसकी पत्नी को जिला देने पर भी विरक्त हो राज्य त्याग देता है। मिश्र जी की दूसरी रचना 'खून की होली' है, जिसमे बिसेन वंश की एक घटना का विवरण है। उक्त वंश के कुछ भाईबंदो ने धोखे से राजा को पुत्रों सहित मार डाला पर उनमें से एक पुत्र तथा एक पौत्र बच गए। इन दोनो ने अवसर पाकर तैयारी की और होली के उत्सव पर सम्मुख युद्ध में पूरा बदला लिया। यह नाटक ४ अंकों तथा ११ दृश्यों में पूरा हुआ है। आरभ में प्रस्तावना भी है।

३४. अभिमन्युवध—गो० राधाचरणजी के पुत्र गौरचरणजी कृत। सन् १९०९ में वृंदावन से प्रकाशित है। पृष्ठ संख्या २८, दूर दूर छपा है, साधारण रचना है।

३५. अंजनासुंदरी नाटक—भरतपुर-निवासी मंगलसिंह वासव श्रीमाल के पुत्र कन्हैयालाल हेडक्लर्क मिलिटरी इनफैंट्री भरतपुर द्वारा रचित। स० १६५७ में वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित, पृ० सं० ११६। हनुमान के माता-पिता पवनंजय तथा अंजना की प्रेम कहानी जैन-कथा के आधार पर इसमें वर्णित है। इसमें हनुमान तथा उनके

पूर्वजों को बंदर-बंदरिया नहीं मानकर मनुष्य माना गया है। कथावस्तु, कथोपकथन आदि साधारण हैं; ५ अंकों तथा १८ गर्भांकों में विभक्त है। कविता अति शिथिल है और भाषा भी साधारण है।

३६. कुंदमाला—दिङनाग कृत—अनुवादक हैं साहित्याचार्य वागीश्वर विद्यालंकार, जो गुरुकुल कांगड़ी में संस्कृत-साहित्य के अध्यापक हैं। इस नाटक में छः अंक हैं, जिनमें सीता त्याग से लेकर पुनर्मिलन तक का वृत्त दिया गया है। अनुवाद अच्छा हुआ है, गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में। फारसी अरबी के शब्द प्रायः नहीं आए हैं पर कहीं-कहीं बड़े बेढंगे आ गए है, जैसे 'राम—(बेचैनी के साथ) लक्ष्मण, सितम हो गया।' अनुवादक महोदय पंजाब की ओर के ज्ञात होते हैं।

सप्तम प्रकरण

वर्तमान-काल

(१९५०-२०००)

विषय-प्रवेश

प्राचीन-काल के साहित्य को छोड़कर जब हम खड़ी बोली के साहित्य की ओर ही दृष्टि रखते है तब ज्ञात होता है कि विक्रमीय बीसवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध उसके प्रचार का तथा उत्तरार्द्ध उसके प्रसार का समय रहा है। पूर्वार्द्ध में भारतेंदुजी तथा उनके सहयोगियों ने काव्य-रचना करने के सिवा साहित्य के गद्य-भाग के अनेक अंगों के अभाव को दूर करने का प्रयास प्रारभ किया और हिंदी-भाषा तथा उसके साहित्य के प्रचार के लिए बड़े प्रयत्न किए। 'निज भाषा की उन्नति' के लिए इन साहित्यकारों ने तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण कर दिए और उन्हीं सज्जनों के निस्वार्थ प्रयासों का फल है कि उक्त शताब्दि के उत्तरार्द्ध में हिंदी का इतना प्रसार हो सका है तथा निरंतर अनेक बाधाओं के आते रहते भी बढ़ता जा रहा है। नाटक-साहित्य के लिए भी यही कहा जा सकता है।

राजनैतिक परिस्थिति भी बदल रही थी। पिंडारों, ठगों, निरंतर की लड़ाइयों तथा अराजकता से विपन्न भारतीयो को अंग्रेजों का शांतिमय शासन कुछ समय तक अत्यंत प्रिय रहा। ये अपनी शक्ति को उस प्रकार की समझ बैठे थे जो बाह्य शक्तियों के आगे नगण्य है और जो उनकी रक्षा नहीं कर सकती। परतु भारत तथा बाहर के अनेक युद्धों तथा बाद के यूरोपीय महायुद्ध में भारतीयों की वीरता जब प्रकट हुई और वे संसार के सभ्यतम जाति के वीरों के समकक्ष घोषित किए गए तब इन्हें भी अपनी शक्ति का कुछ पता चलने लगा। ये समझने लगे कि इनकी शक्ति नगण्य नहीं है और ये भी अपने देश का शासनभार वहन करने योग्य हैं। अब इनमें प्रचार काल का दैन्य, शांति के लिए परमुखापेक्षा आदि भाव घटने लगे और संसार मे अपने को कुछ करने योग्य पाकर ये स्वातंत्र्य के इच्छुक हो उठे। प्रचार-काल इन्हे इनका पूर्व गौरव तथा वर्तमान कुदशा दिखलाते हुए भविष्य में उन्नति करने के लिए

प्रोत्साहित करता रहा और फलतः प्रसार काल में उन्नति के अनेक मार्ग खुल भी गए।

भारतवासी इधर अनेक शताब्दियों से कूपमंडूकवत् हो रहे थे। संसार में क्या हो रहा है, किस प्रकार कितनी जातियाँ उन्नति के शिखर की ओर कितने धैर्य के साथ बढ़ती जा रही हैं, किस प्रकार वे अपने समाज, साहित्य, व्यापार आदि के उन्नयन में दत्तचित्त हो रही हैं, इन सबका जानना तो दूर रहा ये अपने ही विशाल देश के अनेक प्रांतों में क्या हो रहा है, उसीका पता नहीं पा रहे थे और न पाने का प्रयास ही कर रहे थे। प्रचार-काल में इस प्रकार के पत्र-पत्रादि निकले तथा कुछ साहित्य भी बना, जिससे ये घर बैठे यत्र-तत्र की कुछ बातों का पता पाने लगे। कितने पत्र-संचालक इस काल मे लोगों के घर जा-जा कर पत्र पढ़कर सुनाते फिरते रहे और शपथ देकर पुस्तकें पढ़ने को उत्साहित करते रहे। क्रमश. जनता मे पठन-पाठन की रुचि जागृत होने लगी। उक्त काल में पाश्चात्य संसार के साहित्य का हिंदी से संपर्क बंगला के द्वारा ही हो रहा था पर उसके अनंतर जब हिंदी-भाषी भी अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगे तब वह संपर्क किसी मध्यस्थ के द्वारा न रह-कर सीधा हो गया। इसमें भी पहिले कुछ बाधा पड़ी। उच्च-शिक्षा प्राप्त लोग पहिले अपने को कुछ विचित्र जीव समझते रहे और हिंदी को ग्रामीण तथा हेय समझकर उससे कुछ छटकते रहे पर क्रमशः यह बाधा भी दूर हो गई और इसके साहित्य के निर्माण में वे भी हाथ बँटाने लगे। अब साहित्य के गंभीर तथा गहन विषयों पर भी हिंदी लेखनी दौड़ने लगी। ऐसे साहित्य के प्रसार से और संसार के साहित्य की परिचय-प्राप्ति से हिंदी में बहुत कुछ उन्नति हुई तथा आशा है कि भविष्य में और भी होगी।

प्रचार-काल में भाषा तथा शैली के विकास की ओर विशेष दृष्टि न रहना स्वाभाविक था पर प्रसार-काल में इस ओर अधिक दृष्टि दी गई। भाषा विशेष परिपक्व हो उठी और शैली की अनेकरूपता भी दिखलाने लगी। बँगला, गुजराती, मराठी आदि से उपन्यास, नाटक आदि ग्रंथ अनूदित हो रहे थे पर अब अंग्रेजी आदि यूरोपीय भाषाओं से भी अनेक विषयों के ग्रंथ अनूदित होने लगे तथा विशेष छानबीन के साथ मौलिक ग्रंथों की भी रचना होने लगी। पत्र-पत्रिकाओं की विशेष उन्नति हुई और उन्नत साहित्य भी देख पड़ने लगा। हिंदी के ऐयारी, तिलस्म आदि के उपन्यासों के उपरांत, जो उर्दू के तिलस्मी दफ्तरों के आधार पर चल

निकले थे, अत्यंत परिष्कृत सामाजिक उपन्यासों की रचना होने लगी।

नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में उपन्यासो के समान उन्नति नहीं दिखलाई पड़ी। भारतेंदुजी तथा उनके मंडल के अस्त होने पर हिंदी-साहित्य-प्रेमियों ने नाटकों की ओर अपनी कृपादृष्टि एकदम कुछ दिन के लिए वंद कर ली। वावू राधाकृष्णदास का राजस्थान-केसरी या महाराणा प्रताप इस काल का प्रथम तथा अत्यंत प्रचलित नाटक था, जिसका अभिनय कई वार हुआ था। इसके वाद उनकी प्रतिभा मंद पड गई और वे कोई नाटक न लिख सके। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने चंद्रकला-भानुकुमार नाटक नामक वड़ा पोथा तैयार कर डाला था पर वह अन-भिनेय होने के कारण जनप्रिय न हो सका। वगला से भी जो नाटक उस समय अनूदित हुए वे भी विशेप चुने हुए न होने के कारण प्रचलित नहीं हुए और वगला में भी अधिक प्रसिद्ध तथा जन-साधारण और शिष्ट समाज के उपयुक्त नाटकों की रचना वाद ही को हुई। गिरीश वावू, श्री द्विजेंद्रलाल राय तथा रवि वावू के नाटकों की रचनाओं के साथ-साथ उनके हिंदी अनुवाद निकलने लगे और उसी समय हिंदी मे प्रसादजी आदि के मौलिक नाटक भी निर्मित होकर साहित्यक्षेत्र में आने लगे।

अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव वढ़ता जा रहा था। नांदी, मगलाचरण तथा प्रस्तावना का अंग्रेजी नाटकों मे अभाव है और उसी की देखा-देखी पहिले पहिल वंगला नाटकों से ये प्रायः एकदम वहिष्कृत कर दिए गए। हिंदी मे भी यही हुआ पर क्रमशः। भारतेंदुजी ने भी अपने दो-तीन नाटकों में ऐसा किया है पर मंगलाचरण के विचार से आरंभ में एकाध दृश्य मंगल-गान के रख दिए हैं, जैसे सती प्रताप, नीलदेवी आदि के प्रथम दृश्य। भारतेंदु-काल के वाद वर्तमान-काल के कवियों ने भी इसी पकार पहिले कुछ ऐसे दृश्य रखे थे पर अव अनेक प्रमुख नाटककार इन सव की आवश्यकता नहीं समझते।

संस्कृत तथा भाषा के नाटकों मे दृश्यों के आरंभ में स्थान, समय तथा उपस्थित पात्रों की अति संक्षिप्त सूचना एक दो पंक्ति में दे दी जाती थी पर अव वर्तमान यूरोपीय नाटकों के समान यह साधारण सूचना मात्र नहीं रह गई है। अव तो कई पृष्ठों तक लंवे लवे विवरण दृश्यों के आरंभ में दिए जाते है। कमरा, वाग, दरवार आदि स्थानों का पूरी सजा-वट के साथ तथा पात्रों के श्रृंगार आदि प्राय. सभी वातों का वर्णनात्मक विवरण दिया जाने लगा है। अंकों की संख्या भी कम हो चली है और

उनके अंतर्गत दृश्यों की संख्या उसी हिसाब से बढ़ने लगी है। पहिले नाटकों के अभिनय में दो 'इंटरवल' होते थे, इसलिए तीन अंक का होना आवश्यक समझा जाता था। अब तक तीन अंकों से कम के नाटक नहीं देखने में आए हैं पर सिनेमा के विशेष प्रसार होने पर स्यात् दो ही रह जायँ क्योंकि उसमें एक ही 'इंटरवल' होता है।

नाटकों में कविता की कमी होते हुए अब प्रायः उसका अभाव ही हो गया है पर गाने योग्य पद अब भी दिए जाते हैं। इनका कम या अधिक होना नाटककार की रुचि पर है। साथ ही कुछ नाटककारों ने इन गानों की स्वरलिपि भी पुस्तकों के अंत में देना आवश्यक समझ रखा है। स्यात् वे समझते हैं कि प्रत्येक पाठक गायक होगा और उसे यह अभाव खटकेगा। इसकी आवश्यकता तो अभिनय के समय ही पड़ती है और तब कुशल गायक इसे बिना देखे ही काम चला लेता होगा। तात्पर्य यह कि इस स्वरलिपि का देना न देना समान ही है।

प्राचीन काल के नाटकों में घटना-वैचित्र्य के साथ साथ रस ही पर अधिक दृष्टि रखी जाती थी। भारतीय साहित्य में नाटक या रूपक काव्य ही का एक भेद मात्र है और श्रव्य तथा दृश्य दोनों ही प्रायः साथ साथ विकसित होते रहे हैं। दृश्य भाग मे कविता ही का प्राबल्य अभी पूर्व भारतेंदु-काल तक पूर्ण-रूपेण बना हुआ था और उसकी कमी भारतेंदु-काल में होने लगी। यही कारण है कि नाटककारों की दृष्टि कवियों के समान रस ही की ओर अधिक रही। पाश्चात्य नाटककारों की दृष्टि अंत-र्प्रकृति के द्वंद्व-प्रदर्शन की ओर विशेष रही और इन रचनाओं का प्रभाव पड़ने पर हिंदी के वर्तमान-काल के नाटकों में दोनों का अच्छा मेल हो गया। कुछ नाटककार ऐसे भी हैं, जो अपने घर की वस्तु को त्याज्य समझकर तथा दूसरों ही की वस्तु को सर्वस्व समझकर उसीके आधार पर हिंदी-साहित्य में नूतनता लाने का प्रयास कर रहे हैं। यह अनुचित ही कहा जा सकता है। वर्तमान काल के प्रमुख कवि बाबू जयशंकर-प्रसादजी ने अपने नाटकों में इन दोनों का अत्यंत सुचारु रूप से समावेश किया है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी की मृत्यु के तीन वर्ष बाद सन् १८८८ ई० में काशी में बाबू जयशंकरप्रसादजी 'प्रसाद' का जन्म हुआ था। इनके

जयशंकर 'प्रसाद'

पितामह बाबू शिवरत्नजी सुरती तथा सुँघनी का व्यापार करते थे और इस व्यापार मे उन्होंने बहुत धन पैदा किया था। इसी कारण यह सुँघनी साहू के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके

पिता देवीप्रसाद इन्हें बारह वर्ष का छोड़कर स्वर्गगामी हो गए। इसके अनंतर प्रसादजी के बड़े भाई शंभुरत्न सब कार्य देखते रहे पर पाँच वर्ष बाद उनकी भी मृत्यु हो जाने पर गृहस्थी का कुल भार इन्हीं पर आ पड़ा, जिससे इनका स्कूल तथा गृह का पठन-पाठन सब छूट गया। अपने घरेलू व्यापार को बड़ी संलग्नता से इन्होने सँभाला और फिर व्यापार की ओर दृष्टि रखते हुए स्वाध्याय तथा साहित्य-रचना में भी लग गए। इनकी साहित्यिक कृतियों को शिक्षित वर्ग ने बड़े आदर से अपनाया और उन्हें उच्चतम कक्षाओं के लिए पाठ्य पुस्तकों में स्थान दिया।

प्रसादजी साहित्यिक क्षेत्र मे पहिले पहल व्रजभाषा के कवि के रूप में आए और फिर अतुकांत कविता लिखने लगे। सन् १९१४ ई० के काशी के इंदु मे इनकी चतुर्दशपदियाँ प्रकाशित हुई और इनका प्रथम कविता-संग्रह कानन-कुसुम सन् १९१२ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ। इसे देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि इनकी प्रवृत्ति उसी समय से अपने लिए एक नया मार्ग निकालने की ओर अधिक रही। इसी समय इन्होंने नाटक लिखना भी आरंभ कर दिया और राज्यश्री, विशाखादि इसी समय की रचनाएँ हैं। इनसे प्रसादजी की ऐतिहासिक नाटक लिखने की रुचि ज्ञात होने लगी थी। कविता तथा नाटकों के साथ छोटी छोटी कहानियाँ भी यह लिखते रहे, जिनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके है। इन्होंने कई उपन्यास भी लिखे है, जिनमें वर्तमान समाज की अवस्था का चित्रण किया है। प्रसादजी मुख्यतया कवि थे और श्रव्य तथा दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों के लिखने में सफल हुए। उनके अंतिम महाकाव्य 'कामायनी' का हिंदी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। बाबू जयशंकरप्रसादजी 'प्रसाद' का कार्तिक शु० ११ सं० १९९४ को गोलोक वास हो गया।

प्रसादजी का नाटक-निर्माण-कार्य सं० १९६७ वि० (सन् १९१० ई०) से 'सज्जन' की रचना के साथ आरभ होता है, जो उसी वर्ष की इंदु पत्रिका के कला २ किरण ८-११ में प्रकाशित हुआ है। इसके अनंतर सन् १९१२ से सन् १९१४ तक क्रमश. प्रतिवर्ष एक एक नाटक करुणालय, प्रायश्चित्त तथा राज्यश्री उक्त पत्रिका ही में प्रकाशित हुए, जिनमें प्रथम और तृतीय बाद को पुस्तकाकार भी छपे। राज्यश्री में तो बहुत अधिक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन बाद के संस्करण में हुआ है, एक अंक ही बढ़ गया है तथा कई नए पात्रों की भी कल्पना की गई है। इसके अनंतर सात वर्ष तक नाटक-निर्माण से इन्होंने अवकाश ले लिया था,

और तब सन् १९२१ ई० में विशाख प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में 'प्रसादजी अपने नाटक-निर्माण के विषय में लिखते हैं कि 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।' और यही इन्होंने किया भी। विशाख के अनंतर इन्होंने नौ नाटक लिखे, जिनमें दो को छोड़ सभी ऐतिहासिक हैं। इसी भूमिका में अपने नाटकीय आदर्श के संबंध में भी इन्होंने कुछ लिखा है और उक्त आदर्श की पूर्ति का इनका प्रयास इनके नाटकों के विकास में स्पष्टतः ज्ञात होता रहता है। सं० १९७९ (१९२२ ई०) में अजातशत्रु प्रकाशित हुआ पर पुनः चार वर्ष अवकाश ग्रहण करने के बाद सं० १९८३ में जनमेजय का नागयज्ञ छपा। सं० १९८४ में कामना, सं० १९८५ में चंद्रगुप्त तथा स्कंदगुप्त विक्रमादित्य और सं० १९८६ में एक घूँट प्रकाशित हुए। इनका अंतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी पुनः चार वर्षीय अवकाश के उपरांत सं० १९९० में प्रकाशित हुआ था, जिसके अनंतर स्यात् वह अपने महाकाव्य कामायनी की रचना में अंत तक दत्तचित्त रहे। एक उपन्यास भी इसी काल में तीन-चौथाई लिखा जाकर अपूर्ण ही रह गया।

विशाख की भूमिका में लिखते हैं कि 'इससे पहिले यशोधर्मदेव नाम का एक बड़ा नाटक भी लिखा जा चुका है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होकर आप लोगों के समक्ष उपस्थित होगा।' परंतु यह नाटक नष्ट कर डाला गया। कलियुग में होनेवाले कल्कि अवतार का इन्हीं यशोधर्मदेव में अवतारणा तत्कालीन इतिहासज्ञों की एक प्रस्तावना पर किया गया था। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर भी इसमें एक पात्र था, जिसने अभुक्तमूल में उत्पन्न इस राजपुत्र के गले में एक यंत्र बनाकर छोड़ दिया था और उसके अनंतर वह बालक त्याग दिया गया था। बड़े होने पर घटनांतर पर यह प्रकट हुआ था। जब यह प्रस्तावना बाद को इतिहासज्ञों द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दी गई तब इन्होंने इस नाटक को नष्ट कर डालना ही उचित समझा। अंतकाल में इंद्र पर एक नाटक लिखने का साधन यह एकत्र कर रहे थे, जिसमें त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की हत्या आदि का ऐतिहासिक ढंग पर वर्णन करने का इनका विचार था। जिस प्रकार यह अपने हर एक नाटक के आरंभ में भूमिका रूप में ऐतिहासिक विवेचन करते रहे हैं, उसी प्रकार इस नाटक के लिए भी भूमिका तैयार कर चुके थे। यह पहिले नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा

प्रकाशित कोष-स्मारक संग्रह में तथा बाद को उसी सभा की पत्रिका में 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' शीर्षक से प्रकाशित हो चुकी है। परंतु काल ने इस नाटक में हाथ लगाने तक का इन्हें अवकाश नहीं दिया।

प्रसादजी के प्रकाशित तेरह नाटकों में आठ नाटक ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं। लिखकर नष्ट किया गया नाटक ऐतिहासिक तथा लिखा जानेवाला पौराणिक था। पुराण भी इतिहास ही है और नाटककार को भी उनपर शुद्ध ऐतिहासिक रंग देने का पक्षपात था। अतः दो को छोड़कर इनके सभी नाटक ऐतिहासिक ही कहे जायँगे। यही रचेता ने अपना ध्येय भी 'विशाख' की भूमिका में प्रकट किया है अतः यह ऐतिहासिक नाटककार ही कहलाएँगे।

प्रसादजी के अनेक नाटकों के कई संस्करण निकल चुके हैं और उन संस्करणों का साथ साथ अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह उन नाटकों में यथाशक्ति आवश्यकता समझकर परिवर्तन तथा परिवर्द्धन भी करते रहते थे। उनमें यह हठ न था कि जो कुछ लिख चुके वह ब्रह्मवाक्य सा अमिट है और साथ ही यह भी सूचित करता है कि वह स्वाध्यायी तथा अध्यवसायी थे और अपनी रचनाओं को देखते समय विचार करते हुए उनमें परिवर्तन-योग्य स्थलों मे हेरफेर करना अनुचित नहीं समझते थे। दुःख है कि वे अपने सभी नाटकों को दुहराने का अवसर न पा सके, नही तो कई विशेष परिमार्जित होकर अधिक मनोरंजक हो उठते।

महाभारत की एक घटना है कि जब ज्ञात वनवास-काल में युधिष्ठिर आदि द्वैतवन मे निवास कर रहे थे तब दुर्योधनादि ने उनके एकाकीपन को लक्ष्य कर अहेर के बहाने ससैन्य जाकर उन्हें नष्ट करने का निश्चय किया। द्वैत वन के सरोवर पर गंधर्वराज चित्रसेन से कौरवों का युद्ध हुआ, जिसमें सभी कौरव पकड़े गए। यह सुनकर युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन ने उन्हें गंधर्वों से छुड़ाया और युधिष्ठिर ने अपने प्रति किए गए दुर्योधन के कुव्यवहारों का ध्यान न कर उसे विदा कर दिया। इसी आख्यान पर युधिष्ठिर की सज्जनता के विचार से सज्जन नाटक लिखा गया। सीधे सादे आख्यान को कथोपकथन देकर एक छोटे रूपक में परिणत कर दिया गया है। इसमे एक प्रस्तावना तथा पाँच दृश्य हैं।

इस रूपक में प्राचीनता की छाप पूर्णरूपेण है। नांदी, प्रस्तावना, विदूषक, भरत-वाक्य आदि सब लाए गए हैं। चरित्र-चित्रण का एक

प्रकार स्थानाभाव ही है। कथोपकथन भी संस्कृत नाटकों ही सा है और भाषा में प्रौढ़ता का अभाव भी है। कविता भी ब्रजभाषा में साधारण कोटि की है और प्राचीन प्रथानुसार एक तुक में प्रकृति का वर्णन है तो दूसरे में शृंगार या नीति है। दर्देदिल हृदय की पीड़ा के रूप में मौजूद है। विदूषक तथा उनका स्वगत भी व्यर्थ ही दिया गया है। गधर्वों के सहायक राक्षसगण भी हैं और युद्ध में केवल खड्ग ही का उपयोग होता है। प्रसादजी ने खेमे को संस्कृत रूप पट-मंडप देकर अपने उस स्वभाव की उसी समय से सूचना दे दी कि वह संस्कृत-गर्भित भाषा के पक्षपाती हैं। यह नाटक साधारण कोटि ही का है।

राजा हरिश्चंद्र पुत्र की कामना करते हैं, वरुण इस शर्त पर पुत्र देते हैं कि यह उसका बलिदान इसे दे दे और राजा भी यह स्वीकार कर लेते हैं। पुत्रोत्पत्ति पर अनेक बहानों से हरिश्चंद्र इस कार्य को टालते रहते हैं। अंत में जल-विहार करते समय इनकी नौका वरुण द्वारा स्तब्ध कर दी जाती है, बलि माँगने पर हरिश्चंद्र का उसे शीघ्र देना स्वीकार करने पर नाव छूटती है। पुत्र रोहित युवा हो चुका है, इसलिए वह प्रतिज्ञा-पूर्ति मे प्राण जाने के भय से वन में भागता है और वहाँ से एक ब्राह्मण-पुत्र क्रय कर बलि के लिए लाता है। यज्ञ के समय विश्वामित्र आते हैं और वशिष्ठ को फटकारते हैं। एक दासी आकर विश्वामित्र की स्त्री तथा उक्त बलि-पशु की माता बनती है और विश्वामित्र की प्रार्थना से सब मुक्त होते हैं। बलि-पशु ब्राह्मण-कुमार ने करुणालय की प्रार्थना की थी, इसीसे इसका यह नामकरण किया गया है, नहीं तो वास्तव मे इस गीति नाट्य मे करुणा तो नाम को नहीं है। बाद के संस्करण में कुछ परिवर्तन किया गया है।

इस नाटक में यह विशेषता है कि ब्राह्मण ही बलि के लिए अपना पुत्र बेंचता है, जल्लाद का कार्य ब्राह्मण ही करता है और वशिष्ठ से महर्षि इन सब का समर्थन करते हैं। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बने थे अतः उन्हें वशिष्ठ से बढ़कर दिखलाया गया है। यह स्यात् ब्राह्मणों की प्राचीन रूढ़ महत्ता कम करने को किया गया है। इस कथन से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राह्मण मात्र निर्दोष होते हैं, वे सभी बातों में सबसे बढ़कर रहने का प्रयास करते हैं, ऋषित्व में भी, रावणत्व में भी। आरंभ में नांदी और प्रस्तावना नहीं है पर अंत मे भरतवाक्य सी ईश-प्रार्थना है। यह अतुकांत कविता में है और नाटककार के अनुसार अतुकांत कविता की उपादेयता का पता लगाने को लिखा गया है। वस्तु-

गठन अति साधारण है और पात्रगण साधारण सांसारिक जीव हैं। राजा तथा राजपुत्र दोनों ही प्रण से विमुख रहने ही का प्रयास करते हैं। भाषा सीधी-सादी सरल है और जो कुछ कथावस्तु है, उसके उपयुक्त भी प्रांजल नहीं हो सकी है। यही कारण है कि इस कथानक में वरुण ने स्वयं आकर राजा को प्रतिज्ञा से मुक्त नहीं किया है, केवल शक्तिमान हो जाने से राजा ने अपने को मुक्त मान लिया है। उक्त विचारों से यह नाटक भी साधारण कोटि का है।

भारतेंदुजी ने भारत-दुर्दशा मे जयचंद को भारत-दुर्दैव का एक सैनिक इसलिए माना था कि उसने मुहम्मद गोरी को उभाड़कर पृथ्वी-राज का सत्यानाश करा डाला था और चौहान तथा राठौर वीरों को आपस के अकारण युद्ध मे कटा डाला था। बहुत दिनों तक इस वैर का कारण सयोगता-स्वयंवर ही बतलाया जाता था, जिसे लेकर उन्हीं के समसामयिक श्रीनिवासदासजी ने संयोगता-स्वयंवर नाटक लिख डाला था। अब यह कथा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। यह भी कहा जाता है कि परास्त होने पर जयचंद गंगाजी मे डूब मरे थे। इसी कथा के अधार पर प्रसादजी ने प्रायश्चित्त नाटक लिखा है। इसका कथावस्तु इस प्रकार है कि दो विद्याधरी आकर तरायन के अंतिम युद्ध का वृत्त कहती हैं और आहत तड़पते हुए जयचंद को प्यासा पाकर भी उसे तृप्त न कर उससे प्रायश्चित्त कराया चाहती हैं। द्वितीय दृश्य में जयचंद पृथ्वीराज की बुझती चिता के पास आकर उसकी राख को कुचलने को तैयार होता है पर अंतरिक्ष से विद्याधरी के कथन पर कि इसमे संयोगता की भी राख मिली हुई है, वह रोता हुआ जाता है तथा प्रायश्चित्त करने को तत्पर होता है। तृतीय दृश्य मे सभा मे जयचंद प्रलाप सा करता है और चौथे मे मुहम्मद गोरी कन्नौज पर चढ़ाई करने की तैयारी करता है। पाँचवे मे बिना युद्ध ही जयचंद भागकर गंगा मे डूब मरता है।

युद्ध-भूमि में जयचंद का आहत होकर तड़पना, वहीं पृथ्वीराज का चिता-संस्कार, उसी समय कन्नौज पर मुसलमानों की चढ़ाई और बिना युद्ध के जयचंद का डूब मरना, यह सब इतिहास के विरुद्ध है। यह नाटक लड़कों के खेल सा है और यदि प्रसादजी के साहित्य के प्रेमियों को, जिन्होंने इस नाटक को नहीं देखा हो, यह दिखलाया जाय तो वे कभी इसे उनकी कृति न मानेंगे। सभी दृष्टि से यह नाटक बिलकुल साधारण है और एक प्रसिद्ध नाटककार की रचना होने के कारण ही इसपर भी दृष्टि पड़ जाती है।

राज्यश्री नाटककार की, उन्हींके कथन के अनुसार, प्रथम ऐतिहासिक रचना है। जब यह प्रथम बार इंदु में प्रकाशित हुआ था तब इसमें तीन अंक तथा ५ + ६ + ५ दृश्य थे पर जब यह द्वितीय बार पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ तब इसमें चार अंक हो गए। प्रथम के तीन अंकों में भी कई दृश्य बढ़ाए गए तथा कई नए पात्रों की कल्पना भी की गई। मुख्य कथावस्तु इस प्रकार है। स्थाण्वीश्वर-नरेश राज्यवर्द्धन के भाई हर्षवर्द्धन थे तथा बहिन राज्यश्री थी, जो कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मा को व्याही थी। मालवपति देवगुप्त कान्यकुब्ज के राज्य तथा राज्यश्री के लोभ से छद्मवेश में कान्यकुब्ज आता है और उपवन में टिक रहता है। ग्रहवर्मा अहेर को जाता है और अपनी सेना के पहुँचने के पहिले वहीं सीमापर मालव की सेना द्वारा घिरकर मारा जाता है। देवगुप्त कान्यकुब्ज को सैन्यविहीन देखकर अपनी गुप्त सेना सहित दुर्ग तथा राज्यश्री पर अधिकार कर लेता है। यह समाचार पाकर राज्यवर्द्धन ससैन्य कान्यकुब्ज पहुँचता है और गौड़ाधिप नरेंद्रगुप्त भी उसकी सहायता को आता है। इसी समय विकटघोष डॉकू राज्यश्री को बंदीघर से निकाल ले जाता है। राज्यवर्द्धन कान्यकुब्ज पर अधिकार कर देवगुप्त को मार डालता है पर राज्यश्री का पता नहीं पाता। नरेंद्रगुप्त अपने स्वार्थ के लिए राज्यवर्द्धन की हत्या कराता है पर स्वयं भी मारा जाता है। डॉकू राज्यश्री को विक्रय करने निकलते हैं पर दिवाकर मित्र उसकी रक्षा करता है। अब हर्षवर्द्धन बदला लेने तथा राज्यश्री को खोजने निकलता है। नर्मदा तट पर पुलिकेशिन से संधि करता हुआ लौटता है। जब राज्यश्री चितारोहण की तैयारी करती है उसी समय हर्षवर्द्धन वहाँ आता है और बातचीत करने के अनंतर अपने राज्य को चला जाता है। यहीं तीन अंक समाप्त होते हैं और इतने में भी प्रायः पूरे तीन दृश्य नए बढ़ाए गए हैं। शांतिभिक्षु, सुरमा, सुएनच्वांग आदि पात्र बढ़े हैं, जिससे कथावस्तु के बढ़ने से चतुर्थ अंक बढ़ाना आवश्यक हो गया। इसी सुरमा से देवगुप्त का प्रणय दिखलाया गया है, जो विकटघोष डॉकू की स्त्री बनती है और ये ही राज्यवर्द्धन के घातक होते हैं। इतिहास से यह ज्ञात होने पर कि सुएनच्वांग हर्षवर्द्धन के पंचवर्षीय दान-यज्ञ के अवसर पर प्रयाग में मौजूद था, उसे नाटक में लाना भी आवश्यक समझा गया और यह अंक इसी कारण बढ़ा दिया गया। सुएनच्वांग के डॉकुओं द्वारा पकड़े जाने, उसे बलि देने के प्रयास तथा छूटने का तीसरे अंक में एक दृश्य बढ़ाकर उल्लेख किया गया है। चौथे अंक में राज्यश्री घातक को क्षमा

करती है और सुएनच्वांग पर पुनः आक्रमण होता है तथा वह बच जाता है। बौद्धों के षड्यंत्र का पता लगता है और उनका प्रयास विफल हो जाता है। सर्वस्वदान के अनंतर करद राजाओं का आकर मुकुट आदि राजचिह्न भेट देने के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

इसका कथावस्तु कुछ जटिल है पर तब भी उसका संगठन अच्छा हुआ है; कहीं कहीं कुछ शिथिल तथा विशृंखल अवश्य हो गया है। चरित्र-चित्रण के विचार से प्रधान पात्री राज्यश्री है पर प्रधान पात्र कौन है, इसमें मतभेद हो सकता है। ग्रहवर्मा का केवल एक बार तथा राज्य-वर्द्धन का दो बार उल्लेख है। हर्षवर्द्धन कई बार आता है और देवगुप्त के विषय में भी यही कहा जा सकता है। अब राज्यश्री के पति, दो भाई तथा प्रेमी में से किसे प्रधानता दी जा सकती है? किसी को भी नहीं; और यही कारण है कि इसमें से किसी का चरित्र-चित्रण नहीं हो सका है। राज्यश्री ही का चरित्र किसी प्रकार आदर्श राजपत्नी या राजपुत्री के रूप में ऊँचे नहीं उठ पाया है। द्वितीय संस्करण में इसका कुछ सफल प्रयास किया गया है तथा राज्यवर्द्धन को भी ऊँचे उठाया गया है। भाषा साधारण होते भी इनके पहिले के नाटकों से विशेष परिमार्जित है, पर 'प्रसाद' की भाषा-विषयक विशेषता तब भी न आ पाई है। द्वितीय संस्करण में नांदी आदि हटाई गई है। कविता बहुत कम है, केवल कुछ गेय पद दिए गए हैं। इस प्रकार इन चार नाटको के साथ 'प्रसाद' के नाट्य-निर्माण का प्रथम-काल समाप्त होता है। इसमें प्राचीनता छोड़ने तथा नवीनता लाने का प्रयत्न हो रहा था। भाषा तथा कविता में भी यह अपना नया मार्ग तब तक स्थापित न कर पाए थे। इनकी रचना के सात वर्ष बाद बहुत कुछ अध्ययन करने के अनंतर इनका नया नाटक विशाख प्रकाशित हुआ था।

कल्हण-कृत राजतरंगिणी के प्रथम तरंग में श्लोक १९७ से २७५ तक विशाख नाटक का मूल कथानक दिया हुआ है, जिसके आधार पर यह निर्मित हुआ है। यह शुद्ध इतिहास दंतकथा से आच्छादित कर दिया गया है, जिसे नाटककार ने शुद्ध रूप देकर ग्रहण किया है। पात्र भी प्राय' सभी इतिहास से लिए गए है। कथा इस प्रकार है। कश्मीरनरेश नरदेव सुश्रवा नाग की भूमि छीनकर एक बौद्ध विहार को दे देता है, जिससे वह अपनी बहिन रमणी तथा दो पुत्री इरावती और चंद्रलेखा के साथ कष्ट से दिन व्यतीत करता है। एक दिन वे दोनों खेतों में फलियाँ एकत्र करने आती हैं, जहाँ विद्यालय से तुरंत निकला हुआ एक विद्यार्थी,

जिसका नाम विशाख था, आ चुका था। वह इनके सौंदर्य तथा दारिद्र्य को देखकर चकित होता है और उनका हाल पूछता है। वे हाल बतलाकर जाती हैं तब बौद्ध भिक्षु आता है। विशाख उसे फटकार कर जाता है तब तक सुश्रवा भी वहीं पहुँचता है। इससे भिक्षु लड़ पड़ता है और इसे कैद कर लेता है पर चंद्रलेखा आकर पिता को छुड़ाती है तथा स्वयं पकड़ी जाती है। विशाख इस समाचार से अवगत होकर राजा के विदूषक द्वारा दरबार में पहुँचकर कुल वृत्त कहता है। राजा क्रुद्ध होकर स्वयं विहार में जाता है और चंद्रलेखा को देखकर उसपर मुग्ध हो जाता है। आवेश में वह इस विहार तथा राज्य भर के कुल विहारों को नष्ट करने की आज्ञा देता है। इसके अनंतर विशाख तथा चंद्रलेखा का प्रणय और विवाह होता है तथा वे अपनी अलग गृहस्थी जमाते हैं। नरदेव अहेर के बहाने चंद्रलेखा के घर आता है और अपना प्रेम प्रकट करता है। वह इन लोगों का आतिथ्य करने को पहिले तैयार होती है पर उक्त कारण जानकर इन्हें धता कर देती है। महापिंगल विदूषक एक भिक्षु को चैत्य में छिपकर चंद्रलेखा को राजा का प्रणय स्वीकार करने के लिए उपदेश देने को ठीक करता है और वह वैसा करता भी है पर चंद्रलेखा स्वीकार न कर उसके गर्जन-तर्जन को मूर्ति का गर्जन-तर्जन समझकर मूर्छित हो जाती है। प्रेमानंद पहिले से वहाँ छिपा हुआ यह दृश्य देखता रहता है और चंद्रलेखा को समझाता हुआ भिक्षु को धर दबोचता है। विद्यार्थी विशाख खड्गहस्त होकर वहाँ पहुँचता है और चंद्रलेखा को लिवा जाता है।

वितस्ता के किनारे नरदेव और पिंगल बातचीत कर रहे हैं और रानीजी भी वहीं पहुँचती हैं। प्रेमालाप के समय वही भिक्षु बंदी रूप में वहीं लाया जाता है, जो सब वृत्त कह डालता है। रानी यह सुनकर उसे छोड़ने की और पिंगल को कैद करने की आज्ञा देती है पर जब राजा पिंगल का पक्ष लेता है तब वह नदी में कूदकर आत्महत्या कर लेती है। इसके अनंतर पिंगल विशाख से चंद्रलेखा को राजा को दे डालने का प्रस्ताव करता है पर उसके द्वारा मारा जाता है। राजा के सैनिक विशाख और चंद्रलेखा को कैद कर ले जाते हैं। नागों का विद्रोह होता है और राजभवन में आग लगा दी जाती है। विशाख का गुरु प्रेमानंद राजा को बचा ले जाता है और चंद्रलेखा राजा के पुत्र को बचाती है। नरदेव साधु हो जाता है और उसका बालक पुत्र उसका उत्तराधिकारी होता है। अंत में प्रार्थना है।

प्रसादजी ने भूमिका में स्वीकार न करते हुए भी वस्तु-संगठन में बहुत कुछ परिश्रम किया है और उससे यह अधिक रोचक तथा मनोरंजक हो गया है। प्रेमानंद, पिंगल, तरला तथा दूसरा भिक्षु इनकी कल्पनाएँ हैं। पिंगल तथा तरला का परिहास और तरला की भिक्षु द्वारा वंचना, ये दो दृश्य कथा में व्यर्थ से आ पड़े हैं और परिहास की तो गंभीर, मननशील प्रसादजी से विशेष आशा रखना ही व्यर्थ है। ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र-चित्रण उन्हीं के अनुरूप रखा गया है, यह कम बात नहीं है। प्रायः अन्य लेखक ऐसा करने में अशक्त से हो जाते हैं या जान बूझकर उन्हें विकृत कर डालते हैं। विशाख मूल में परदुःखकातर तथा सहायक विद्यार्थी मात्र है पर प्रसादजी ने उसे सिद्धहस्त तलवरिया बना डाला है, जिससे वह पिंगल को मार सका है। इस हत्या की आवश्यकता भी न थी। स्यात् कुकर्म के साथी को दंड दिलाना आवश्यक समझकर ऐसा किया गया है और इसीसे उसकी स्त्री का भिक्षु द्वारा भी सर्वस्व-मोचन कराया गया है। प्रेमानंद संसार-विरक्त होते हुए भी दूसरों की सहायता करते तथा उपदेश देते दिखलाए गए हैं। इस नाटक की भाषा प्रौढ़ है और उसे क्लिष्ट करने का आयोजन अभी से होने लगा है। कुछ भावुकता आ चली है और उर्दू की चाल पर गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयास दिखलाई पड़ता है। कविता कहीं-कहीं और लंबी-लंबी दी गई है पर सब खड़ी बोली में है। इनमें प्रसादजी की कविता के नए मार्ग का भी आभास मिलने लगा है। इस प्रकार यह नाटक अच्छा बन पड़ा है और विद्वान तथा सर्वसाधारण सभी के पढ़ने योग्य है।

अजातशत्रु मगधराज बिंबसार का पुत्र था। इन्हें दो रानियाँ वासवी तथा छलना थीं, जिनमें प्रथम से एक कन्या पद्मावती थी, जो श्रावस्ती के राजा उदयन को व्याही थी और दूसरी का पुत्र अजातशत्रु था, जिसका नाम कुणीक भी था। छलना तथा अजातशत्रु दोनों उच्छृंखल होकर बिंबसार को वाध्य करते हैं कि वह वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर पुत्र को राजसिंहासन सौंप दे। गौतमबुद्ध के उपदेश से ऐसा किया जाता है। देवदत्त बुद्ध का प्रतिद्वंद्वी होकर अजातशत्रु का सम्मतिदाता बनता है और माता-पिता के विरुद्ध उसे उभाड़ता है। काशी प्रांत वासवी के पिता कोशल-नरेश प्रसेनजित् का दिया हुआ है और जब अजातशत्रु के व्यवहार से कुंठित होकर वासवी उस प्रांत की आय अपने पति के लिए लेना चाहती है तब इसीको लेकर कोशल तथा मगध में दो युद्ध होते हैं। प्रसेनजित् का पुत्र विरुद्धक पिता के विरुद्ध विद्रोह करता है और काशी पहुँच-

कर शैलेंद्र नामक डाँकू हो जाता है। वह अजातशत्रु का सहायक होकर कोशल के सेनापति बंधुल को मार डालता है और कोशल पर प्रथम युद्ध में विजय पाता है। श्रावस्ती के उदयन की तीन रानियाँ—वासवदत्ता, पद्मावती तथा मागंधी थीं। अंतिम छलकर पद्मावती को दोषी बनाती है और उदयन नासमझी से उसे दोषी मानकर उसे मारने को तैयार होता है पर ठीक समय पर सब बातें खुलती हैं, जिससे वह पद्मावती से क्षमा माँग लेता है। अब वह कोशलराज की सहायता कर मगध पर विजय प्राप्त करता है। मागंधी भागकर काशी में श्यामा वारविलासिनी बनती है और शैलेंद्र द्वारा मारी जाती है पर बुद्ध द्वारा जिलाई जाने पर भिक्षुनी बन जाती है। बंधुल की पत्नी मल्लिका पति के हत्या कराने तथा करने-वाले दोनों प्रसेनजित् तथा विरुद्धक की सहायता करती है। अजातशत्रु बंदी होकर कोशल पहुँचता है, जहाँ कोशलकुमारी वाजिरा उस पर मुग्ध होती है। वासवी भी उसे छुड़ाने को कोशल जाती है और वहीं अजात-शत्रु तथा वाजिरा का विवाह होता है। मल्लिका इसी समय विरुद्धक तथा उसकी माता के साथ आती है और दोनों को क्षमा दिलाती है। अजातशत्रु को पुत्र होता है और सब बिंबसार के पास जाते हैं जो सबको क्षमा कर देता है।

वस्तु-संगठन अच्छा हुआ है। ढाई सहस्र वर्ष पहिले की ऐतिहासिक घटना लेकर अजातशत्रु नाटक का कथावस्तु निर्मित हुआ है। इस विषय पर नाटककार ने भूमिका मे सभी प्राप्त साधनों का उल्लेख किया है, जिससे तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश पड़ता है और नाटककार का अध्यवसाय सूचित करता है। इसी नाटक से प्रसादजी की निजी शैली के नाटकों का आरंभ समझना चाहिए और यही उनके उत्तम नाटकों में प्रथम है। उच्च कोटि के नाटककारों में प्रसादजी की नाम-गणना इस रचना से आरंभ हुई होगी। इसमें आई हुई कविता भी इनकी निजी शैली की है और इनकी भावुकता का रंग गद्य तथा पद्य दोनों पर इसी नाटक से आरंभ होता है, जो आगे क्रमशः अधिक शोख होता चला गया है। इस नाटक में चरित्र-चित्रण भी अच्छा हुआ है। अजातशत्रु प्रधान पात्र है पर वह दूसरों के हाथों में खिलौना सा है। माता और देवदत्त के द्वारा उत्साहित होकर अपने सारे परिवार से बिगड़ खड़ा होता है, उन्हे कष्ट देता है, कपट से अर्जित विजय से दंभी हो उठता है पर एक ही धक्के में उसका सब मद उतर जाता है। छलना का राजमातृत्व का दंभ भी इसी प्रकार नष्ट हो गया। उसका निजी व्यक्तित्व कुछ भी नहीं है। विपत्ति क्या,

किसी समय भी वह कुछ कर न सकने योग्य चित्रित हुई है। वह अपने पुत्र को उच्छृंखल मात्र बना सकी, राजदंड सँभालने योग्य न बना सकी। वह साधारण कलह-प्रिय स्त्री मात्र थी। बिंबसार अति निर्बल राजा थे, जो एक ऐसी साधारण स्त्री के कथन मात्र पर सारा राज्य एक बालक को सौंपकर अलग हो गए। गौतमबुद्ध के कथन मात्र से अजातशत्रु राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता था। उसकी उच्छृंखलता, गुरुजन के प्रति उद्दंडता तथा माता-पिता के प्रति अवहेलना प्रकट हो चुकी थी और इसका वह 'विश्वस्त प्रमाण' दे चुका था। प्रसेनजित् बिंबसार से अधिक दृढ़ थे और विरुद्धक कुछ भी न कर सकता यदि वह अजातशत्रु की सहायता न पाता तथा कुछ उपद्रव करने के सिवा वह कुछ कर भी न पाया। वासवी का चरित्र बहुत अच्छी प्रकार चित्रित हुआ है; उसका पातिव्रत्य, वात्सल्य-स्नेह, प्रजाप्रेम सभी आदर्श थे। विमाता होते भी उसका पति पुत्र अजातशत्रु पर अपनी पुत्री पद्मावती से कम स्नेह न था और अजातशत्रु के पुत्र होने पर जितना उसको आनंद तथा प्रसन्नता हुई स्यात् छलना को भी नहीं हुई। अजातशत्रु को भी अंत में इसका अनुभव हो गया था। पद्मावती वासवी की पुत्री थी, इतना ही उसके विषय में कहना अलम् है, पर बिंबसार की निर्बलता उसमें भी आ गई थी, नहीं तो उसे उदयन से कमसे कम अपना दोष तो पूछना चाहिए था। वासवी में शक्ति थी और योग्यता थी पर वह पति के कारण दब सी गई थी। उदयन उन्मत्त मनुष्य सा, राजा सा नहीं, चित्रित हुआ है। पद्मावती उसकी हत्या कर क्या लाभ उठाती, इस ओर उसने ध्यान भी न दिया। न उस पर व्यभिचार का दोष था और न उसे पुत्र ही उस समय तक था कि उसे राजमाता बनने का शौक था। मल्लिका का चित्त अत्यंत आतिथ्यप्रिय है, बुद्धदेव के उपदेश से 'मृत्पिंड' की मृत्यु का तुरंत समाचार पाकर भी भिक्षुओं को भोजन कराती है। 'चाँदी का पात्र गिरकर टूटने' के समान ही उसका पतिशोक भी उपदेश पाकर नष्ट हुआ सा दिखलाया गया है। इसी समय महाराजा प्रसेनजित् शोक मनाने नहीं, क्षमा माँगने आते हैं और क्षमा प्राप्त करते हैं, केवल इसलिए कि एक शक्तिशाली सेनापति को उन्होंने ऐसे स्थान पर भेज दिया था, जो आपत्ति-रहित नहीं था। इन्होंने शैलेंद्र डाँकू को बंधुल को मार डालने के लिए आज्ञा भेजी थी, ऐसा इन्हीं की विद्रोही पत्नी का कथन है। बढ़ते हुए सशक्त सामंत को, जिससे राष्ट्र विपन्न हो सकता है, मार्ग से हटा देना राजनीति है और इसके लिए एक महाराजा को अपने तईं इतना नीचा दिखलाना

अनावश्यक तथा अनुचित था। हाँ, इससे मल्लिका की क्षमा का महत्व नहीं घटता। उसने बंधुल के कपटी घातक विरुद्धक को क्षमा कर दिया था, जिससे उसे उतनी भी शिष्टता न मिल सकी जितनी उसके पिता से। गौतमबुद्ध उपदेशक रूप में सर्वत्र वर्तमान हैं पर उनका उनके उपयुक्त चित्रण नहीं हो सका है। अन्य पात्र साधारण कोटि के हैं। एक बात सभी पर लागू है कि वे सब नियति के खिलौने से हैं और उसीके सूत्र के सहारे खेल करते हैं।

भाषा प्रौढ़ तथा प्रांजल है पर भावुकता में फँसी हुई है। ऐसी भाषा सभी प्रकार की साहित्यिक कृतिओं में समानरूपेण उपादेय नहीं है। नाटकों में सहज सुगम भाषा ही अपेक्षित है, क्योंकि यदि दर्शक अर्थ न समझकर उसपर विचार करने लगे तो उस बीच पात्र उसके लिए रुका न रहेगा और तब बहुत सी बात दर्शक न सुन सकेगा। इसलिए उसके लिए वैसे गंभीर वाक्यों को बिना समझे उपेक्षा कर छोड़ देना ही पड़ेगा। कविता भी रहस्यवादमयी है और कई स्थानों पर बेकार सी आई है, जैसे गौतम बुद्ध के गाने। वंदीगृह के एकांत में अपने को छिपाती हुई आनेवाली वाजिरा का उस परिस्थिति में गाना दोष ही है। हाँ, उसे स्वगत द्वारा आच्छादित कर दिया गया है, जिसमें वह मन के भीतर ही गा ले।

इस नाटक में किस रस की प्रधानता है, यह कहना कुछ कठिन है। शृंगार, वीर, करुण, शांत सभी हैं पर प्राधान्य किसी का भी नहीं है और नाटककार ने किसी को विशेष रूप से दृष्टि में रखकर लिखा भी नहीं है। आप से आप इन सब का समावेश होता गया है। प्राचीनता का इस नाटक में बहिष्कार सा है। मंगलाचरण या अंतिम प्रार्थना भी नहीं है। थिएट्रिकल के समान यह नाटक तीन अंकों तथा अंक दृश्यों में विभक्त है। नाटक पठनीय तथा अभिनय योग्य है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' की घटना अत्यंत प्राचीन है और प्रायः कलियुग के आरंभकाल की है। प्रसादजी ने पौराणिक उपाख्यान को बड़े अध्यवसाय से इतिहास का रूप दिया है और स्यात् इसी कारण इसे अजातशत्रु के प्रकाशन के चार वर्ष बाद पूर्ण कर सके थे। अनेक पुराण, ब्राह्मण आदि का मनन कर इस घटना-संबंधी अवयवों को एकत्र कर इस नाटक की कथावस्तु का पूरा ढाँचा तैयार किया गया है। कथावस्तु इस प्रकार है कि अर्जुन द्वारा खांडववन में नागों के भस्म किए जाने के कारण उनके पुत्र राजा परीक्षित तक्षक नाग द्वारा मारे गए और तब

इनके पुत्र जनमेजय ने नागों से बदला लेने का निश्चय किया। यह पहिले की कथा प्रथम दृश्य में मनसा तथा सरमा की बातचीत में पूर्ण रूप से बतलाई गई है। वेद ऋषि का शिष्य उत्तंक गुरुदक्षिणा में गुरुपत्नी की आज्ञा से रानी का मणिकुंडल लाने जाता है। जनमेजय के लोभी पुरोहित काश्यप के ऐंद्र महाभिषेक न कराने पर तुरकावषेय वह कर्म करा देते हैं पर दक्षिणा स्वयं न लेकर उन्हीं पुरोहित को दिला देते हैं। इसी समय उत्तंक आकर रानी से मणिकुंडल माँग लेते हैं। मार्ग में काश्यप के बतलाने पर तक्षक उत्तंक से मिलता है और उसे सोते समय मारकर मणिकुंडल लेने का प्रयास करता है पर वासुकी तथा सरमा के आ जाने से ऐसा नहीं कर पाता। उत्तंक मणिकुंडल ले जाकर गुरुपत्नी को देता है। वह 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' के नाते इसपर प्रेम प्रकट करती है पर यह उसे फटकार कर चल देता है। इसी समय जनमेजय अहेर खेलने आकर धोखे से जरत्कारु ऋषि को बाण मारते हैं और इस एक हत्या के प्रायश्चित में अश्वमेध यज्ञ करने को उद्यत होते हैं। उसी तपोवन में जनमेजय का नागराज तक्षक की पुत्री मणिमाला से साक्षात् होता है और दोनों में प्रेम अंकुरित होता है। उत्तंक गुरुपत्नी से छूटते ही तक्षक का दमन कराने के लिए जनमेजय के पास जाकर उसे नागों के विरुद्ध उभाड़ता है और वह अश्वमेध यज्ञ के लिए अपने तीन भाइयों को तीन ओर भेजकर स्वयं नागों की ओर चढ़ाई करता है। काश्यप तथा अन्य अनेक ब्राह्मण तक्षक से मिल कर जनमेजय के विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं पर नागों पर जनमेजय का आक्रमण हो जाने पर वे हतबुद्धि हो जाते हैं। जनमेजय सोमश्रवा को अपना नया पुरोहित नियत करते हैं और उनकी सेना बहुत से नागों को मारकर तथा उनके ग्रामों को जलाकर लौटती है। जनमेजय के तीनों भाई भी विजयोपहार लेकर लौटते हैं। अश्व के छोड़े जाने पर तक्षक की बहिन मनसा के उत्साह दिलाने पर नागगण अश्व को पकड़ते हैं और फिर मारे जाते हैं। यज्ञ आरंभ होता है पर काश्यप उसमें विघ्न डालने को तक्षक सहित आता है और उसे अश्व तथा राजमहिषी को ले भागने की सम्मति देता है। पर सरमा, उसका पुत्र माणवक और जरत्कारु ऋषि तथा मनसा का पुत्र आस्तीक इस षड्यंत्र में विघ्न डालते हैं, जिससे तक्षक आदि पकड़े जाते हैं। राजमहिषी को नाग से बचाकर उसे वेदव्यास ऋषि के आश्रम में पहुँचाते हैं। जनमेजय इस विघ्न से अत्यंत कुपित होकर सभी ब्राह्मणों को निर्वासन की आज्ञा देता है और तक्षक आदि नागों की आहुति देने की

अनुमति देता है पर उसी समय वेदव्यासजी आस्तीक आदि के साथ आते हैं। अंत में दोनों पक्ष में मेल होता है और नाग-राजपुत्री मणिमाला का जनमेजय से विवाह होता है।

इस नाटक का वस्तु बहुत ही सुगठित है और प्रायः कुछ हेर फेर के साथ प्राचीन ग्रंथों के आधार पर ही निर्मित हुआ है। चरित्र-चित्रण में भी नाटककार को प्राचीन ग्रंथों से बहुत कुछ सहायता मिली है। नायक और प्रतिनायक जनमेजय तथा तक्षक अपनी अपनी सभ्यता के आदर्श हैं। वासुकि नाग पर आर्य-बाला सरमा का प्रभाव स्पष्ट है और इसके पुत्र माणवक पर भी। सरमा स्वतः दो भिन्न सभ्यताओं के बीच पड़कर विश्वमैत्री के पक्ष में हो गई है क्योंकि उसे दोनों ओर तिरस्कार ही मिलता था पर उसका भी प्रभाव क्रमशः दोनों पर पड़ता था। मनसा का नागराजवंश का रक्त अत्यधिक उष्ण था पर समय तथा अयाचित प्रतिफल ने उसे शीघ्र ठंढा कर दिया। आस्तीक ऋषिपुत्र था और उसने अंत तक बड़ी महत्ता के साथ अपने पद का निर्वाह किया। उसका ध्येय भी अति उच्च था और उसमें वह सफल हुआ। इनके सिवा अन्य पात्र-गण साधारण हैं पर उनका उपयुक्त चित्रण हुआ है। भाषा 'प्रसाद'—युक्त है और बात-चीत में शास्त्रीय बातें अत्यधिक आ गई हैं, जिससे यह नाटक अभिनय से अधिक पठन-पाठनके उपयुक्त हो गया है। 'नियति-चक्र' को नाटककार इसमें भी नहीं भूले और कैसे भूलते, सभी इसीमें फँसे हुए हैं। नाटक का प्रधान रस वीर है पर कहीं कहीं शृंगार का भी पुट है। प्रसन्नता है कि इसमें हास्य का परिहास नहीं किया गया है। प्रसादजी के अच्छे नाटकों मे यह एक है, इसमें कुछ भी शंका नहीं। गाना या कविता इसमें बहुत कम-हो गई है और जो है वह किसी वाद में नहीं पड़ी है।

रचनाक्रम मे नागयज्ञ के बाद 'कामना' आती है, जो एक नए मार्ग पर निर्मित हुई है। सांसारिक माया से दूर प्रकृति की अंचल में पले हुए मानव-समाज की कामना किस प्रकार विलास की लालसा के फेर में पड़कर नीचे की ओर गिरती है, इसीका इसमें भावुकता-पूर्ण वर्णन किया गया है और इस कार्य में जितनी सुवृत्ति तथा कुवृत्ति का सहयोग होता है, उन्हीं भावों को मूर्त रूप देकर पात्र निर्वाचित करते हुए नाटक का निर्माण किया गया है। कामना और संतोष का द्वंद्व सहज स्वाभाविक है, एक बढ़ती है, दूसरा उसे रोकता है। यदि यह अंकुश न हो तो उच्छृंखल कामना कहाँ तक बढ़ जाय, इसकी सीमा नहीं। पर इसके विपरीत

विनोद-तथा लीला और विलास तथा लालसा का साहचर्य सहज सुलभ है। प्रथम में द्वंद्व होते भी उसी कारण साहचर्य आवश्यक है, इसीलिए ये तीन युग्म नाटककार ने स्थापित किए हैं। कथावस्तु इस प्रकार गठित किया गया है कि कामना अपनी इच्छाओं पर विचार कर रही है और संतोष से कुछ रुष्ट है, इसी समय अनजान देश से विलास स्वर्ण लेकर आता है, जिस पर वह आकर्षित होती है। विलास उसे उत्तेजित करता है और उसके द्वारा मानवसमाज पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है। वह मदिरा का उत्पादन करता है और स्वर्ण-मदिरा का सहयोग उसके कार्य में सहायक होता है। विनोद का लीला के साथ विवाह कराकर उसे अपने पक्ष मे करते हैं। कामना रानी बनाई जाती है और नैसर्गिक स्वतंत्र-सत्ता नियमबद्ध की जाती है। मदिरा तथा स्वर्ण का लोभ अनेक अपराधों का कारण होता है, शांतिदेव का प्राण-विसर्जन होता है और दंभ, प्रमदा आदि का व्यापार बढ़ता है। स्वर्ण के लिए अन्य राजों पर आक्रमण और रक्तपात होता है। सशक्तो की दुर्वृत्ति को पूर्ण न करने-वाले दंड-विधान की ओट मे बलि दिए जाते हैं। विलास की लालसा से पट गई थी और व्याह हो चुका था। विवेक सर्वत्र आड़े आता है पर उसकी कोई नहीं सुनता। अंत में विवेक सफल होता है और विलास तथा लालसा से आहत हुओ की रक्षा कर उन्हें अपनी ओर मिलाता है। दैवी कोप से विलास का नवीन नगर भूकप से नष्ट हो जाता है और अंत मे विलास-लालसा के गर्त की ओर बढ़ती हुई कामना संतोष का पल्ला पकड़ती है तथा नाटक का अंत होता है।

इस नाटक का द्वितीय सस्करण मे कुछ परिष्करण हुआ है पर वह केवल सिगार को श्रृंगार, नाज को अन्न आदि करने में ही सीमित है। इस नाटक का उठान जिस प्रकार का है, अंत वैसा नहीं हो सका है। भावात्मक नाटक लिखने मे प्रसादजी सफल नहीं हो सके है और इसी कारण इस ओर फिर इन्होंने दृष्टि नहीं दी। भाषा संस्कृत-गर्भित होते भी मधुर तथा वस्तु के अनुकूल है। कुछ पद भी सुंदर हैं।

भारत पर यूनानियों के आक्रमण तथा उनके प्रभाव का शुद्ध असंदिग्ध विस्तृत इतिहास अब तक भी नहीं लिखा गया है और इसी प्रकार मौर्य-साम्राज्य के संस्थापन का भी पूरा इतिहास प्राप्त नहीं है। ये दोनों घटनावली एक दूसरे से इस प्रकार मिली हैं कि एक का लेखक दूसरे से अपने को नहीं बचा सकता। परंतु इन्हीं घटनाओं से लेकर संस्कृत में एक नाटक डेढ़ सहस्र वर्ष पहले मुद्राराक्षस नाम से विशाखदत्त

द्वारा निर्मित हुआ था और उसमें चंद्रगुप्त के सम्राट् होने पर उसकी राज्यश्री के स्थिरीकरण के लिए चाणक्य द्वारा किए गए प्रयासों का वर्णन है। उसके अनंतर वर्तमानकाल में बंगला में, द्विजेंद्रलाल राय ने चंद्रगुप्त नाटक लिखा, जिसका हिंदी में बीस वर्ष हुए कि अनुवाद हो चुका है। इस समय के पहिले ही प्रसादजी चंद्रगुप्त मौर्य पर अपना ऐतिहासिक विवेचन प्रकाशित कर चुके थे और कल्याणी-परिणय नाम से एक छोटा रूपक भी काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छपा चुके थे। अंत में उस सब अध्यवसाय के फल स्वरूप प्रसादजी का यह वृहत् नाटक चंद्रगुप्त सं० १९८५ में पूरा हुआ, जो दो तीन वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। इसका वस्तु व्यापार जटिल होते हुए भी विशेष सुश्रृंखलित तथा सुगठित हुआ है। वस्तु इस प्रकार है—

चाणक्य अपना स्वाध्याय पूर्ण कर तथा कुछ दिन के अध्यापन कार्य से गुरुदक्षिणा चुकाकर तक्षशिला के गुरुकुल से निकलते हैं। इसी समय इसी गुरुकुल से मगधवासी चंद्रगुप्त तथा मालव (मल्लोई) राजकुमार सिंहरण भी स्नातक हो अपने अपने गृह लौटते हैं। यहीं गांधार के राजकुमार आंभीक तथा राजकुमारी अलका से इन लोगों का परिचय होता है और अलका तथा सिंहरण में प्रेमांकुरण भी होता है। चाणक्य तथा चंद्रगुप्त मगध लौटते हैं। मगध-नरेश नंद कहाँ तक विलास तथा अत्याचार में निमग्न है, यह दिखलाते हुए चाणक्य के पिता का निर्वासन, शकटाल का सवंश नाश और चंद्रगुप्त के पिता का बंदी होना सूचित किया गया है। नंद की राजसभा मे चाणक्य तथा चंद्रगुप्त दोनों ही आर्यावर्त पर यवन-आक्रमण की सूचना देते हुए सभी नरेशों का मिलकर उसे विफल करने की सम्मति देते हैं पर नंद नहीं स्वीकार करता। पौरव पर्वतेश्वर से वह इस कारण चिढ़ गया है कि उसने शूद्र नरेश की कन्या से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। इसी सभा में चाणक्य की शिखा खींची जाती है और वह प्रतिज्ञा करता है कि नंदकुल के निःशेष होने पर ही वह बाँधी जायगी। गांधार का राजकुमार आंभीक अलक्षेंद्र (सिकंदर) का पक्ष लेता है, जिसमें वह पर्वतेश्वर से बदला ले सके। उसकी बहिन अलका इसके विरुद्ध थी और उसको एक मानचित्र के कारण यवन सेल्यूकस बंदी रूप में वृद्ध गांधार-नरेश के सामने ले जाता है। वह वृद्ध, पुत्र तथा पुत्री दोनों की बात न रख सकने पर राज्य को पुत्र को सौंपकर पुत्री की खोज में चला जाता है। चाणक्य, चंद्रगुप्त की सहायता से कारागार से मुक्त होकर पर्वतेश्वर के पास आता

है पर वह मगध के षड्यंत्र में सहायता देना अस्वीकार कर देता है। चाणक्य, चंद्रगुप्त, अलका, सिकंदर आदि दांडायन ऋषि के आश्रम में एकत्र होते हैं और यहीं ऋषिजी चंद्रगुप्त को भारत का भावी सम्राट् घोषित करते हैं। चंद्रगुप्त पहिले एक बार मगध की राजकुमारी कल्याणी की चीता से रक्षा कर चुके थे और अब सेल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया की आततायी फिलिप्स से रक्षा करता है। सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त की सिंह से रक्षा की थी और उसीके अनुरोध से वह ग्रीक शिविर में उपस्थित था। सिकंदर का प्रस्ताव था कि चंद्रगुप्त उसकी ग्रीक-वाहिनी की सहायता से मगध पर अधिकार करे पर उसने स्वीकार नही किया और ग्रीक-शिविर से निकल गया। अब चाणक्य की कूट-नीति का आरंभ होता है। वह अपने साथियों के साथ पर्वतेश्वर की सेना में मिल जाता है। कल्याणी के अधीन मगध की छोटी सेना में मिलकर ठीक समय पर ये लोग पर्वतेश्वर को सहायता पहुँचाते हैं पर सिकंदर युद्ध रोककर पर्वतेश्वर से मैत्री करता है। अब चाणक्य आदि उसका साथ छोड़कर यवनों को रोकने का दूसरा प्रबंध करते हैं। सिंहरण तथा अलका पर्वतेश्वर के यहाँ बंदी होते हैं पर अलका के षड्यंत्र से प्रथम मुक्त किया जाता है। चाणक्य के प्रयास से मालव-क्षुद्रक दो गणतंत्र मैत्री कर सिकंदर को रोकने का प्रयत्न करते हैं और चंद्रगुप्त उसका सेनापति नियत होता है। सिकंदर अपनी सेना के दो भाग करके स्थल तथा जलमार्ग से यात्रा आरंभ करता है पर उसका विचार मार्ग के गणराज्यों को विजय करते हुए जाने का था। मालव दुर्ग पर आक्रमण करते समय सिकंदर घायल होता है और लौट जाता है। इसी समय सिंहरण तथा अलका का विवाह होता है। चंद्रगुप्त कल्याणी, मालविका तथा कार्नेलिया तीनों को आकर्षित करता है और स्वय उन पर आकर्षित होता है। सिकंदर के साथ कार्नेलिया भी चद्रगुप्त से मिलकर लौट जाती है। कल्याणी भी मगध लौट जाती है। चाणक्य ने छल से राक्षस को रोक रखा था, जिसमें मगध में इसका षड्यंत्र बिना विरोध चलता रहे पर पता लगने पर या चाणक्य का काम पूरा हो जाने पर वह मगध लौटता है। इधर चाणक्य पर्वतेश्वर को आधा मगध राज्य देने का लोभ देकर साथी बनाता है और मगध में विप्लव की तैयारी को पूर्ण कर लेता है। जिस समय राक्षस मगध के राजभवन में पहुँचता है, उस समय नंद सुवासिनी पर बलात्कार करने को उद्यत मिलता है। इसे देखते ही वह उसे छोड़ देता है। चाणक्य भी कुसुमपुर पहुँचता है और शकटाल अंधकूप से छुटकारा पाकर प्रति-

हिंसा को उद्यत होता है। नगर में नंद के अत्याचारों के कारण विद्रोह सुलग रहा था, जिसे यह और भी भड़काता है। नंद की राजसभा में सेनापति मौर्य की पत्नी आकर उस पर महापद्म के रक्तपात तथा अपने पति के बंदी किए जाने का दोष लगाती है। वह तथा उसकी रक्षा करने में वररुचि दोनों कैद किए जाकर कारागार में भेजे जाते हैं। इसी समय चाणक्य के जाली पत्र तथा मुद्रा को पाकर नंद राक्षस को विवाह-मंडप से पकड़ लाने की आज्ञा देता है और मालविका, जो पत्र लाई थी, कैद होती है। ये सब कैदी शीघ्र ही शकटाल के बनाए मार्ग से छूटकर निकलते हैं और चाणक्य तथा चंद्रगुप्त से मिलते हैं। पर्वतेश्वर भी अपनी सेना के साथ आ जाता है। राक्षस के पकड़े जाने पर नगर में बड़ी उत्तेजना फैलाई जाती है, शकटाल आदि की कष्ट-गाथा उसे और प्रज्वलित करती है। राजसभा में सभी पहुँचते हैं और नंद बंदी बनाया जाता है। इसी समय कल्याणी को वंदिनी बनाए पर्वतेश्वर आता है, जिसे देखकर नंद क्षमा चाहता है पर शकटाल उसे मार डालता है। परिषद् चंद्रगुप्त को गद्दी देता है। अनाथिनी कल्याणी एक ओर चली जाती है। राजोद्यान में पर्वतेश्वर उसे छेड़ता है, पकड़ता है और तब वह उसी के छूरे से उसे मार डालती है। चंद्रगुप्त और चाणक्य आते हैं तथा उनके सामने वह आत्महत्या कर लेती है। चंद्रगुप्त दक्षिणापथ विजय करने जाता है और वहाँ से लौटने पर राक्षस उसे रात्रि में मार डालने का षड्यंत्र करता है पर मारी जाती है मालविका और चंद्रगुप्त बच जाता है। सिकंदर की मृत्यु पर सेल्यूकस पूर्वीय प्रांतों का राजा बनता है और भारत पर चढ़ाई करता है। आंभीक भी मौर्य-साम्राज्य का पक्ष लेता है और युद्ध में सेल्यूकस मागध सेना से परास्त होकर बंदी होता है। इसके बाद संधि होती है और सेल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया से चंद्रगुप्त का विवाह होता है। चाणक्य राक्षस को प्रधान मंत्री नियुक्त कराकर वन को चला जाता है।

नाटक के विषय में लिखने के पहिले एक बात विशेष रूप से विचारणीय है और ऐसी हालत में जब नाटककार 'मौलिक इतिहास के अन्वेषक' भी हैं। सिकंदर सन् ३२७ पूर्वेसा में भारत आया और प्रायः डेढ़ वर्ष भारत में रहकर लौट गया था। नाटक इस आक्रमण के कुछ पहिले ही से आरंभ हो जाता है। इसका अंत सेल्यूकस के पराजय तथा संधि से होता है। यह संधि सन् ३०३ पूर्वेसा में हुई थी। इस प्रकार इस नाटक का वस्तु-काल २५ वर्ष का हो जाता है, जो नाट्य-

शास्त्र के अनुसार वर्ज्य है। इस लंबे काल से किस प्रकार नाटक को हानि पहुँचती है वह इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आरंभ में कैशोर या युवा थे, वे अंत होते होते प्रौढ़ या वृद्ध हो चलते हैं पर नाटककार इधर न ध्यान रखकर उस अवस्था में उनको वही कैशोर या युवा समझता हुआ उनका विवाह आदि कराता है। इसीसे कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी, चंद्रगुप्त, राक्षस आदि २५ वर्ष बाद भी युवा माने जाते हैं और चालीस, पचास वर्ष की वृद्धाओं का विवाह होना बतलाया जाता है। इस प्रकार के दोष से स्वाभाविकता का नाश किया जाता है। संधि के पाँच वर्ष बाद ही चंद्रगुप्त की मृत्यु होती है या वह राज्य त्याग देता है और उसका पुत्र बिंदुसार या अमित्रघात गद्दी पर बैठता है। ऐसी अवस्था में वह कार्नेलिया का संतान नहीं हो सकता और अवश्य ही वह किसी अन्य रानी का पुत्र रहा होगा। ऐसी अवस्था में व्यर्थ ही नाटककार ने दो दो युवतियों का खून कराया।

इस प्रकार के लंबे काल के वस्तु को लेने का नाटककारगण प्रायः इस कारण लोभ नहीं संवरण कर सकते क्योंकि वे कुछ दृश्यों को अति सुंदर समझकर छोड़ना नहीं चाहते। इस नाटक की भी यही दशा है। सिकंदर तथा सेल्यूकस दोनों ही पर चंद्रगुप्त के विजयों को दिखलाने का लोभ नाटककार नहीं छोड़ सके और यही कारण है कि अभिनय की दृष्टि से बहुत बड़ा नाटक हो जाने पर और उसे बहुत कुछ संक्षेप करने पर भी चार अंक और उनचास दृश्य देने पड़े हैं। कुछ अधिक विस्तार करने पर इसी कथावस्तु से दो अच्छे नाटक बन जाते और उक्त दोषों के आ जाने की भी संभावना न रह जाती। नंद-वंश के पतन तक ही यदि नाटक समाप्त हो जाता और यदि नंद-पुत्री से विवाह कराकर चंद्रगुप्त के नए साम्राज्य को दृढ़ता दी जाती, तो अच्छा ही होता।

व्यापार शृंखला के आधिक्य के कारण चरित्र-चित्रण की ओर भी नाटककार विशेष दत्तचित्त नहीं रह सका है क्योंकि इसी कारण पात्रों तथा पात्रियों की सूची भी बहुत बढ़ गई है। घटनावैचित्र्य लाने के लिए अकारण भी दृश्य बढ़ाए गए और पात्र भी। कल्याणी को चीते से और कार्नेलिया को मनुष्य रूपी चीते फिलिप्स से बचाना भरती मात्र ज्ञात होता है। कल्याणी और उसकी सखियाँ तथा मालविका की भी कोई विशिष्ट आवश्यकता नहीं है। पर्वतेश्वर इतिहास-प्रसिद्ध पोरस या पुरु नहीं रह सका है, उसकी महत्ता कम कर दी गई है। चंद्रगुप्त का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है, पर आरंभ से अंत तक वह एक-सा विकासोन्मुख

नहीं कहा जा सकता। वह शस्त्रकुशल युवा वीर के समान सिंहरण की आंभीक से रक्षा करता है और चीते से कल्याणी की। इस रक्षा का उल्लेख भी नंद से नहीं किया गया है। राजसभा में चंद्रगुप्त चाणक्य का पक्ष लेता है पर वह सुना नहीं जाता। जिस राजवंदीगृह में 'समीर की गति भी अवरुद्ध है' वहीं से दो दो अमात्यों के सामने अकेला चंद्रगुप्त द्वाररक्षकों को मारकर चाणक्य को छुड़ा ले जाता है। ऐसा वीर पथ चलते चलते इतना थक गया कि बेहोश होकर गिर पड़ा, जब चाणक्य बिना थके जल लेने जाता है। व्याघ्र आकर उसके पास बैठता है और सेल्यूकस ठीक समय पर पहुँचकर उसे मारकर उसकी रक्षा करता है। चोटैल हिंसक व्याघ्र मरते हुए पास में पड़े चंद्रगुप्त पर कल्याण का एक हाथ भी न रख सका और एक तीर खाकर चुपचाप ऐसा मर गया कि चंद्रगुप्त जाग भी न सका। जल से सिंचित होकर उठते ही चंद्रगुप्त सेल्यूकस का कृतज्ञ बनाया जाता है, किसलिए? इसीलिए कि आगे चलकर वह इसी कृतज्ञता के कारण सेल्यूकस को छोड़कर उसकी पुत्री का वरण करे। यह अनावश्यक था क्योंकि भारतीयों की शत्रुओं को छोड़ देने की यह उदारता पृथ्वीराज में अधिक प्रकट थी। क्या महम्मद गोरी ने भी कभी इसी प्रकार पृथ्वीराज की रक्षा की थी। इसके अनंतर दांडायन चंद्रगुप्त के विषय में भविष्यवाणी करते हैं। वह कार्नेलिया पर मुग्ध हो ग्रीक-शिविर में जाता है और वहाँ उसकी रक्षा कर तथा सिकंदर से दो बातकर चंद्रगुप्त सिकंदर की विपुल वाहिनी से निकल भागता है, उसे कोई नहीं रोक सका। अब वह ठीक समय पर पर्वतेश्वर की रक्षा करने पहुँचता है पर शोक कि युद्ध बंद हो जाता है। चंद्रगुप्त यहाँ से लौटकर मालविका से उद्यान में बातचीत करता है तथा गान सुनने की इच्छा प्रकट करता है। इसके अनंतर वह मालव-क्षुद्रक सेना का अध्यक्ष नियत होता है। इसी समय चाणक्य के एक कथन से ज्ञात होता है कि 'चंद्रगुप्त का असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा' यदि कल्याणी उससे बिना कुछ कहे मगध चली जायगी। मालव दुर्ग विजय के समय कृतज्ञता भार से अपने को दबा समझनेवाले भारतीय सिंहरण तथा चंद्रगुप्त सिकंदर और सेल्यूकस को क्रमशः छोड़ देते हैं। सिकंदर के लौटने के समय कार्नेलिया तथा चंद्रगुप्त की बातचीत में दोनों का पारस्परिक प्रेम दिखलाया गया है। अब चंद्रगुप्त कुसुमपुर में विद्रोह कराता है और नंद का पक्ष निर्बल होने से उसे कैद करता है। कल्याणी के विचार से भी उसकी रक्षा नहीं करता तथा राजहंता शकटार उसे मार

डालता है और उसीके शव पर चंद्रगुप्त का सिंहासन लगता है। इसी कारण स्यात् कल्याणी आत्महत्या करती है पर वह मुद्राराक्षस के विप्रकन्या का काम भी पूरा करती है। इसके अनतर चंद्रगुप्त दक्षिण-विजय को जाता है और वहाँ से लौटने पर मालविका की वलि लेकर सेल्यूकस को रोकने पंचनद जाता है। उसको बंदी कर कृतज्ञता के कारण छोड़ देता है और कार्नेलिया को छूरी छीन कर आत्महत्या से बचाता है। दोनों के विवाह के साथ नाटक समाप्त होता है। चंद्रगुप्त का चित्र सांगोपांग उतर गया अवश्य पर भारतीय आदर्श वीर सा नहीं। वह चाणक्य के हाथ का खिलौना था, कार्य मे भी विचारो मे भी। वह यश, स्वार्थ तथा सौंदर्य सभी का लोलुप सा बन गया है।

मुद्राराक्षस के चाणक्य तथा राक्षस से इस नाटक के चाणक्य तथा राक्षस बहुत नीचे गिर गए हैं। राक्षस में व्यक्तित्व नाम को भी नहीं है। चाणक्य का ध्येय उत्तम है, आक्रमणकारियों को देश से निकालना और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापित करना पर साथ ही उसकी बात को जो भी न माने उस पर अकारण ही क्रोध कर उसे नष्ट करने की प्रतिज्ञा करते चलना, उसको आदर्श ब्राह्मणत्व से एक दम गिरा देता है। उसकी 'काल सर्पिणी शिखा' कल्याणी की मृत्यु पर नंद-वंश के निःशेष होने से बँधनी चाहिए थी पर नहीं बँधी। वह 'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी' ही से निकाल सकता था। वह अपने खिलौने पर दूसरे के हाथ को कंटक समझता था।

सिंहरण का चित्रण अच्छा हुआ है, वह आदर्श वीर, मित्र तथा शिष्य था और उसकी प्रेयसी तथा पत्नी अलका भी उसी के उपयुक्त संगिनी थी। आंभीक का चित्र भी स्पष्ट है, देशद्रोही तथा देशभक्त दोनों रूप में। पर नद, सिकदर तथा सेल्यूकस के चित्र चित्रित नहीं किए गए हैं, उनके चित्रों का मानो विवरण मात्र दे दिया गया है।

स्त्री पात्रों में केवल तीन चित्र स्पष्ट उठ सके है—अलका, कल्याणी तथा मालविका के। दर्शक, नही पाठक का हृदय तीनों आकर्षित करती हैं पर अंतिम दो नाटककार की निष्ठुरता की छाया से करुणा की मूर्ति बन जाती हैं। यह निष्ठुरता भी अकारण थी, इससे कुछ बना या बिगड़ा नहीं और न नाटक की रोचकता या रसात्मकता का उन्नयन हुआ। यदि कल्याणी का चद्रगुप्त से विवाह करा दिया जाता, तो किसी प्रकार चाणक्य के ध्येय को हानि न पहुँचती वरन् सहायता मिलती या

इस पात्र की कल्पना ही नहीं करनी थी। अस्तु, अन्य पात्र साधारण हैं, जिनके विवेचन का स्थानाभाव है।

कथोपकथन या भाषा के विषय में जैसा इनके अन्य नाटकों के विषय में लिखा जा चुका है, वही इसके विषय में कहा जा सकता है। लंबे लंबे भाषण, भावुकता में रँगे हुए क्लिष्ट भाषा में बराबर प्रयुक्त हुए हैं। गद्य में भी यथासाध्य तुकबंदी लाने का प्रयास है। सावधानता तथा नियति-सुंदरी की क्रीड़ा चलती रही है। नाटक में वीर रस प्रधान है। शृंगार भी यत्र तत्र तथा कहीं कहीं अश्लीलता लिए हुए आया है।

मौर्य-साम्राज्य के अनंतर भारत में एक गुप्त-साम्राज्य ही ऐसा स्थापित हुआ था, जिससे प्रथम की तुलना की जा सकती है। प्रसादजी ने इसी काल की कुछ घटना लेकर स्कंदगुप्त विक्रमादित्य नाटक निर्माण किया है। यह चंद्रगुप्त द्वितीय के पौत्र तथा कुमारगुप्त के पुत्र थे। कुमारगुप्त को दो रानियाँ थीं और बड़ी से स्कंदगुप्त तथा छोटी से पुरगुप्त दो पुत्र हुए। इन्हीं दो को लेकर अनेक षड्यंत्र हुए और इसी काल मे पुष्यमित्रों तथा हूणों के भारत पर प्रबल आक्रमण भी हुए। इन्हीं घटनाओं से इस नाटक का कथावस्तु निर्मित हुआ है। यह चंद्रगुप्त से आकार में तीन चौथाई होते हुए भी अभिनय के लिए बड़ा ही कहा जायगा। इसमें पाँच अंक हैं पर उसके विभेद दृश्य आदि में न दिए जाकर पटपरिवर्तन मात्र से किए गए है।

स्कंदगुप्त गुप्त-वंश के उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था से कुछ उदासीन रूप में मंच पर आते हैं, जो राजधानी से दूर उज्जयिनी में आक्रमणकारियों से युद्ध करने भेजे गए हैं। पुष्यमित्रों से युद्ध हो रहा है पर राजधानी से सहायता नहीं आती। कुमारगुप्त विलास में और पुरगुप्त की माता राजमाता बनने के षड्यंत्र में लिप्त हैं। कुमारगुप्त की मृत्यु होती है और कुछ लोग पुरगुप्त को सम्राट् स्वीकृत कर लेते हैं। इधर स्कंदगुप्त पुष्यमित्रों तथा शकों को परास्त कर चुके हैं। पुरगुप्त की माता अनंतदेवी स्कंदगुप्त की माता को मारकर अपना मार्ग निष्कटक करना चाहती है पर अवसर पर स्कंदगुप्त के पहुँच जाने से उसकी रक्षा होती है। स्कंदगुप्त अपनी माता को लेकर तथा पुरगुप्त और अनंतदेवी को चुपचाप कुसुमपुर में बैठी रहने का आदेश देकर उज्जयिनी लौट जाते हैं। वहीं स्कंदगुप्त के सम्राट् होने की घोषणा की जाती है और दोषी क्षमा किए जाते हैं। यहीं भिक्षु प्रपंचबुद्धि, जो अनंतदेवी का सम्मतिदाता है, आकर फिर से षड्यंत्र आरंभ करता है। मालव की राजकुमारी

देवसेना को वह बलि देने के लिए बुलवाता है पर ठीक अवसर पर स्कंदगुप्त पहुँचकर उसकी रक्षा करता है। शकमंडल पर इसी समय विजय प्राप्त होती है और सिंधु का म्लेच्छ राज्य ध्वंस हो जाता है। अनंतदेवी इन विजयों का समाचार सुनकर कुढ़ती है और हूणों से मिलकर स्कंदगुप्त के नाश का प्रबंध करती है। हूणों का भारी आक्रमण इस बार होता है। अनंतदेवी के षड्यंत्र में लिप्त भटार्क के अधीन मगध सेना अवसर पर धोखा देती है और शत्रु के निकल जाने पर पीछा करनेवाले स्कंदगुप्त तथा उनकी सेना को बाँध तोड़कर बहा देती है। हूणों का कुसुमपुर तक अधिकार हो जाता है। साम्राज्य के अनेक पुराने वीर स्कंदगुप्त को खोजते हैं और अंत में उनका पता भी मिल जाता है। अब पुनः सेना एकत्र कर हूणों से युद्ध होता है। कहरूर युद्ध में परास्त होकर हूण लौट जाते हैं। स्कंदगुप्त आजीवन कौमार व्रत ग्रहण कर पुरगुप्त को युवराज नियत करते हैं। इतनी ही मुख्य कथावस्तु है और खूब सुगठित हुई है।

गुप्तवंश के आदर्श वीरों में से एक स्कदगुप्त का उनके उपयुक्त चित्रण किया गया है। युद्ध में, क्षमा मे, निस्वार्थ देश-सेवा में और अंततः साम्राज्य के लिए शारीरिक सुख तथा समृद्धि के त्याग में यह आदर्श ही चित्रित हुए है। यही इस नाटक के प्रधान पात्र या नायक हैं। प्रतिनायक होने के योग्य एक भी अन्य पात्र नहीं है। नायिका की दृष्टि से भी देवसेना को योग्य पात्र मान सकते हैं क्योंकि उसकी भी उदारता, त्याग तथा नारीत्व अपनी विशेषता रखती है। स्कदगुप्त पर उसकी एकनिष्ठा या प्रेम आरंभ से अंत तक रहा। देवसेना का त्याग और विजया का प्रतिशोध समान रूप से गूढ़ और अस्पष्ट हैं। दोनों के कारण रहस्य से आच्छादित हैं और स्यात् 'नियति-सुंदरी' के खेल मात्र हैं। विजया का चित्र व्यर्थ सा इस चित्रावली में ला दिया गया है। नाटककार अपने स्त्री-पात्रों को 'वेदना-विदाई' देने में अति कुशल हैं। देवकी की उदारता, पति तथा पुत्र के प्रति स्नेह और साम्राज्य की रक्षा का लगन अनंत देवी की राज्यलिप्सा, वैमात्र्य-द्वेष तथा साम्राज्य के प्रति षड्यंत्रों से घिरकर विशेष प्रकाशमान हो उठा है। रामा तथा कमला का भी देश प्रेम तथा स्वामिभक्ति अद्भुत है। पर्णदत्त, चक्रपालित, बंधुवर्मा और भीमवर्मा साम्राज्य के देशप्रेमी दृढ़ स्तंभ तथा उसके लिए मृत्यु को वरण करनेवाले वीर थे। अंतिम दो अपना राज्य भी देकर इस कार्य से पश्चात्पद न हुए थे। मातृगुप्त कालिदास कवि होते भी साम्राज्य के बहुत तथा अवसर

पर काम आए थे। विदूषक मुद्गल भी कोरा पेटू ब्राह्मण नहीं चित्रित किया गया है, वह स्वामी का कार्य भी करता है। प्रसादजी ने अपने बाद के नाटकों में उसकी उपस्थिति सार्थक कर दी है।

कथोपकथन की भाषा तथा विचार सर्वत्र दार्शनिकता और भावुकता से भरे हुए हैं। हर एक पात्र, छोटे या बड़े, नियति, नियमन आदि वाद-विवाद को लेकर बातचीत करते हैं और उनकी भाषा शिष्ट ही केवल नहीं रह जाती प्रत्युत् प्रकांड भाषा-विद्वानों की सी हो जाती है, जिसे समझना हर एक ऐरे गैरे के लिए कठिन है। सारे नाटक की संस्कृत-गर्भित भाषा के बीच संन्यासी गोविंदगुप्त द्वारा शैर कहलाना नियति का वैचित्र्य सा ज्ञात होता है। कहीं कहीं लंबे भाषण, जो गंभीर निबंधों के उपयुक्त होते, बीच में आ गए है। वीर रस प्रधान है पर करुण और शृंगार भी कहीं कहीं आ गए हैं।

स्वास्थ्य, सरलता तथा सौंदर्य के रहते हुए प्रेम के प्याले का 'एक घूंट' पीना-पीलाना ही आनंद है, पर कब ? स्वच्छंद अर्थात् मुक्त रहने ही पर यह पूर्ण होता है या बंधन-युक्त होने पर। प्रसादजी इसी का कथोपकथन के रूप में विवेचन कर अंतिम बात ही का निरूपण करते है। वनलता बंधन में पड़ चुकी है और वह समझ बैठी है कि रसाल उसे भूल गया है, वह उसके प्रति आकर्षित नहीं होता है और इसी कारण 'बंधन खोल' गीत का विश्लेषण करती है। आनंद स्वच्छंद प्रेम का संदेश लाता है, प्रेम का नियमन नहीं चाहता है और दुःख को काल्पनिक बतलाता है। वनलता के हृदय को वैवाहिक अवस्था में भी प्यासा देखकर अपने संदेश की सार्थकता मानता है। परिहास ही में कविजी के करुण-गान की प्रकृति को ठेस लगती है और पारस्परिक प्रेम में कारुण्य को हटाना समीचीन कहते हैं। वैवाहिक बंधन से युक्त चँदुला हर अवस्था में आनंद पाने का उल्लेख कर नियमित प्रेम की सफलता दिखलाता है। आनंद फिर इसके विरुद्ध कहता है कि एक 'वस्तु या व्यक्ति-विशेष से मोह करके' औरों को उस पर आकर्षित होते देखकर 'द्वेष छोड़ देने ही से काम चल जायगा।' अर्थात् 'किसी प्रिय वस्तु पर अधिक आकर्षित न होना' उचित है, साधारण मोह सभी की प्रिय वस्तु पर सबको रखना चाहिए। झाड़ूवाला आकर प्रकट सत्य की बातें कहता है और आपस के झगड़े भी समझने-समझाने में कितने सुखद होते हैं, यह भी कहकर बंधन का पक्ष समर्थन करता है। वनलता कहती है कि रसाल का यह कथन कि 'मानवता के नाते स्त्री को प्यार करते हैं' अक्षम्य तिरस्कार है।

प्रेम की व्यथा प्रेम पाने के लिए है। इसी समय आनंद आकर वनलता से स्वच्छंद प्रेम की एक घूँट मॉगता है और इसी प्रकार हर एक को पीते-पिलाते आगे बढ़ने की सम्मति देता है। वनलता फटकारती है कि वह केवल एक से प्रेम करती है, अपने चिर परिचित से, अन्य के प्रेम का उसके लिए कुछ भी मूल्य नहीं है। आनंद अपनी चिरपरिचित की खोज में चिंतित होता है कि प्रेमलता आती है। वह अपने कल्पित संदेश से सत्य का अश अलग कर उसी के हाथ एक घूँट पीकर उच्छृंखल प्रेम को बाँधता है।

प्रसादजी की मधुर कल्पना ने बड़े ही सुंदर रूप में बंधनयुक्त प्रेम का दिग्दर्शन कराया है। यह रचना नाटक नहीं है, केवल कथोपकथन मात्र है। वस्तु-विन्यास नहीं है और न है चरित्र-चित्रण। भाषा अधिक क्लिष्ट नहीं है और रचेता का जिस ओर संकेत है उसे पाठक को समझ लेना सुगम है। किसी वाद के अंतर्गत इस रचना को लाने का प्रयास करना अनर्गल है। कथोपकथन की प्रधानता के कारण ही इसका इस ग्रंथ में विवरण दिया गया है और यह नाटक कहलाया है।

मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त के एक अन्य नाटक देवी-चंद्रगुप्तम् के कुछ उद्धरण कई सग्रह ग्रंथादि में मिले हैं, जिनसे सम्राट् समुद्रगुप्त के बड़े पुत्र रामगुप्त का पता चला है जो उनकी मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठे थे। इन्हें राज्य से हटाकर चंद्रगुप्त द्वितीय ने गद्दी पर अधिकार किया था और 'ध्रुवस्वामिनी' से विवाह किया था। यह ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की विवाहिता हो चुकी थी या समुद्रगुप्त इसे उपायन में पाकर अपने उत्तराधिकारी के लिए अविवाहित छोड़ गए थे, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर प्रसादजी उस काल में विधवा-विवाह होता था, ऐसा सिद्ध करने के लिए प्रथम ही को मानकर चले हैं। नाटक का कथावस्तु इस प्रकार रखा गया है।

ध्रुवस्वामिनी से एक दूती चद्रगुप्त की ओर से आई हुई बनकर उसके प्रति चंद्रगुप्त का प्रेम बतलाती है और उसके प्रत्युत्तरों को छिपा हुआ रामगुप्त सुनकर उसका हृदस्थ भाव समझना चाहता है। इसी समय उसका मत्री शिखरस्वामी आकर शकों द्वारा शिविर के घिर जाने का समाचार देता है और शकराज की संधि की यह शर्त भी सुनाता है कि रामगुप्त अपनी महादेवी ध्रुवस्वामिनी तथा अन्य सामन्तों की स्त्रियों को दे दे नहीं तो वे सब युद्ध में मारे जायँगे। रामगुप्त प्राण बचाने को यह स्वीकार करता है और ध्रुवदेवी के रोने पर कुछ नहीं ध्यान देता। वह

आत्महत्या करने जाती है पर चंद्रगुप्त आकर उसे रोकता है। वह स्वयं ध्रुवदेवी का वेश धारण कर अन्य स्त्री-वेशधारी सामंत-कुमारों के साथ ध्रुवदेवी को लेकर शकराज के शिविर में जाता है और वहाँ उसे मार-कर उसके दुर्ग पर अधिकार कर लेता है। रामगुप्त यह वृत्त सुनकर दुर्ग में जाता है पर ध्रुवदेवी उसे फटकार देती है। राजपरिषद् बुलाया जाता है और उसमें निर्णय होता है कि रामगुप्त वास्तव में राजा के योग्य नहीं है तथा उसका ध्रुवदेवी के साथ परिणय धर्म संगत नहीं है अतः विच्छिन्न है। रामगुप्त धोखे से चंद्रगुप्त को मारना चाहता है पर एक सामंतकुमार द्वारा स्वयं मारा जाता है। चंद्रगुप्त राजा घोषित होता है।

यह नाटक अत्यंत शीघ्रता में लिखा गया ज्ञात होता है और छोटा भी है। भाषा में दार्शनिकता तथा क्लिष्टता लाने का अवसर भी नहीं मिला इसलिए यह दुर्बोध भी न हो सका। वस्तु में व्यापार भी बहुत कम है अतः उसके संगठन में भी अधिक प्रयास तथा कौशल की आवश्यकता नहीं पड़ी है। इसके पात्रों में नायक, प्रतिनायक तथा नायिका तीनों हैं, जो क्रमशः चंद्रगुप्त, शकराज तथा ध्रुवस्वामिनी हैं। इनके चित्रण स्थान की कमी होते हुए भी अच्छे हुए हैं, अधिक रंग भरने की गुंजाइश ही न थी। रामगुप्त शकराज को ध्रुवस्वामिनी देने के सिवा हिजड़ों की नाच पर प्रसन्न होने के कारण ही क्लीव निर्धारित किया गया है, जो कुछ अनुचित-सा ज्ञात होता है। ध्रुवस्वामिनी को शकराज को देते समय रामगुप्त के हृदय में उसके प्रति अविश्वास उत्पन्न करा दिया गया था और अपने पर प्रेम न रखनेवाली तथा अविश्वास की पात्री ध्रुवस्वामिनी को दे देना क्लीवता को आछन्न कर देता है। वह चंद्रगुप्त पर प्रेम रखने-वाली को शत्रु समझकर चाहता है कि 'एक ही चाल मे सब शत्रु परास्त हों।' रामगुप्त की क्लीवता नहीं, यह राजनीतिज्ञता प्रकट करता है। शिखरस्वामी स्वार्थी मंत्री के रूप में आता है, जो समय देखकर पक्ष बदलने में पटु है और सम्मति देने में उचित-अनुचित या वंश-मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इसमें वीर-रस शृंगार से मिला चलता है। नाटक में पात्र सूची भी नहीं दी गई है, स्यात् अनावश्यक समझकर। यही प्रसादजी का अंतिम नाटक है।

प्रसादजी प्रधानतः तथा प्रकृत्या कवि थे और वह भी भावुक कवि थे। इसके अनंतर वह क्रमशः नाटककार, आख्यायिका-लेखक तथा औपन्यासिक हुए। इन्हीं नाटकों के संबंध में इतिहास की भी विवेचना उन्होंने की है पर वह इतिहासकार नहीं हो सके हैं। इसी कारण इनकी

सभी रचनाओं में भावुकतामय कवि-कौशल की छाप मिलती रहती है। प्रसादजी की हिंदी साहित्य के अभावों की ओर दृष्टि आरंभ ही से थी और अपनी जन्मसिद्ध प्रतिभा के कारण इन्होंने उसके कई अंगों की पुष्टि के लिए अपनी सशक्त लेखनी को परिचालित किया था। इनमें नाटकों की कमी की ओर इनकी दृष्टि अथ से इति तक बनी रही और स्वास्थ्य के ठीक न रहने ही से यह हिंदी-साहित्य को इससे अधिक नाटक नहीं दे सके। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रसादजी अत्यधिक अध्ययन, मनन तथा विचारशील थे। मित्र-गोष्ठी में बैठे हुए भी वह साहित्य के अनेक विषयों को छेड़ते रहते थे और दूसरों के उन विषयों पर तर्क-वितर्क सुनते रहते थे। स्वयं केवल उस वाद-विवाद में उतना ही सहयोग देते थे कि वह शीघ्र बंद न हो। कभी-कभी जब अपनी सम्मति देने लगते थे, तो वह इस प्रकार उसे प्रकट करते थे, जिससे उनके अध्ययन की गहराई स्पष्ट होती चलती थी। अवस्था के साथ-साथ अध्ययन तथा मनन के बढ़ने से उनकी विचारधारा अधिक पुष्ट होती गई और पूर्ववर्तियों के अनुकरण पर निर्मित इनकी आरंभ की कृतियाँ और बाद के एकदम उनकी निजी शैली तथा विचार संयुक्त रचनाएँ, उक्त कथन का समर्थन करती हैं। अब उनकी शैली के क्रमिक विकास की ओर दृष्टि दीजिए।

भारतेंदुजी के नाटकों में प्राचीनता तथा नवीनता दोनों का सामंजस्य पूर्ण-रूपेण वर्तमान है और ये नाटक अवश्य ही प्रसाद जी के अध्ययन में आ चुके थे। प्रसादजी ने उक्त कार्य को आगे बढ़ाया और सामयिक परिस्थिति के अनुसार नवीनता का समावेश अधिक करते चले गए। निजी दार्शनिकता तथा भावगहनता के कारण नाटको का दुरूह हो जाना दूसरी बात है, जिस प्रकार भारतेंदुजी मे सजीवता, चपलता, स्वच्छंदता आदि का आधिक्य उनकी विशेषता थी। प्रसादजी में देश-प्रेम या मातृ-भाषा-प्रेम की कमी न थी पर भारतेंदुजी-सी उनमे उनके प्रति एक-निष्ठा तथा तन्मयता न थी। प्रसादजी ने नाटक-लेखन में स्वदेश के प्राचीन इतिहास का उद्धार ही ध्येय बना रखा था और देश-प्रेम ही के कारण इस कार्य मे यह अंत तक दत्तचित्त रहे।

प्रसादजी का नाटक-रचनाकाल सं० १९६७ से आरभ होकर सं० १९९० तक रहा। प्रथम नाटक सज्जन पर प्राचीनता की पूरी छाप है। छोटा नाटक होते भी इसमें नांदी और प्रस्तावना दी गई है। नाटक के प्रस्तावित हो जाने पर जब सूत्रधार नटी से गाने को कहता है तब वह

कहती है कि 'अब तो महाराज दुर्योधन के सभा ही में गाना आरंभ हुआ है।' सूत्रधार यह सुनकर कहता है कि 'क्या अभिनय आरंभ हुआ ? तो चलो जल्दी चले।' इनके जाते ही पट-परिवर्तन होने पर अभिनय आरंभ होता है। परंतु प्रस्तावना के किसी अंश को लेकर कोई पात्र नहीं आता, इस कारण संस्कृत के प्रस्तावना के किसी भेद के अंतर्गत यह नहीं आती। हाँ, स्पष्ट अभिनयारंभ की सूचना अवश्य है। गद्य खड़ी बोली में और पद्य ब्रजभाषा में है। विदूषक तथा भरत-वाक्य भी हैं और कथोपकथन में प्राचीन शैली ही बर्ती गई है। अर्थात् बीच-बीच में कविता देकर अपनी बातों की पात्रगण पुष्टि करते गए हैं। जैसे—

चित्रसेन का सेनापति कहता है कि 'मैं स्वामी की आज्ञानुसार शिष्टता के साथ कह रहा हूँ, नहीं तो दूसरी प्रकार से आप लोगों का आदर किया जायगा। क्योंकि—

प्रथम राखि महामति मान को।
शुधि बतावहिं नीति-विधान को॥
यदि न मानहि मूरख टेक सों।
तब करै हठि दंड अनेक सो॥

इसके अनंतर करुणालय तथा प्रायश्चित्त में नांदी या प्रस्तावना नहीं है पर राज्यश्री में पहिले नांदी आदि दी गई थी, जो द्वितीय संस्करण मे हटा दी गई हैं। तात्पर्य यह कि प्रसादजी प्रस्तावना आदि के पक्षपाती नहीं थे और स्यात् वे सज्जन में से भी हटा दिए जाते, यदि उसका भी दूसरा संस्करण हो पाता। भरतवाक्य के स्थान पर भी कुछ नाटकों के अंत मे इन्होंने ईश-प्रार्थना या ऐसा ही पद रखा है पर बाद को यह भी हटा दिया गया है। विदूषक प्राचीनकाल में केवल पेटू ब्राह्मण होते थे, उन्हें अपने आश्रयदाता से सहानुभूति केवल उनके विरह-काल में होती थी और वे विट का भी काम करते थे पर प्रसादजी ने पहिले वैसा ही रखते हुए बाद को उनकी इस सहानुभूति का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है और विट के पद से उन्हें प्रायः च्युत कर दिया है। विशाख का महापिंगल पहिले ही प्रकार का है पर मुद्गल दूसरी कोटि में आ जाता है।

भारतेंदुजी भी प्रस्तावना आदि के हटाने को उचित समझते थे और ऐसा किया भी पर आरंभ में किसी न किसी प्रकार का मंगलगान रखते थे। जैसे 'सती-प्रताप' के प्रथम दृश्य के गान मंगलमय होते हुए नाटक का आभास देकर प्रस्तावना का कार्य भी पूरा कर देते हैं। प्रसादजी ने इतना भी उचित न समझा। कुछ लोग कहते हैं कि इनके नाटकों के

प्रथम दृश्य परिचायक मात्र होकर प्रस्तावना का कार्य पूरा कर देते हैं पर यह ठीक नहीं है। प्राचीनकाल में वर्तमानकाल की इश्तिहारबाजीके अभाव में अभिनय आरंभ करने के पहिले मंगल-नांदी आदि कार्य निपटा कर सूत्रधार रंगमंच पर आता था और नाटककार तथा नाटक का परिचय दर्शकों को दे जाता था। यही प्रस्तावना थी और इससे तथा अभिनय से संबंध स्थापित करने के लिए, जिसमें वह विश्रृंखल न जान पड़े, उसके अनेक भेद बन गए। नाटक, उपन्यास आदि के प्रथम दृश्य, परिच्छेद आदि 'कथा आरंभित होतु है' के समान परिचायक होंगे ही, प्राचीन तथा नवीन दोनो ही शैलियों में। प्रस्तावना में केवल नाटक की कथा का आभास मात्र होता था और है, कथा का परिचय नहीं। अतः यही कहना समीचीन है कि वर्तमानकाल में प्रस्तावना निरर्थक है क्योंकि विज्ञापनों से तो अब केवल नाटककार तथा नाटक का नाम मात्र ही नहीं प्रत्युत् अभिनेता तथा अभिनेत्रियों के नाम, चित्र और कथावस्तु की संचिप्त रूपरेखा सभी कुछ दर्शकों को पहिले से ज्ञात हो जाती है। तिस पर भी सवाकूपटों में सूत्रधार, गायक, पात्र तथा अभिनेता आदि सभी के नाम तथा चित्र आदि दिखलाकर तब खेल आरंभ किया जाता है।

प्रसादजी ने नाटकों के अंक-विभाग को अंत तक माना है पर अंकों के विभाग दृश्य नामकरण को आगे चलकर चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त आदि में नहीं माना है। दृश्य शब्द न देकर केवल संख्याएँ दी हैं, उनका कोई नामकरण भी नहीं किया है। प्रवेशक, विष्कंभक आदि से दृश्य जो केवल कभी-कभी दो अंको की शृंखला मिलाने के लिए आते हैं, नहीं काम में लाए गए हैं पर ऐसे दृश्य हैं अवश्य। उनका अलग नामकरण नहीं किया गया है।

प्राचीन नाट्यशास्त्रों मे कुछ ऐसी बातें गिनाई गई हैं, जो नाटकों में नहीं दिखलानी चाहिएँ। ये वर्ज्य हैं। नाटक में रंगमंच पर इनके दिखलाने की अनुपयुक्तता इन्हें वर्ज्य बनाने का प्रधान कारण था और कुछ दर्शकों के मत पर अनिष्ट प्रभाव डालने या उनके हृदयों को विशेष उद्वेलित करने की आशंका से भी वर्जित कर दिए गए थे। आधुनिक काल में प्रथम कारण तो उपेक्षणीय हो गया है, क्योंकि अब सब कुछ दिखलाना सुगम हो गया। आकाश पर से कूद पड़ना, दौड़ती हुई पंजाब मेल के छत पर युद्ध होना, दो दो रेलगाडियों का टकरा कर नष्ट होना आदि अब सब सुगमता से सिनेमाओं में दिखलाए जाते हैं, तब रंगमंच पर साधारण युद्ध, हत्या आदि का अभाव दर्शकों को बहुत खटकेगा। अब

समय रोमांचकारी घटनाओं को देखने का आदी हो गया है। प्रसादजी ने स्यात् यही विचार कर आरंभ ही से वर्ज्य अंशों को विशेष रूप से अपनाया है। हत्या, युद्ध, हवनकुंड में नागों को जलाना आदि का उदारता के साथ इन्होंने प्रयोग किया है।

प्रसादजी के नाटकों के कथोपकथन में भी दो भेद हैं। कथोपकथन की भाषा की दुरूहता या सरलता पर विचार न करते हुए भी यह देखा जाता है। नाटकों में अभिनय की ओर विशेष ध्यान रखने पर उसके व्यापार की गति में भाषा की दुरूहता रूपी रोड़े न अटकाना ही श्रेयस्कर है। आरंभ के चार पाँच नाटकों के कथोपकथन में सरलता तथा चपलता दोनों हैं, अपनी बातों को पुष्ट करने के लिए पात्रगण कविता का भी उपयोग करते हैं, गद्य में भी शब्द-क्रीड़ा है पर ये सब क्रमशः कम होते जाते हैं। विशाख तक ये सब अवश्य ही मिलते हैं पर अजातशत्रु मे ये गंभीरता तथा भावुकता में प्रायः परिवर्तित हो जाते हैं। अभिनय की उपयुक्तता की ओर से ध्यान हटने लगता है और इनके नाटक क्रमशः गंभीर, मनन योग्य काव्य हो उठते हैं। इसी कारण इन्हीं के उपयुक्त कथोपकथन भी हो उठे है, जिन्हें समझने के लिए कभी-कभी विद्वान् गुरु की आवश्यकता पड़ती है। भाषा की कठिनता के सिवा कहीं-कहीं कथोपकथन का भाषण हो जाना भी अत्यंत अस्वाभाविक है। ये पात्र जब रंगमंच से अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन बड़े जोर-शोर से करने लगते हैं तब सब नाटकीय-व्यापार स्थगित से हो जाते हैं और रंगमंच व्याख्यान-मंच हो-उठता है। सभी, पात्र तथा दर्शक, उसको सुनने लगते हैं और समझने भी लगते हैं, समझें या न समझे यह उनकी बला से। परंतु ऐसा बहुत कम स्थलों पर हुआ है, यही गनीमत है। स्वगत की योजना भी प्रसादजी के नाटकों में काफी है, जो अब अस्वाभाविक माना जाता है। प्रसादजी ने स्वयं इसकी अस्वाभाविकता विशाख नाटक में स्वीकार की है। वाजिरा का बंदीगृह में गान स्वगत में रखा गया है और कितने स्वगत काफी लंबे भी हो गए हैं पर उनमें भी भावुकता कम नहीं आई है। कहीं-कहीं स्वगत न लिखकर 'अलग' भी लिखा है, जो अंग्रेजी के 'एसाइड' का पर्य्याय है।

प्रसादजी प्रकृति ही से गंभीर थे और उसपर वह मननशील दार्शनिक विद्वान थे। भावुकता उनमे भरी हुई थी अतः इनका परिहास भी इन सब भारों से दब-सा गया था। इनके कवि-हृदय की वेदना जब सर्वत्र इनकी रचनाओं में व्याप्त है, तब परिहास में भी वह कहीं दूर

नहीं रह सकती थी। विशाख के महापिंगल की विदूषक रूप ही में अव-तारणा की गई है। कई दृश्यों में वह आता है पर 'तुम्हारा नाम जो है सो' यही तकिया-कलाम उसकी हँसी है। घर पर तरला से बातचीत में भी हँसी की कोई बात नहीं है। स्कंदगुप्त का मुद्गल भी 'जो है सो काणाम करके' हँसाना चाहता है पर असफल रहता है। पेटू दोनों ही है। 'पेट पचकने लगता है', पर 'पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वांत कर डालूँ।' इस प्रकार की बातें समय कुसमय कहकर हँसाने का अधिकार इन्हीं लोगों को मिला है। 'जमुना मैया की जै' मनानेवाले चतुर्वेदी गण उक्त कथन का समर्थन पूरी तरह पर करते हैं। नागयज्ञ का महा लोभी काश्यप, अजातशत्रु का वसंतक ऐसे ही पात्र हैं। यह सब होते भी परिहास की मात्रा बहुत कम है और ऐसा ही होना भी था। खींचतान कर कुछ परिहास खोज निकालना व्यर्थ का प्रयास है।

प्रसादजी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान थे और उसपर उनका पूरा अधि-कार था। वह दुर्बोध तथा क्लिष्ट है, आलंकारिता से लदी है और भावु-कता तथा 'वादों' से ग्रस्त है पर यह सब उनकी निजी विशेषताएँ है। सर्वप्रथम उनके ध्येय की ओर ध्यान देना चाहिए। वह प्राचीन, अति प्राचीन, इतिहास का हम लोगों को दिग्दर्शन कराने का बीड़ा उठा चुके थे, जब प्राकृत बोलियों का बोलबाला था। तत्कालीन नामकरण की प्रथा-नुसार इन्होंने अपने पात्रों के नाम रखे हैं। और उस समय के पद, पदवियों, संबोधन आदि के शब्दों को खोज खोजकर संगृहीत किए है, जो हम लोगों के अत्यंत अपरिचित होने के कारण स्वतः कटु तथा दुरूह हो उठे हैं। ऐसे प्राचीन नाम तथा पदवियों से विभूषित लोगों की बोल-चाल में भी प्राचीनता लाने के लिए संस्कृत-गर्भित भाषा का होना अनि-वार्य हो उठा है। प्रसादजी भावुक कवि थे और ऐसे लोगों की सरल बात-चीत में भी स्वभावतः अलंकरण का समावेश होता रहता है। ये जब लेखनी लेकर लिखने बैठते हैं तो भावुकता तथा आलंकारिता 'बादल से चले आते हैं' और वे 'किस किस को बाँधे'। कितनों का निराकरण करते भी कुछ न कुछ घुस बैठते ही हैं। प्रसादजी के कुछ निजी सिद्धांत भी थे—देशप्रेम, अदृष्टवाद तथा आदर्शवाद और वे न अपने सिद्धांत से च्युत हो सकते थे और न च्युत होते कोई उन्हें देखना चाहता। यह सब ध्यान रखते हुए ही उनकी भाषा पर आक्षेप करना उचित है। जो कुछ हो, यदि वह अपने नाटकों में उक्त प्रकार से भाराक्रांत भाषा को अधिक-

चपल, सरल तथा सजीव बना सकते तो वह अवश्य ही अधिक सफल नाटककार हो जाते।

प्रसादजी आरंभ ही से साहित्य-सेवी थे और क्लिष्ट भाषा ही का आरंभ से अभ्यास किया था। यह गद्य तथा पद्य दोनों में काव्य लिखते थे अतः नाटकों के दोनों ही अंशों में काव्य-कौशल विद्यमान है। आरंभिक रचना विशाख से एक पद तथा गद्यांश लेकर देखिए—

"मधुमत्त मिलिंद माधुरी
मधु राका जगकर बिता चुके।
अरविंद प्रभात में भला
फिर देता मकरंद क्यों उन्हे ?"

"संध्या के मधु ने रात भर भ्रमरों को आनंद जागरण में रखा, सवेरे ही फिर मिला, दिन भर फिर मस्त। हृदय-कमल जब विकसित हो जाता है तब चेतना बारबार आनंद मकरंद पान किया करती है, जिसमें नशा न टूटने पावे।" पद्य तथा गद्य दोनों में कवि वर्तमान है और भाषा क्लिष्ट न होते भी साहित्यिक है, तत्सम शब्द ही लाए गए हैं। उर्दू का एक शब्द नशा भी आ गया है। अंतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी में लिखते हैं 'इस कलुषित वातावरण से कहीं दूर, विस्मृति में अपने को छिपा लूँ। पर मंदा! तुझे विधाता ने क्यों बनाया'

"यह कसक अरे आँसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे मेरा अस्तित्व बता, रह जा।"

गद्य-पद्य दोनों में कवि की विचार-शृंखला एक ही है। प्रसादजी दोनों ही के लेखन में कवि बने रहते हैं।

प्रसादजी की दार्शनिकता तथा भावुकता का ऊपर उल्लेख हो चुका है और साथ ही उनके कुछ निजी सिद्धांत भी थे, जिन सबके मेल से इनकी विचारधारा प्रवाहित होती रही है। प्रसादजी के हृदय में देश-प्रेम भरा हुआ था, पर वह कर्मशील न होकर मननशील ही अधिक थे इसलिए देश-हितकर कार्यों में न हाथ बँटा सकने पर अपनी साहित्यिक रचनाओं ही से देश का जो उपकार कर सकते थे वही उन्होंने यथाशक्ति पूरी तौर से किया। नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों में देशभक्ति तथा देश के लिए अपने को उत्सर्ग करने की भावना विद्यमान है। स्कंदगुप्त तो देशभक्ति का सरल पवित्र मूर्त स्वरूप ही है, उसने अपना सब कुछ इसीके लिए उत्सर्ग कर दिया। चाणक्य, चंद्रगुप्त देश ही के लिए मारे मारे फिरे। प्रेम का इन्होंने

अत्यंत निर्मल स्वरूप ही ग्रहण किया है पर उसका वैसा ही प्रतिदान नहीं दिला सके हैं क्योंकि यह 'नियति-सुंदरी' के पाश में आबद्ध थे। विजया तथा उसीके समान कुत्सित वासनामय प्रेमियों को सदा यह दंडित करते रहे हैं। कार्नेलिया के प्रेम का प्रतिदान उसे केवल देश-प्रेम के कारण ही मिल सका है, क्योंकि वैसा करने से भारत तथा एक वाह्य महान् शक्ति के संघर्ष की संभावना कुछ दिन के लिए नहीं रह जाती। नहीं तो प्रसादजी का वेदनामय हृदय शुद्ध प्रेम में भी वेदना की विदाई देने में पटु रहा है। यह अत्यंत उच्च आदर्श रखकर आगे बढ़ते थे, चाहे उसकी वेदी पर कितने ही अनुपम पात्र-पात्रीगण का बलिदान हो जाय। इनका मानव-प्रेम आदर्शों से दब-सा जाता था, इनको विरक्ति-युक्त शांति उसके प्रति कठोरता दिखलाते हुए भी विचलित न होती थी क्योंकि वे जानते थे कि अदृष्ट कैसी बद बला है। कर्म ही कर्म है। नियतिवादी होते भी यह कर्म से च्युत होना उचित नहीं समझते थे। कर्म करना ही कर्म-पत्री को पढ़ना है। 'अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी।' समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उससे पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है।'

प्रसादजी की आशा में भी नैराश्य की वेदना लिपटी चली है पर वही विरक्तियुत शांति उसे उसकी अपूर्णता में शांत रखती है और नियति का ध्यान उसकी ओर से चित्त को हटाता रहता है। साम्राज्य की रक्षा की आशा के विफल होने पर स्कंदगुप्त कहता है कि 'चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है।......नाथ, मुझे दुःखों का भय नहीं, संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बंधनों से छूटता है और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है। . मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं, यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष गुप्त-साम्राज्य हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो।'

प्रसादजी ने प्रायः अपने सभी नाटकों को सुखांत रखा है पर वह सुख कितना वेदनामय है, यह किसी नाटक को ले लेने से ज्ञात हो जायगा। चंद्रगुप्त को साम्राज्य मिल गया और मिल गई कार्नेलिया, पर क्या उसका सुख वेदना-रहित कहा जा सकता है? स्कंदगुप्त साम्राज्य की रक्षा कर उसे पुरगुप्त को दे सका था पर क्या वह सुखी था, नहीं

वह 'हतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह!' था। अजातशत्रु सुखांत कर दिया गया है पर बिंबसार इस सुख के भार को नहीं सह सका है। ये इसलिए अवश्य सुखांत कहे जा सकते हैं कि ये पात्र वेदना से विरक्ति पूर्ण शांति तथा नियति के आगे अपनी अवशता को समझकर अविचलित रहकर उसको प्रकट नहीं करते या करना नहीं चाहते।

प्रसादजी ने अदृष्टवाद तथा संसार से विरक्ति का प्रचार करने के लिए, कम से कम अपने नाट्य-पात्रों के लिए, वेदव्यास, गौतम, जरत्कारु आदि से महात्माओं की अपने नाटकों में अवतारणा की है, जिससे वे निराशा तथा सांसारिक कष्टों से पीड़ित लोगों को उसी अवस्था में शांति लाभ करने का उपदेश देते रहें और उनके उपदेशों का तत्काल इच्छित प्रभाव पड़े चाहे वे उपदेश कितने भी शिथिल हों। ये उपदेश भी जराजीर्ण सांसारिक सुख से तृप्त, नहीं प्रत्युत् भोगने के अयोग्य हो गए वृद्धों के उपदेश से हैं और नियति, अदृष्ट, प्रकृति के अनुचर होने आदि की बारबार दुहाई देते हैं। इसपर भी इनका संपर्क, क्षण मात्र ही के लिए सही, आश्चर्यजनक फल दे देता है और बड़े-बड़े दुष्ट सहज ही एकदम बदल जाते हैं। कितनों की इस प्रकार की शुद्धि नहीं भी कराई गई है पर तब वे नियति के सूत्रधार भगवान के पास भेज दिए गए हैं। इस प्रकार के अनेक वाद-विवादों का समावेश जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक आदि सभी सांसारिक विषयों को लेकर यत्र तत्र किए गए हैं, जो जटिलता ही के पोषक हुए हैं।

यद्यपि प्रसादजी ने प्राचीन इतिहास को लेकर ही नाटक लिखे हैं पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह एकदम वर्तमान को भूल सके है। प्रत्युत् यह कह सकते हैं कि वर्तमान को देखकर ही वह प्राचीन की ओर गए हैं। उन्होंने प्राचीन इतिहास को छेड़कर हमें दिखलाया है कि हम भी किसी समय कुछ थे। इसी भारत रूपी दृढ़ राष्ट्र-दुर्ग पर टकराकर तत्कालीन ज्ञात संसार के विजेताओं की प्रबल वाहिनियाँ छिन्न-भिन्न होकर उलटी लौट गई थीं। यही देश था; जहाँ वेदव्यास, जरत्कारु, गौतम आदि से महात्मा, कालिदास से अमर कवि, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त से यशस्वी वीर उत्पन्न हुए थे। साहित्य के महारथी आलोचकगण जब वर्तमान लेखकों के विषय में कुछ लिखना बला मोल लेना समझते हैं तब वर्तमान राष्ट्र के विषय में कुछ लिखना लोग क्या समझते होंगे, वह अकथनीय है। इनके सभी नाटकों में देश-प्रेम ओत-प्रोत है और वे अपने समय ही के हैं। केवल प्राचीन समय के पात्रों के मुख में वे उक्तियाँ

रख दी गई हैं। स्कंदगुप्त में बलिदान को लेकर हिंदुओं तथा बौद्धों में जो झगड़ा दिखलाया गया है वह आजकल के बकरीद के झगड़ो के समान ही है।

रहस्यवाद, छायावाद, संकेतवाद आदि अनेक वादों का प्रसादजी के नाटकों से कोई संपर्क नहीं है, यहाँ तक कि इन नाटकों में आए हुए पद्यो में भी इन सबका प्रयोग प्रायः नहीं है। इनकी कविता को लेकर इन वादों का विस्तार से आलोचना कर इनके अस्तित्व की विवेचना करना समीचीन होगा, नाटकों को लेकर नहीं। दुर्बोध होते भी इनके नाटको में इन सब वादों की छाया नहीं मिलती और दुर्बोध ही केवल ये वाद नहीं हो सकते।

वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, रसात्मकता आदि के विषय में प्रत्येक नाटकों के साथ-साथ संक्षेप में विवेचना कर दी गई है और इससे अधिक ऐसे नाटक-इतिहास में स्थानाभाव है।

अष्टम प्रकरण
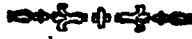
वर्तमान काल के अन्य नाटककार

राय देवीप्रसाद पूर्ण बी० ए० एल-एल० बी० का जन्म सं० १९२५ में हुआ था। आप कानपुर के निवासी थे और आपका देहांत सं० १९७१ में हो गया। आप ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों ही के उच्च कोटि के कवियों में से थे। आपने चंद्र-कला-भानुकुमार नामक एक विशद नाटक लिखा है, जिसमें आई हुई सभी कविताएँ ब्रजभाषा ही की है। यह नाटक अपने बड़प्पन के कारण अनभिनेय हो गया है। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण भी समुचित नहीं हो पाया है। पूर्णजी ने भी लिखा है कि 'मैंने तो इसे साहित्य की दृष्टि से लिखा है।' भाषा पर पूर्णजी का पूर्ण अधिकार था और कल्पना-शक्ति, भावुकता तथा अनुभूति सभी के होने से इनकी कविताएँ खूब सरस हुई हैं।

देवीप्रसाद पूर्ण

गुप्तजी वर्तमानकाल के एक प्रमुख कवि हैं और अनेक महाकाव्य, खंड-काव्य आदि का प्रणयन कर हिंदी-साहित्य-भांडार की पूर्ति की है और कर रहे हैं। आपने चंद्रहास नामक नाटक एक पौराणिक आख्यानक लेकर लिखा है, जो प्रथम वार सं० १९७३ में प्रकाशित हुआ था। इसमें पाँच अंक हैं और प्रत्येक में चार चार दृश्य हैं। प्राचीन शैली ही पर यह नाटक निर्मित हुआ है पर पद्यों में समयानुसार अवश्य कमी कर दी गई हैं। भाषा सर्वत्र भाव के अनुकूल है। कथोपकथन में लंबे भाषण नहीं आने पाए हैं और न भावुकता भरकर उन्हें दुरूह करने ही का प्रयास है। काम की बातें सरस भाषा में सरलता से कही गई हैं। नाटक अच्छा है। गुप्तजी ने तिलोत्तमा आदि नाटकों का बंगला से और भास के स्वप्नवासवदत्ता का संस्कृत से अनुवाद भी किया है।

मैथिलीशरण गुप्त

हास्यरसाचार्य पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी हिंदी के पुराने साहित्य-सेवी थे पर विशेषतः उन्होंने विनोदपूर्ण लेख लिखकर ही संतोष किया,

जो 'स्थायी विषयों पर लिखे हुए निबध नहीं' हैं। २ सितंबर सन् १९३९ ई० को ६२ वर्ष की अवस्था में इनका देहांत हो गया। इन्होंने

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

सं० १९८० वि० में मधुर-मिलन नामक एक नाटक प्रकाशित कराया था, जो सं० १९७७ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के कलकत्ता-अधिवेशन के अवसर पर खेला गया था। आरंभ मे प्रस्तावना का समावेश है। यह स्वयंसेवकों की उपादेयता दिखलाने के लिए लिखा गया है। वृद्ध का बालिका से और बच्चे का युवती से होते हुए विवाहों को इनके द्वारा रोककर योग्य वरों से पाणि-ग्रहण कराया गया है। दुष्टों द्वारा हरण की गई युवतियों की रक्षा कराई गई है। इसमें अंग्रेजी अक्षर तथा शब्दो के उच्चारण की बालकों द्वारा हँसी उड़ाई गई है और कवि-सम्मेलन का दृश्य दिखलाकर कवियों का ओछापन प्रदर्शित किया गया है। समाज-सुधारक बने हुए दुष्टों की लीला भी है। हास्य का पुट है पर बहुत हल्का। नाटक साधारणत. अच्छा है। इसके अनंतर प्रायः दस वर्ष बाद चतुर्वेदीजी ने तुलसीदास नाटक लिखा है। इसमें गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त के विषय में जो कुछ ज्ञात हुआ है, उन सबको लेकर यह रूपक निर्मित हुआ है। यह अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। इसमे सब पद गोस्वामीजी के ही रखे गए हैं। भाषा-भाव सभी विचार से नाटक अच्छा ही बना है।

लखनऊ के अंतर्गत इटौंजा निवासी पं० बालदत्त के पुत्र रावराजा पं० श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० का सं० १९४२ में और रायबहादुर पं०

मिश्रबंधु

शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० का सं० १९३५ में जन्म हुआ था। दोनों ही सरकारी उच्च पदों पर रह चुके हैं और प्रथम अब ओड़छा राज्य के प्रधान अमात्य है। इन लोगो का सबसे विशद ग्रंथ मिश्रबंधु-विनोद है। हिंदी नवरत्न, जापान का इतिहास, भारतवर्ष का इतिहास आदि बहुत से ग्रथ आप लोगों ने लिखे हैं और अब भी मातृभाषा की सेवा मे लगे रहते हैं। प्रथम शिर-मौर तथा द्वितीय शशिभाल उपनाम से कविता करते है। आप लोगों ने नेत्रोन्मीलन नाटक लिखा है, जिसमें अदालती मुकदमेबाजी की हानियाँ अच्छी प्रकार दिखलाई गई हैं। यह प्रथम बार सं० १९७१ में प्रकाशित हुआ था। भाषा अधिकतर अदालती ही रखी गई है। वस्तु फौजदारी का एक मुकद्दमा है, जो तीनो दर्जे तक चलाया गया है। आप लोगों ने एक नाटक 'पूर्व भारत' भी लिखा है, जिसका कथानक महाभारत से लिया गया है और अभिमन्यु-उत्तरा के विवाह तक का वृत्त है। चरित्र-

चित्रण तथा कविता दोनों में अच्छा प्रयास किया गया है। अभी इधर हाल में भी आप लोगों ने 'शिवाजी' नाटक लिखा है।

पं० सत्यनारायणजी कविरत्न व्रजवासी थे और इन्होंने अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा प्राप्त की थी। संस्कृत के यह अच्छे ज्ञाता थे। व्रज तथा व्रजेश के अनन्य भक्त थे। व्रजभाषा में इन्होंने बहुत से सरस पद बनाए हैं तथा स्फुट कविताएँ की हैं। नंददासजी की प्रथा पर भ्रमरगीत भी बनाया है। इन्होंने भवभूति के दो प्रसिद्ध नाटक उत्तररामचरित तथा मालती-माधव का हिंदी में अनुवाद किया है, जो अत्यत सरस हुए हैं और मूल के भावों की यथासाध्य रक्षा की गई है। श्लोकों के अनुवाद व्रजभाषा में अनेक छंदों में किए गए है। कहीं-कहीं छोकर, सिदौसी आदि से काव्य में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग मिलता है, और कहीं-कहीं कुछ दुरूहता भी आ गई है, नहीं तो सर्वत्र अनुवाद अत्यंत सरल और हृदयग्राही हुआ है। कविरत्नजी अधिक अवस्था नहीं पा सके, नहीं तो हिंदी-साहित्य को ऐसे और भी अनुवाद-रत्न मिलते। उत्तररामचरित सं० १९७० मे अनूदित हुआ था। इनका जन्म सं० १९४१ में हुआ था और मृत्यु पैंतीस वर्ष ही की अवस्था में सं० १९७५ में हो गई।

सत्यनारायण

इनका नाम धनपतराय था और इनका जन्म सं० १९३७ में काशी के एक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम मुं० अजायबलाल था। आरंभ मे फारसी का अध्ययन कर यह स्कूल पहुँचे और क्रमशः बी० ए० तक की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते चले गए। कॉलेज की दोनों परीक्षाएँ प्राइवेट छात्र के रूप में दी थीं। इनका साहित्यिक जीवन सं० १९५८ से आरंभ होता है, जब इन्होने 'जमाना' में कई लेख प्रकाशित कराए थे। इसके अनंतर कहानियाँ, गल्प तथा उपन्यास बराबर निकलते रहे, जिनके लिये इन्होंने अधिकतर ग्राम्यजीवन ही अपनाया था। भाषा पर—शुद्ध तथा उर्दू-मिश्रित दोनों पर—अच्छा अधिकार था और विनोद, व्यंग्य सभी भाव अच्छी तरह स्पष्ट होते चलते थे। इनकी मृत्यु सन् १९३६ ई० में हो गई। आप नाटककार न होकर सफल उपन्यासकार थे।

प्रेमचंद

प्रेमचंद ने हिंदुस्तानी एकैडेमी के लिए कई नाटकों का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया है। 'जस्टिस' का न्याय के, 'स्ट्राइक' का हड़ताल के और 'सिलवर बॉक्स' का चाँदी की डिबिया के नाम से अनुवाद हुआ है। कर्बला नाटक मौलिक है और हुसेन के मारे जाने के

कारुण्यपूर्ण ऐतिहासिक वृत्त को लेकर इसका कथावस्तु निर्मित हुआ है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का ज्वलंत उदाहरण ओजपूर्ण भाषा में वर्णित है। यह चार अंको तथा अनेक दृश्यों में विभक्त है। कथावस्तु निम्नलिखित घटना पर निर्मित हुआ है। हजरत मुहम्मद की मृत्यु पर खलीफा का पद चुनाव के अनुसार क्रमशः उमर, अबूबकर तथा उसमान को मिला। अंतिम के मारे जाने पर मुहम्मद के दामाद अली और उसमान का संबंधी मुआविया दोनों खलीफा बन गए और युद्ध छिड़ गया। मुआविया की विजय हुई और अली की बाद को हत्या हो गई। हसन और हुसेन अली के दो पुत्र थे। मुआविया ने वचन दिया कि मेरे बाद हसन ही खलीफा होंगे पर इनकी मृत्यु हो गई और उसने अपनी मृत्यु के पहिले अपने पुत्र मजीद को खलीफा निर्धारित कर दिया। अब हुसेन इस पद के उम्मीदवार हुए और इस कारण मजीद इन्हें अपना प्रधान शत्रु मानने लगा। उसने इन्हें मारने का षड्यंत्र किया जिससे यह मक्का से मदीने आए और वहाँ से कूफा की ओर उक्त स्थान के निवासियों के निमंत्रण पर गए। कर्बला के मैदान में मजीद की सेना ने इन्हें घेर लिया तथा कूफा-निवासियों ने भी धोखा दिया, जिससे यह अपने साथियों के साथ कई दिनों तक युद्ध कर मारे गए।

उक्त घटना को प्रेमचंदजी ने नाटक रूप दिया है। प्रायः ढाई सौ पृष्ठों का पोथा हो गया है, जो अभिनय के लिए बहुत बड़ा है। पात्र भी अधिक हैं और रंगमंच पर इतनी मारकाट, लड़ाई भी अनभिनेय है। यह वास्तव में दृश्य न होकर पठनीय नाटक मात्र रह गया है और स्यात् उपन्यास रूप में यह अधिक रोचक तथा मनोरंजक होता। कथोपकथन में तो फारसी अरबी के शब्द भरे ही हैं, क्योंकि पात्रगण अधिकतर मुसलमान ही हैं पर 'मुसलिम से बगलगीर होकर' ऐसे स्थलों पर भी आपने हिंदी शब्द लिखना अनुचित समझा। मदद के स्थान पर इमदाद स्यात् आपने हिंदी के पाठकों के लिए सुगम समझा है। योगी तथा साहसराय का नाटक में लाना मुंशीजी के योग्य ही था। इन्ही लोगों से कुछ हिंदी कहलाई गई है और ये इनकी निजी कल्पनाएँ हैं। ऐतिहासिक घटना में इनका कही जिक्र भी नही है और न इनके समावेश से नाटक कुछ उन्नत हो सका है। यह कल्पना किसी ध्येय से की गई ज्ञात होती है, पर है निरर्थक।

चरित्र-चित्रण के संबंध में इतना कहा जा सकता है कि लेखक इसमें अधिक सफल हुआ है पर पात्र इतने हैं कि दो तीन को छोड़कर

अन्य पर विशेष प्रयास करने का अवसर ही न था। वीर तथा करुण रस ही प्रधान हैं और वह्व तथा नसीमा के कारण कुछ शृंगार भी आ गया है। प्रथम दो का भी ऐसी घटना के उपयुक्त परिपाक नहीं हो पाया है। यह सब व्यापारशृंखला के आधिक्य के कारण ही हुआ है। तात्पर्य यह कि यह नाटक कुशल तथा प्रसिद्ध उपन्यासकार के योग्य नही हो सका है। हमें इनसे इससे कहीं अधिक उच्चकोटि के नाटक की आशा थी।

'संग्राम' एक सामाजिक नाटक है, जो सं० १९७९ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। यह २६३ पृष्ठों में समाप्त हुआ है और पॉच अंकों में विभक्त है। ७+९+८+७+६=३७ दृश्य हैं। कथावस्तु इस प्रकार है—हलधर किसान नायक तथा उसकी नवविवाहिता पत्नी राजेश्वरी नायिका है। गॉव का योग्य उदार जमींदार सबलसिंह उसे देखता है, उसके घर निमंत्रित हो भोजन करता है और उससे प्रेम करने लगता है। हलधर गहने बनवाने के लिए सबलसिह के यहॉ से ऋण लेता है और दो सौ के स्थान पर उसे एक सौ उंसठ ही मिलता है। सबलसिंह राजेश्वरी को देखने के लिए मैजिक लैंटर्न का तमाशा दिखलाने के बहाने गॉववालों को निमंत्रित करता है, जिसमें वह भी आती है। सबलसिह इसके बाद उसपर अपना शुद्ध प्रेम प्रकट करता है। एक दुराचारी साधु चेतनदास सबलसिह को मनोनुकूल राय देकर उसके गिरने में सहायता देता है। सबलसिंह ऋण के कारण हलधर को जेलखाने भेजता है पर एकाकिनी राजेश्वरी को समाज के भय से या हृदय की दुर्बलता से देखने नही जाता। तब राजेश्वरी बदला लेने के विचार से सबलसिह को देवता मानते हुए भी घरद्वार छोडकर इसके पास चली आती है। इधर चेतनदास सबलसिह के घर पर निमंत्रित हो पहुँचते हैं और जनाने में घंटों बैठकर अपनी करामात दिखलाते हैं। सबलसिह के तीन दिन न आने पर राजेश्वरी उलहना देकर नित्य आने को कहती है और बातों से अपनी ओर आकर्षित करती है। दोनों दूर देश जाने का निश्चय करते हैं। सबलसिह का भाई कंचनसिह, जो अविवाहित था, इस प्रेमलीला का पता लगाकर राजेश्वरी के पास पहुँचता है और उससे बाहर जाने को मना करता है। वह इसे भी अपनी ओर आकर्षित करती है और यह बात स्वीकार कर लेती है। बाहर जाना अस्वीकार करने पर सबलसिह को कंचनसिह पर संदेह होता है और वह इसे मार्ग से हटाने का विचार करता है। इधर उनकी

पत्नी ज्ञानी चेतनदास के दर्शन को जाने लगती है। गाँव भर में केवल एक फत्तू मियाँ हलधर के सगे मित्र बनाए गए और अपना सर्वस्व गँवाकर वह हलधर को छुड़ा लाया। हलधर बदला लेने निकलता है और मार्ग में चेतनदास के यहाँ जाती हुई ज्ञानी की डाँकुओं से रक्षा करता है। चेतनदास सबलसिंह के विरुद्ध मुकद्दमा इसलिए चलवा देता है, जिसमें उनके फँस जाने पर ज्ञानी उसकी हो सकेगी। पुलिस आने पर ज्ञानी पर अपना प्रभाव डालने और उसका विश्वास अपने पर बढ़ाने के लिए चेतनदास सबलसिंह का जामिन बनकर उसे छुड़ाता है क्योंकि पुलिस उसी की बुलाई आई थी। सबलसिंह कंचनसिंह को स्वयं मारने को तैयार होता है और हलधर इसे तलवार लेकर मारने आता है तब यह चालाकी से उसे समझाकर कंचनसिंह को गंगा के किनारे मार डालने की राय देता है। कंचनसिंह आत्महत्या करने को जब गंगा में कूदता है तब हलधर, जो उसे मारने आया था, जल में से उसे निकालकर बचाता है। चेतनदास आकर हलधर को पुनः सबलसिंह को मारने को उभाडता है पर कंचनसिंह रोकता है। इधर ज्ञानी चेतनदास के पास कृतज्ञता दिखलाने जाती है और वह उसे अकेला पाकर अपनाता है। सबलसिंह भाई की हत्या से उन्मादग्रस्त-सा हो जाता है और अब राजेश्वरी के पास जाकर उसका सतीत्व माँगता है पर वह अपने 'सत' पर दृढ़ रहती है। सबलसिंह राजेश्वरी के यहाँ से अपने घर चला जाता है और ज्ञानी से भी अपने को तिरस्कृत समझकर पिस्तौल से आत्महत्या करना चाहता है कि हलधर ठीक समय पर उसे मारने को पहुँचता है पर आत्महत्या करते देखकर बचाता है। अब हलधर राजेश्वरी को मारने चलता है। इधर सबलसिंह को खोजते हुए ज्ञानी राजेश्वरी के, घर जाती है और हीरा की कनी खाकर मर जाती है। राजेश्वरी फाँसी लगाकर आत्महत्या की तैयारी करती है कि हलधर भी ठीक अवसर पर पहुँचकर रस्सी काटकर उसकी जान बचाता है। चेतनदास आत्महत्या करता है और सबलसिंह अपने भाई तथा पुत्र के साथ विरक्त हो जाता है। इधर हलधर के गाँव में बधावा बजता है।

सारी कथा अस्वाभाविकता से भरी हुई है, कहीं किसी बात में संबंध नहीं है। कपोल-कल्पना भी इतनी उड़ान ले सकती है, यह संभव नहीं। ऋण के लिए जेलखाने भेज देना राजेश्वरी की दृष्टि में इतना बड़ा पाप नहीं हो गया था कि वह सबलसिंह का, जिसे देवता के समान मानती थी, सपरिवार नाश करने के लिए अपने मुख में कालिख

लगाकर घर छोड़ उनके पास चली आती। जेलखाने जाने के भी दस दिन बाद तक सबलसिंह उस पर अत्याचार करने नहीं गए और न वे अत्याचार करते, ऐसा राजेश्वरी को अंत तक विश्वास रहा। ऐसा ही दिखलाया भी गया है, केवल अंत में प्रेम को कामलिप्सा बतला दिया गया है। कई दुःखपूर्ण घटनाओं के कारण आत्महत्या करने का निश्चय कर कोई किसी का सतीत्व हरण करने न जायगा। नाटककार ने केवल अमीर जमींदार होने के कारण ही सबलसिंह का, उसके भाई तथा साध्वी पत्नी का पतन दिखलाया है और गरीब होने के कारण अकारण घर को त्यागनेवाली, महल में संपत्ति के बीच स्वेच्छा से जाकर रहनेवाली तथा बराबर अन्य पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए रात्रि में एकाकिनी उनके साथ रहनेवाली राजेश्वरी को 'सत' पर दृढ़ रखा है। हलधर किसान होने के कारण ही ऊँचे उठाया गया है और उसके तीन तीन शिकारों की उसीसे रक्षा कराना प्रदर्शित किया गया है। फत्तू मियाँ द्वारा घर-द्वार बेचकर हिंदू पड़ोसी की सहायता कराई गई है। यह सब नाटककार के विशेष ध्येय रहे हैं, पर सभी अनुभव-विरुद्ध तथा अस्वाभाविक है। एक हरे भरे घर के ध्वंस पर मौलूद शरीफ इसी विचार से कराया गया था।

चरित्र-चित्रण के लिए दो युगल मूर्तियाँ हलधर-राजेश्वरी तथा सबलसिंह-ज्ञानी और दो अन्य कंचनसिंह तथा चेतनदास ही मुख्य पात्र हैं पर एक विशेषता यह सबमें है कि उनका चरित्र आप से आप स्वाभाविक प्रवाह से नहीं चल पाया है प्रत्युत् सूत्र द्वारा परिचालित ज्ञात होता है। प्रथम युग्म में यह पूर्ण रूप से तथा द्वितीय में कुछ कम है। द्वितीय में कुछ अंतर्द्वंद्व भी विकसित हो पाया है। कंचनसिंह तथा चेतनदास का चित्रण भी पूर्णतः स्वाभाविक नहीं हो सका है। रस के नाते किसका नाम लिया जा सकता है, जबरदस्ती श्रृंगार, करुण कह लीजिए। वास्तव में यह नाटक बिना जासूस का जासूसी उपन्यास-सा है, जिसमें खून, आत्महत्या का ही जोर है।

आपने उक्त दो के सिवा एक और नाटक लिखा है, जिसका नाम स्यात् 'प्रेम की बलि वेदी पर' है।

रामायण के टीकाकार आगरा-निवासी रामेश्वर भट्ट के यह पुत्र थे। इनके दो बड़े भाई ऋषीश्वरनाथ तथा केदारनाथ भी साहित्य-सेवी

बद्रीनाथ भट्ट

हैं। बी० ए० पास कर बद्रीनाथ लेख लिखने लगे, जो सरस्वती में छपते थे तथा वहीं से निकलनेवाले पत्र बालसखा के पहिले-पहिल संपादक हुए। इसके बाद सुधारक के भी कुछ

दिन तक संपादक रहे। लखनऊ विश्वविद्यालय खुलने पर यह हिंदी के अध्यापक नियत हुए और अंत तक वहीं रहे। १ मई सन् १६३७ को तैंतालीस वर्ष की अवस्था में इनका देहांत हो गया। यह सुकवि, पत्रकार, परिहास-लेखक तथा नाटककार थे। दुर्गावती, चद्रगुप्त, वेन-चरित, तुलसीदास आदि कई नाटक लिखे हैं, जिनमे प्रथम विशेष प्रसिद्ध है।

दुर्गावती गढ़ाकटक की रानी थी, जिस पर अकबर के सेनाध्यक्ष आसफखाँ ने चढ़ाई की। रानी ने बड़ी वीरता से सामना किया पर अपने आश्रित देशद्रोहियो के कारण वह परास्त हुई और मारी गई। उसका वीर पुत्र वीरनारायण भी वीरगति को प्राप्त हुआ। रानी, वीर मंत्री तथा सेनापति का चरित्र-चित्रण अच्छा ही हुआ है इसमें देशद्रोहियों को उचित पुरस्कार दिलाया गया है और उनके प्रति पाठकों को घृणा भी होगी। बदनसिह की पत्नी का त्याग तथा साहस देशभक्ति का अच्छा उदाहरण है। हास्य की योजना अनवसर पर की गई है और वह भी गिरधारी का गिड़धाड़ी करके हास्य लाने का निर्जीव प्रयास मात्र है। वीर-रस प्रधान नाटक के योग्य चरित्र-चित्रण कोई भी नही हो सका है और कथा-सगठन भी कही अति मंथर गति तथा विस्तार से और कही अति संक्षेप तथा व्यर्थ की जल्दी के साथ हुआ है। इतिहास-विरोधी बातो का प्रयोग कथानक का उन्नायक नही हो सका है। कथोपकथन सरल तथा व्यावहारिक भाषा ही में हुआ है पर कहीं-कहीं स्वगत भी कविता मे कहा गया है। शाही दरबार की मर्यादा का नाटककार ने कुछ भी ध्यान नहीं रखा है। कविताएँ प्रायः सब शिथिल है, और शैर रानी आदि सबसे कहलाया गया है। नाटक, अभिनय को दृष्टि से लिखा हुआ कहा गया है पर तीसरे अंक का रंगमंच पर सफलता से दिखलाना संभव नहीं।

इनका प्रथम नाटक कुरुवनदहन सन् १६१२ ई० की कृति है और भट्टनारायण के वेणीसंहार के आधार पर बना हुआ है। कुछ हेर फेर के साथ यह अनुवाद ही कहा जा सकता है। शुद्ध तथा सफल अनुवाद भी कठिन कार्य है उस पर वेणीसंहार क्लिष्ट भी है अतः यह स्वतंत्र अनुवाद का प्रयास है। कुछ नए पात्रों की कल्पना भी की गई हैं और परिहास लाने का प्रयत्न भी किया गया है। इसकी भाषा सरल तथा सुगम है और कविता भी खड़ी बोली में अच्छी की गई है। इसके दो वर्ष बाद 'चुंगी की उम्मीदवारी या मेंबरी की धूम' प्रहसन लिखा गया, जो साधारण कोटि का हुआ है। भाषा इसकी उर्दू मिश्रित है और यत्र

तत्र-हास-परिहास की मात्रा भी काफी है। इसके दूसरे वर्ष चंद्रगुप्त नाटक लिखा गया, जिसमे पाँच अंक हैं। अंकों को आपने सीनों में बाँटा है, गनीमत है कि अंक को एक्ट और नाटक को ड्रामा उर्दूवालो के वजन पर नहीं लिखा है। मुद्राराक्षस की कथानक की समाप्ति के आगे की घटनाएँ लेकर इस नाटक को लिखने का प्रयास किया गया है। भट्टजी प्राचीन इतिहास का बिना मनन किए हुए यह नाटक लिख गए है और मुद्राराक्षसकार के समान गंभीर कूट राजनीति के ज्ञाता भी न होने से यह नाटक केवल हिंदी का पारसी थिएट्रिकल मात्र होकर रह गया है। आर्य-यवन का मेल ध्यान में रखकर ही इसकी रचना की गई है, जो समय का प्रभाव है। न वस्तु-संगठन ही कुछ है और न चरित्र चित्रण। कुछ यत्र तत्र की कहानी भी उसी में घुसेड़ी गई है। परिहास का तो आप किसी न किसी प्रकार स्थानास्थान का विचार किए समावेश कर ही देते हैं। कविता काफी है और अच्छी ही कही जायगी।

उक्त नाटकों के प्रायः सात वर्ष बाद आपने तुलसीदास तथा वेन-चरित या राजपरिवर्तन लिखे हैं। पहिला तो रासलीला, या भक्तलीला कहिए, के लिए लिखा सा ज्ञात होता है, जिसमें गोस्वामीजी के विषय में प्रचलित अनेक दंतकथाएँ कथोपकथन के रूप में एकत्र कर दी गई हैं। यह बिलकुल साधारण रचना है। वेनचरित में एक पौराणिक उपाख्यान का नई रोशनी में रूपांतर किया गया है और चौबीस अवतारों में से एक राजा पृथु प्रजातंत्र के सभापति बनाए गए है। इसमें बड़े लंबे-लंबे भाषण हैं और ऋषियों की बातचीत में ब्रह्म-निदर्शन पर दृश्य का दृश्य लिख डाला गया है। वस्तु-व्यापार अधिक न होने से यह सब आकार बढ़ाने को भर्ती मात्र है। इसकी भाषा उर्दू-मिश्रित है और कुछ कविता भी है। यह नाटक भी साधारण ही है।

इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है कि भट्टजी विशेष सफल नाटककार नहीं हो सके हैं। इन रचनाओं में विशेप मनन या अध्यवसाय भी परिलक्षित नहीं होता और केवल खेल समझकर ही ये नाटक मनमानी तौर पर लिख डाले गए है। नाटककार की गंभीरता कहीं भी दृष्टि-गोचर नहीं होती। गंभीर परिस्थिति तो आपके नाटकों में दीखती भी जल्दी नही है और उस समय भी परिहास उन्हें मजाक या खेल बना देता है। ये परिहास भी लूटमालसिह आदि नाम ही तक सीमित हैं, शिष्ट परिहास का तो नाम भी नहीं है। भाषा सरल तथा व्यवहार की होते भी परिस्थितियों के अनुकूल सर्वत्र नहीं है। रसों की दृष्टि से

देखा जाता है तो किसी नाटक में किसी विशिष्ट रस का परिपाक होता नहीं मिलता, केवल दुर्गावती में, जो इनका सबसे अच्छा नाटक है, वीर रस अच्छी मात्रा में है। शृंगार, करुण आदि का परिस्थिति रहते भी रसास्वादन नहीं करा सके हैं।

मिस अमेरिकन एक प्रहसन है, जो सन् १६२६ ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें भी पात्रों के नामों की दुर्गति की गई है, जैसे—टट्टूखाँ, गिलहरीमारसिंह आदि। इसी प्रकार शब्दों को कुरूप करके ही हँसाने का प्रयास है, जैसे—पंडतजी, इसराज (स्वराज्य), गल्दन-पल्टी (गार्डन पार्टी) इत्यादि। मिसेज अमेरिकन तथा मिस अमेरिकन की बातचीत कहीं-कहीं अत्यंत अश्लील है। ऐसा ज्ञात होता है कि मिस मेयो का शठं प्रति शाठ्य के अनुसार उत्तर दिया गया है। इस नाटक का मुख्य व्यापार है मिस अमेरिकन का लोगों को फँसाकर रुपए उगाहना। अपनी माता के उपदेशों के अनुसार चलने से वह सफल भी हुई। इन तीनों की भाषा शुद्ध हिंदी रखी गई है और कहीं-कहीं ठेठ प्रयोग इनसे कराए गए है, जो खटकते हैं। भाषा दो प्रकार की चलती रहती है—एक शुद्ध हिंदी और दूसरी फारसी-अरबी मिश्रित। प्रहसन तब भी अच्छा बन पड़ा है, बैठे ठाले दो घंटे का मनबहलाव है पर स्यात् शिष्ट समाज को यह न रुचेगा। मिस अमेरिकन के सिवा लबड़-धोंधो, ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट तथा विवाह-विज्ञापन प्रहसन भी भट्टजी ने लिखे है।

लक्ष्मीनारायण बी० ए०

यह मिश्र ब्राह्मण हैं और खड़ी बोली के सुकवि भी हैं। इन्होंने अब तक अशोक, संन्यासी, राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिंदूर की होली आदि अनेक नाटक लिखे हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं तथा कुछ अभी प्रकाशित होने को है। अशोक आपका प्रथम नाटक है, जो सं० १९८४ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। भारत के सुप्रसिद्ध सम्राट् अशोक के जीवनवृत्त को लेकर इस नाटक का कथा वस्तु निर्मित हुआ है और व्यापार का आधिक्य है, जिससे नाटककार प्राचीन-काल के इतिहास के विशेष अभिज्ञ न होने के कारण उसे पूर्णतया सुगठित नहीं कर सके हैं। अशोक का चरित्र गिराकर और धर्मनाथ के हाथ का खिलौना, कादर तथा धोखेबाज बनाकर, ऐसे विश्वविख्यात् सम्राट् के साथ अन्याय किया गया है और उसके साथ-साथ ग्रीक एंटिपेटर के चरित्र को ऊँचे उठाकर इसे एकदम पाठकों तथा दर्शकों की दृष्टि मे रसातल में पहुँचा दिया गया

है। कल्पित धर्मनाथ ब्राह्मण का चित्रण चाणक्य की नकल भर ह पर एक ऐतिहासिक व्यक्ति के चित्रण में इतनी उच्छृंखलता किसी भी ध्येय की पूर्ति नहीं करती। अशोक ने सनातन-धर्म का त्याग किया था और बौद्ध हो गया था, इसीलिए क्या ऐसा किया गया है, पर ग्रीक भी सनातनी नहीं थे, साहब अवश्य रहे होंगे। ग्रीक पात्रों तथा पात्री, सभी के चरित्र उच्च कोटि ही के दिखलाए गए हैं और ये प्रायः सब अनावश्यक से हैं। नाटक अपने समय की परिस्थितियों का द्योतक भी नहीं हो सका है। अज्ञात ब्राह्मण धर्मनाथ को आधी सेना दे देना, बिना समझे युद्ध को उद्यत होना तथा पिता की आज्ञा का इस प्रकार उल्लंघन करना सभी जयंत के लिए अस्वाभाविक हैं। भाषा अच्छी ही है। बड़ी प्रसन्नता है कि आपने 'इतिहास की गई बीती बातों को लेकर आँधी और तूफान पैदा करने' का विचार छोड़ दिया था।

अशोक के अनंतर मिश्रजी ने दूसरा नाटक संन्यासी लिखा है, जो नारी-समस्या लेकर चला है। मालती कॉलेज की विद्यार्थिनी है, जिससे उसका प्रोफेसर रमाशंकर तथा सहपाठी विश्वकांत प्रेम करते हैं और इस प्रतिद्वंद्विता के कारण आपस में द्वेष करने लगते है। मालती का एक अन्य सहपाठी सुधाकर रमाशकर का पक्ष लेकर मालती तथा विश्वकांत दोनो को उनके पिताओ के सामने विद्रूप करता है। उसी कॉलेज के एक अन्य वृद्ध प्रोफेसर दीनानाथ युवती किरणमयी से विवाह करते हैं, जो 'अपटुडेट' है और उन्हें विद्रूप करती रहती है। पत्र-संपादक मुरलीधर की ओर वह आकर्षित होती है, जो राष्ट्र-सेवा में कई बार जेल जा चुके हैं। इन्होंने अविवाहित रहकर देशसेवा का व्रत लिया है पर बाद को पता लगता है कि इन्होंने किरणमयी का कौमार्य-भंग किया था। विश्वकांत भी इसी प्रकार का व्रत लेता है और अविवाहित रहने की शपथ करता है। इसके अनंतर यह अफगानिस्तान जाकर वहाँ एशियायी संघ खोलता है। इधर मुरलीधर जेल में मरते है और किरणमयी उनकी मृत्यु देखकर बेहोश होती है। मालती, विश्वकांत का प्रेम त्यागकर उसके प्रतिद्वंद्वी रमाशंकर से विवाह कर लेती है। मालती रमाशंकर से और दीनानाथ किरणमयी से संसार चलाने के लिए समझौता कर लेते हैं। विश्वकांत मालती से यह सब सुनकर संन्यासी हो जाता है।

इस प्रकार मिश्रजी नारी-समस्या हल कर पाए है अर्थात् 'चिरंतन नारीत्व ने पुरुष की अहम्मन्यता पर विजय प्राप्त की है।' कथावस्तु का संगठन अच्छा हुआ है और चरित्र-चित्रण भी पात्रों के अनुकूल हुआ

है। रस कौन है, इसका बतलाना कुछ कठिन ज्ञात होता है. प्रेम 'नारकीय' है, प्रेम से बढ़कर संसार चलाने का समझौता है, ऐसी अवस्था में शृंगार का अभाव ही कहा जा सकता है पर है वह अवश्य। इसी प्रकार वीर तथा करुण और कहीं-कहीं हास्य का भी कुछ पुट वर्तमान है। परंतु यह सब कथन प्राचीनता बतलाती है। नवीनता की दृष्टि से दृश्यों की संख्या बहुत कम कर दी गई है। एक ही अंक के भीतर अनेक दृश्य बदलते जाते हैं पर दृश्य-भेद नहीं किए गए हैं, केवल कोष्ठकों में इनकी सूचना देते हुए कमरे तथा पात्र आदि के शृंगार बतला दिए गए हैं। नाटक अभिनेय भी है और अच्छा बन पड़ा है।

भूमिका में लिखते हैं कि 'हमारी खेल तो यहीं समाप्त होगी।' इस-लिए 'हम सब क्या थे या क्या हैं। बल्कि इसमें है कि हम सब क्या होंगे? हमारा सत्य हमारे भविष्य में है। उसी भविष्य को ध्यान में रखकर मैंने इस नाटक की रचना की है और इस तरह के कई और नाटकों की रचना करूँगा।' ठीक है, इहलोक की चिंता छोड़कर परलोक की चिंता सदा भारत करता आया है, उसी का यह वाक्य रूपांतर ज्ञात होता है या हो सकता है कि मेरे 'ऐसे लोग समझने का प्रयत्न नहीं करते।' संन्यासी नाटक के बाद राक्षस का मंदिर लिखा गया है, जिसका वृत्त नीचे दिया जाता है।

असग़री रामलाल वृद्ध वकील की मुसल्मानी युवती वेश्या है। राम-लाल का पुत्र रघुनाथ और मित्र मनोहर युवक हैं। रघुनाथ तथा असग़री में स्वभावत आकर्षण होता है और पिता की मदिरा भी वह पिता है। अंत में रामलाल कुछ चालाकी से दोनों को एक साथ कर ठीक समय पर पहुँच कर पुत्र को अलग कर देता है। क्रांतिकारी मनोहर पुलिस के भय से रामलाल के घर में छिपता है, पुलिस पकड़ने आती है और सी० आई० डी० अफसर उसका पिता बन जाता है। अतः उसे छोड़कर चल देता है। मनोहर ही का पहिले मुनीश्वर नाम था। रामलाल, मनो-हर तथा असग़री को प्रेमालिंगन करते देखते हैं, कुछ हुज्जत होती है और अंत में रामलाल यह सब देखकर विरक्त हो जाता है। असग़री तथा रघुनाथ चले जाते हैं और मनोहर रामलाल पर दबाव डालकर कुल संपत्ति वेश्यासुधार के लिए मातृ-मंदिर के नाम लिखवा लेता है। असग़री एक स्कूल में अध्यापिका हो जाती है और वहाँ की एक लड़की ललिता के साथ रहते हुए शालिग्राम की पूजा करने लगती है। रघुनाथ और मनोहर से एकाएक भेंट होती है। मनोहर असग़री को बलात् ले जाना

चाहता है और रघुनाथ उसकी रक्षा करता है। अंत में ललिता असारी को मुसल्मानी जानकर गृह से निकाल देती है और रघुनाथ भी उसका आतिथ्य न स्वीकार कर चला जाता है। मातृ-मंदिर तैयार होता है और उसके उद्घाटन का उत्सव किया जाता है। इस मातृ-मंदिर की पोल भी कुछ बातचीत से खोल दी जाती है। असारी वहाँ पहिले ही पहुँच गई थी और ललिता तथा रघुनाथ देखने आते हैं। इनमें बातचीत होती है। पहिले रघुनाथ उसके प्रेम को स्वीकार नहीं करता है पर जब ललिता भी इस तिरस्कार से 'आत्मा के जग जाने' से अस्वीकार कर देती है तब वह बहुत प्रयत्न करता है पर चिरंतन नारीत्व दृढ़ रहता है। असारी जो विरक्त बन बैठी थी, अब मुनीश्वर उर्फ मनोहर के मंदिर में अर्थात् राक्षस के मंदिर में रहने लगती है।

वस्तु-संगठन खूब हुआ है पर पात्रों का चरित्र-चित्रण नाटककार के ध्येय या इच्छानुकूल हुआ है, सर्वत्र स्वाभाविक नहीं है। चरित्र 'रोमांटिक' बना दिए गए हैं और प्रेम सांसारिक बनाया गया है। रोमांटिक प्रेम का त्याग स्त्री द्वारा दिखला कर उसका पुरुष पर विजय स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार विश्वकांत मालती द्वारा तिरस्कृत होकर संन्यासी हो गया है, उसी प्रकार रघुनाथ इसमें ललिता द्वारा। अब इसके अनंतर इसी प्रकार चौथे नाटक में 'मुक्ति का रहस्य' बतलाया गया है।

उमाशंकर शर्मा असहयोग की लहर में प्रोफेसरी छोड़ देता है और उसकी स्त्री लंबी बीमारी उठाकर और एक छोटे बच्चे को छोड़कर मर जाती है। स्वराज्य के प्रयत्न में वह जेलखाने की हवा खाता है। आशा देवी ने शर्माजी की इस विपत्तिकाल में सहायता की और दोनों में 'रोमांटिक' प्रेम हो गया। इसी प्रेम के कारण उसने शर्माजी की स्त्री को विष देकर मरने में उसकी सहायता की, क्योंकि वह दो वर्ष से तपेदिक से बीमार थी। विष वह एक डाक्टर से लाई थी, कुछ आशा दिलाकर और विष लेने का पत्र रूप में उसे एक सनद भी दे दिया था। उस सनद के सहारे डाक्टर साहब उसपर हावी हो गए और उसका कौमार्य-भंग कर डाला। इसपर आशा का नारीत्व जग उठा। इसी समय शर्माजी के चाचा काशीनाथ ने पहुँचकर इनसे पढ़ाई के व्यय के बदले में इनके हिस्से की दस्तबरदारी लिखवाकर संपत्ति से इनको 'मुक्ति' दे दी। अब आशा देवी ने भी कुल कथा कहकर तथा शर्माजी को उपास्य मूर्ति बना-कर अपनी ओर से इन्हें कम-से-कम इस जीवन के लिए, अन्य जीवन के लिए नहीं, मुक्ति दे दी और अपने 'प्रियतम' तथा प्रथम पुरुष के यहाँ

चल दी। शर्माजी अपने पुत्र को गोद में लेकर मुक्ति का रहस्य समझने लगे। जन्म का आवारा डाक्टर, जो केवल काम-लिप्सा के चरितार्थ होने की आशा में हत्या में साझीदारी हो गया था, आशा देवी का कौमार्य-भंग करने के उपरांत अपने शिकार की आत्महत्या की चेष्टा देख-कर सच्चा साधु बन जाता है और उसके 'प्रियतम' कहते ही विवाह करना स्वीकार कर लेता है।

इस नाटक के मुख्य पात्र तीन है—आशा, उमाशंकर तथा डाक्टर। प्रेम के नामपर आशा पहिले विपन्न उमाशंकर की सहायता करती है पर उसी सहायता की आड़ में उनकी स्त्री को ले बीतती है। सहानुभूति, समवेदना तथा सहायता से वह उमाशंकर का प्रेम आकर्षित करना चाहती है और आकर्षण होता भी है। इतना कार्य हो जाने पर भी वह या दोनों ही आगे नहीं बढ़ते, मानो किसी घटना के घटित होने की आशा में रुके है। बस वह घटना हो गई और दोनों को मुक्ति मिल गई। यह कैसा अस्वाभाविक रहस्य है? केवल एक पाप कहना आशा के लिए दूभर हो गया और जब वह दूसरा पाप प्रथम को छिपाने के लिए कर चुकी तब दोनों को कह डाला। दो पाप करने पर वह आत्महत्या की असफल चेष्टा करती है पर प्रेम के नाम पर पहिली ही बार आत्महत्या की चेष्टा विशेष स्वाभाविक होती। स्यात् उसे उमा-शंकर के प्रेम मे शका थी। कहती है 'कैसा था वह प्रेम भगवन्?' उमाशंकर का चरित्र उमाशंकर का नही ज्ञात होता, वह नाटककार के हाथ का खिलौना मालूम होता है। जो जैसा कह देता है, वह मानता चला जाता है। उसका निजी व्यक्तित्व कुछ नहीं है। डाक्टर दुष्ट चित्रित किया गया है पर उसे भी अत में नाटक का घटना-प्रवाह मिलाने के लिए साधु पुरुष बना दिया गया है।

यह सब विचार रहते हुए भी नाटक अच्छा है और जिस ध्येय को लेकर लिखा गया है उसकी पूर्ति करता है। अब राजयोग नाटक लीजिए।

बिहारीसिंह को कोई सतान न थी। उसकी स्त्री ने नौकर गजराज से एक लड़की चंपा पैदा की। यह विद्यालय में पढ़ती थी। इसके सह-पाठी रतनपुर के राजकुमार शत्रुसूदन तथा मंत्री कुमार नरेंद्र थे। नरेंद्र से चंपा का पारस्परिक प्रेम था और दोनों के विवाह की हल्दी भी हो गई थी पर शत्रुसूदन ने प्रभाव डालकर उससे अपनी शादी कर ली और नरेंद्र गृहत्यागी हो गया। इसी घटना के बाद से नाटक आरंभ

होता है। पहिले अंक में शत्रुसूदन अपने सिद्धांत के अनुसार वृद्ध मंत्री रघुवंशसिंह को पद से हटा देता है, इस पर गजराज को चौबीस वर्ष पहिले का पाप याद आ जाता है और सबसे 'पाप पाप' कहने लगता है। इसी अवसर पर नरेंद्र राजयोगी बनकर रंग-मंच पर आ जाता है और सभी पात्रों को कठपुतली के समान नचाता है। ऐसा स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वह पुराना रहस्य जानकर शत्रुसूदन से बदला लेने ही के लिये आया है और गजराज की यह पाप-कल्पना उसी रहस्य को सब पर प्रकट करने का साधन मात्र बनाई गई है। नरेंद्र गजराज को हिप्नोटाइज़ कर शत्रुसूदन तथा चंपा के सामने वह भेद खोल देता है और उसका जो प्रभाव होना वह चाहता था वही होता है। उसे चंपा पर भी शक था कि वह उसे भूल गई है और अपनी गृहस्थी सुख से चला रही है। नरेंद्र का प्रेम उसपर बना है और चंपा अवश्य उसे बहुत कुछ भूल गई है, यह नाटक में नरेंद्र के दूर से अकेले उसको बारबार देखने तथा चंपा के उसे न पहिचानने से मालूम होता है। अंत में इस प्रतिहिंसा को छिपाने तथा राजयोग की प्रभुता प्रकट करने का आडंबर फैलाया जाता है। चंपा अपना पुराना प्रेम उसे न पहिचानते हुए प्रकट करती है, नरेंद्र अपना परिचय देता है और उससे अपनी विरक्ति बतलाता है। चंपा के प्रति शत्रुसूदन के तिरस्कार का यदि एक कारण था तो नरेंद्र के तिरस्कार का दो कारण था। इसीसे कहता है कि 'आज से मैं तुम्हारा प्रतिद्वंद्वी नहीं रहा राजकुमार।' उसकी प्रतिहिंसा पूर्णरूपेण चरितार्थ हो चुकी थी। और इसीसे वह मंत्रित्व स्वीकार न कर कर्म-योगी बन गया।

कथावस्तु विशेष सुगठित नहीं हो सका है और चरित्र-चित्रण किसी एक पात्र का भी पूर्णरूपेण नही हो सका है। शत्रुसूदन सच्चे स्वामिभक्त वृद्ध मंत्री पर इतना रोब गाँठता है, पर एक अज्ञात पुरुष के सामने, स्यात् उसके हिप्नौटिज्म की शक्ति के वशीभूत होकर, बच्चे के समान आज्ञाकारी हो जाता है। कोई भी नरेंद्र को नहीं पहिचानता, यद्यपि सभी उसे पाँच वर्ष पहिले पूरी तरह जानते थे। एक का पुत्र था, दूसरे का बाल्यकाल का मित्र था, तीसरे का प्रेमी तथा सहपाठी था और चौथे के 'मालिक' का पुत्र था। यह सब कहाँ तक स्वाभाविक है, नहीं कहा जा सकता। नाटक अवश्य ही आकर्षक हो गया है और पठनीय तथा अभिनेय दोनों है।

'सिंदूर की होली' में केवल तीन अंक हैं और इनमें कोई अंतर्वि-

भाजन नहीं है। मुरारीलाल डिप्टी मैजिस्ट्रेट होने के बाद अपने मित्र को आठ सहस्र रुपए के लिए बेहोश कर नदी मे फेंक देता है और उसके पुत्र मनोजशंकर को, उस रुपये से अधिक खर्च करते हुए, शिक्षा देता रहता है। उससे अपनी पुत्री चंद्रकला का विवाह करने का विचार भी रखता है। ठीक इसी परिस्थिति में यह पहिले-पहिल नाटक में पदार्पण करता है इनका मुशी माहिर अली, जो पहिले हत्याकांड का साथी है, घूस देने की बातचीत से नाटक का श्रीगणेश करता है। पहिले भगवंत-सिंह अपनी पट्टीदारी के एक लड़के रजनीकांत को दबाने के लिए या उसका हक मारने के लिए दस सहस्र देता है और बात ही बात में प्रकट हो जाता है कि वह उसके मारने का प्रबंध कर आया है तथा वह उस समय तक मारा भी जा चुका होगा। इस पर चालीस सहस्र घूस और माँगा जाता है। देने का वादा करने पर वह विदा किया जाता है। पट्टीदारी की समस्या नित्य-प्रति अनुभव की वस्तु है और उसे हल करने के लिए भगवंतसिंह से कहलाया गया है कि 'पट्टीदार और दाल तो गलाने की चीजें होती हैं। दाल गल जाने पर मीठी होती है और पट्टी-दार गल जाने पर काबू में रहता है।' कैसी अनोखी सूझ है? पर रजनीकांत भी 'गल जाने पर' किस प्रकार काबू मे रखा गया होगा? उसी अंक में चंद्रकला तथा उसकी सखी विधवा मनोरमा भी रजनी-कांत का चित्र लेकर बहुत सी बातें करती है, मुरारीलाल मनोरमा से प्रेम प्रकट करता है और मनोजशकर भी कहीं बाहर से सामान लेकर आ पहुँचता है कि अब परीक्षा न देगा। यह अंक रजनीकांत के लाए हुए शव के साथ समाप्त होता है। दूसरे अंक में मनोरमा तथा मनोज-शंकर का प्रेमालाप होता है, चंद्रकला के रजनीकांत के प्रेम तथा आहत होने के कारण बीमार पड़ने का समाचार दिया जाता है और मनोज-शकर चंद्रकला के प्रेम का रहस्य मुरारीलाल पर प्रकट करता है। मनोजशंकर तथा डाक्टर से कुछ बहस होती है और तब डाक्टर को विदाकर मनोज चंद्रकला को वायु-सेवन के लिए बाहर ले जाता है। घूस के पूरे रुपयों के साथ दूसरा अंक खत्म होता है। तीसरा अंक 'कयामत या परलय की रात' है। रजनीकांत मरता है, मनोजशंकर पर उसके पिता का हत्याकांड-रहस्य खुलता है और चंद्रकला 'मानसिक' विवाह के कारण सदा अविवाहित रह पिता से दूर बसना निश्चित करती है। शव के हाथ से आपही अपने माँग में सिंदूर भरा लेना ही "सिंदूर की होली" है।

इस नाटक की पात्र सूची में आठ नाम है। प्रथम नाम रजनीकांत का है, जिसका शव मात्र एक बार मंच पर आता है। हरनंदन अत्यंत गौण पात्र है। पुरुष पात्रों में रह गए दो प्रधान पात्र मुरारीलाल तथा मनोजशंकर और दो साधारण भगवंतसिंह तथा माहिर अली। मुरारीलाल हत्या करता है, घूस लेता है तथा परस्त्री से प्रेम की भिक्षा माँगता है पर एक भी काम दुस्साहस के साथ नहीं करता, न वह पक्का खूनी है और न पूरा लपट। मनोजशंकर केवल इस शंका से कि उनका पिता 'आत्मघाती' था बीमार बना रहता है यद्यपि डाक्टर को फटकारने में बहुत कुछ तर्क इसी विषय पर किया है। भगवंतसिंह ने अपने सिद्धांत के अनुसार रजनीकांत को 'गला दिया' और घूस देकर छुटकारा पा लिया। माहिर अली कोरा सहकारी है और दूसरों के प्रभाव में शीघ्र आ जाता है। स्त्री पात्रों में केवल दो हैं और दोनों शिक्षिता हैं। चंद्रकला एक युवक से प्रथम दर्शन होते ही प्रेम करने लगती है, इतना ही नही प्रत्युत् शवरूप में उसका दूसरा दर्शन करते ही संसार-विरक्त हो जाती है और पिता को छोड़ देती है। मनोरमा बाल-विधवा है और वैधव्य निबाहने का उसका दृढ़ विश्वास है।

स्थानाभाव से नाटक में किसी पात्र का पूर्णरूपेण चित्रण नही हो सका है क्योंकि घटनाचक्र काफी है और सिद्धांतों का तर्क वितर्क भी बहुत है। नारी-समस्या ही इस तर्क वितर्क के मूल में है। इसका कथावस्तु उपन्यास के विशेष अनुकूल है और उसमें 'कयामत' की रात तक रुकने की आवश्यकता भी न पड़ती। स्मशान-विरक्ति प्रसिद्ध है और समय शोक की अमोघ औषधि है। बाद का कुछ हाल न खुलने से चित्र सभी अधूरे रह गए। क़ानून पर कुछ आक्षेप है पर जब अमृत रूपी दुग्ध साँप के मुख में विष हो जाता है तो क़ानून का दोष क्या? उसके बनानेवाले उसकी आड़ में सब कुछ भला बुरा कर सकते हैं। खड्ग से हत्या भी होती है और रक्षा भी।

यह नाटक हत्याकांड, घूसखोरी आदि से भरा है और मनोरंजक है।

'आधीरात' नाटक में केवल दो अंक और कुल चार पात्र हैं। समस्यामूलक होते हुए भी कथावस्तु साधारण है और चरित्र-चित्रण तो एक भी पात्र का पूरा नहीं हो सका है। मायावती तथा राघवशरण प्रधान पात्री तथा पात्र हैं और अन्य दो गौण हैं। इन सभी के चरित्र का विकास अत्यंत साधारण रूप में हुआ है। यह नाटक रंग-मंच के लिए भी उपयुक्त नहीं है। नाटक नाम से वार्तालाप के रूप में लेखक ने कुछ

अच्छे विचारों को प्रकट किया है, जिसके लिए निबंध-लेखन उचित होता।

भाषा पर मिश्रजी का अच्छा अधिकार है पर कहीं-कहीं कुछ बातें खटकती है। 'कॉटा बनेगा उसे फूंक दूँगी' यह विचित्र बात है। कॉटा का कार्य गड़ना है और शरीर ही में गड़ जाने पर कष्ट देता है। ऐसी हालत में उसे फूंक देना महामूर्खता होगी। इसी प्रकार 'बीमारी की जड़ निकाल लूँगा' भी है, अर्थात् न मर्ज रहेगा और न मरीज बचेगा। अलफी कमख्वाब के समान एक प्रकार का कपड़ा होता है, उसे पहिर लेना कैसा? वह चादर, दुशाला, दुपट्टा आदि नही है।

मिश्रजी ने अपने कई नाटको में लबी भूमिकाएँ दी है और उनमें उन नाटकों के विपय मे कम और अपने दृष्टिकोण पर, अपने बुद्धिवाद पर तथा अपनी आलोचना पर प्रत्यालोचना ही अधिक लिखा है। इन सब में आत्म-प्रशंसा भरी हुई है। खैर, वहाँ तक कुछ विशेष हर्ज नही पर साथ ही दूसरों पर, विशिष्ट प्रसिद्ध पुरुषो पर, धूल उड़ाई गई है। 'द्विजेद्रलाल राय से बढ़कर अंतःकरण का अधा साहित्यकार मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं आया।' 'स्त्री और पुरुष के संबंध का आधार जहाँ तक वे (बर्नार्ड शॉ) समझ सके हैं—वासना की क्षुद्र प्रवृत्तियाँ हैं।' इत्यादि कथन मिश्रजी अपनी अहंता के कारण, दूसरों की पगड़ी उतारकर नाम पैदा करने के लिए कह रहे हैं। यशलिप्सा बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, देवताओ तक को वशीभूत कर लेती है। यदि आपकी रचनाएँ ऊँचे उठ जायँगी तो द्विजेद्र बाबू या बर्नार्ड शॉ कुछ भी रहे हों आपका यशकीर्तन अवश्य ही फैलेगा। दूसरे की कीर्ति के ध्वंस पर अपना यशःस्तंभ खड़ा करने का प्रयास निरर्थक तथा उपहासास्पद ही होगा। स्थानाभाव के कारण, शोक है कि विस्तार से मिश्रजी के नाटकों की खूबियाँ नही दिखलाई जा सकी।

जगन्नाथप्रसादजी 'मिलिद' सुकवि है। अब आप विश्वभारती, शांति-निकेतन में अध्यापन का कार्य कर रहे है। आपने प्रताप-प्रतिज्ञा

मिलिदजी

नाटक बहुत पहिले लिखा था पर वह सन् १९२९ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसमें मेवाड़पति महाराणा प्रताप के राज्याभिपेक से उनके अंत तक का वृत्त लेकर नाट्य-कथावस्तु का निर्माण हुआ है। प्रथम अंक में विलासी जगमल चंद्रावत कृष्णजी के अनुरोध पर प्रताप के लिए गद्दी त्याग देता है। उन्ही के कथन पर प्रताप उसे स्वीकार करते हैं। अहेर में प्रताप और शक्त लड जाते हैं और पुरोहितजी का बलिदान लेकर भी शक्त को देश-निर्वासन

की आज्ञा मिलती है। वह कष्ट पाकर प्रतिशोध लेने का निश्चय कर अकबर के दरबार में जाता है। मानसिंह का आतिथ्य होता है और वह क्रुद्ध होकर लौट जाते हैं। द्वितीय अंक में पहिले अकबर की नीति स्पष्ट की जाती है और मेवाड़ पर चढ़ाई की सूचना दी जाती है। प्रताप को समाचार मिलता है और वह भी युद्ध के लिए सन्नद्ध होते हैं। इसी बीच 'नौरोज' में पृथ्वीराज की पत्नी द्वारा अकबर की जो धर्षणा की गई है, उसकी खबर दी जाती है। इसके अनंतर हल्दीघाटी की लड़ाई में चंद्रावत कृष्ण का महाराणा का वेश धरकर मारा जाना और प्रताप का पीछा करनेवाले दो मुगलों को मारकर शक्त का उनकी रक्षा कर दोनों भाई का मिलना दिखलाया गया है। तीसरे अंक में प्रताप का इधर-उधर भागते फिरते अंत में बच्चों के रोने पर अकबर की अधीनता स्वीकार करने को पत्र लिखना, मुगल दरबार में पृथ्वीराज के उसपर शंका करने पर उन्हें पता लगाकर निश्चय करने की आज्ञा मिलना और पृथ्वी-राज का पत्र पाकर तथा सामंतों, भीलों और भामाशाह के अनुरोध पर पुनः युद्ध के लिए प्रताप का तैयार होना वर्णित है। इसी के अनंतर अमरसिंह के विलासी प्रकृति का परिचय देकर प्रताप का अंत दिखलाते नाटक का अंत किया गया है।

इस कथावस्तु में इतिहास की बहुत मोटी-मोटी बातें केवल आई हैं और बाकी कल्पित है, जो स्थिति, देश तथा समय के अनुकूल नहीं हैं। वस्तु-संगठन विशेष शिथिल नहीं है और व्यापार भी यथाशक्ति बहुत कम कर दिया गया है। बहुत सी बातें अभिनेय होते भी सूच्य के अंत-र्गत कर दी गई हैं। महान् और आदर्श वीरों तथा सम्राटों के लिए जो बातें एकदम अस्वाभाविक और उनके उच्चपद के अयोग्य हैं, साधारण नाटकों तथा तमाशों में देखकर नाटककारगण उन्हें अपनी रचनाओं में बिना विचार किए स्थान दे देते हैं। इसमें भी ऐसा किया गया है। जैसे—'करारी तलवार' ताने हुए महाराणा प्रताप का मानसिंह के आगे आ धमकना और उस प्रकार की बातचीत करना।

चरित्र-चित्रण में व्यापार की कमी से कमी आ गई है, तब भी जो कुछ है, अच्छा है। कथोपकथन पात्रों के प्रायः अनुकूल हुआ है। कुमार पृथ्वीराज उर्फ पृथ्वीसिंह का आरंभ में कुछ विचित्र चित्रण हुआ है तथा उसी के अनुकूल बातचीत दिखलाई गई है पर बाद को वह अपने पद के अनुकूल हो जाते हैं। ऐसा हास्य-रस का समावेश करने के लिए किया गया है, पर मजाक कहीं-कहीं गाली की कोटि में चला गया है।

काशी-वासी बेचन शर्मा पांडेय का उपनाम 'उग्र'- है। आपका लाला भगवानदीनजी 'दीन' से विशिष्ट परिचय था और उनके यह शिष्य तथा मित्र दोनो ही थे। आप गल्प तथा उपन्यास दोनों के लेखक हैं और उनमें समाज के नग्न चित्र ही, वह भी दुर्वृत्तिपूर्ण अंश के, अंकित करने में व्यस्त हैं। ऐसी कृतियों में समाज को उठाने का प्रयास नहीं है, केवल शोख रंगों से रंजित चित्र ही चित्र हैं. जिनका प्रदर्शन संयम की बाँध तोड़ देने में अधिक सफल हो सकता है। स्यात्, यह कुछ ऐसा ही ध्येय रखकर किया गया हो, क्योंकि ऐसी रचनाओं का जनसाधारण में प्रचार शीघ्र तथा अधिक होता है। यद्यपि यह चित्रण अधिकतः वास्तविक है पर साहित्य में इस रूप में आने पर कुरुचि पूर्ण हो गया है।

उग्र

गल्प तथा उपन्यासों के सिवा आपने नाटक तथा प्रहसन भी लिखे हैं। महात्मा ईसा नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें अनेक रसों का समावेश है तथा पात्रगण भी कई कोटि के हैं—देवता है, तो राक्षस भी; और देवी हैं, तो राक्षसी भी। इनका चित्रण अत्यंत स्वाभाविक है। भाषा में भी इतनी क्षमता है कि अनेक प्रकार के भाव, विचार, चित्रण आदि को सफलतापूर्वक व्यक्त करती है और वह भी सरल सुगम रूप में। इनकी बातों का श्रोता तथा दर्शक पर प्रभाव भी पड़ता है। इनके 'चार बेचारे' संपादक, अध्यापक, सुधारक तथा प्रचारक की उक्त नामांकित नाटक में खूब खिल्ली उड़ाई गई है। सुधारकजी तथा प्रचारकजी का तो अत्यंत नग्न चित्र दिखलाया गया है। चार छोटे छोटे प्रहसनों का संग्रह है।

आपका 'चुंबन' और उसकी सजधज निराली है। आपका पहिला नाटक है महात्मा ईसा और दूसरा है 'गंभीर' चुंबन। यह लिखा भी कब गया है जब '१४ वर्ष पहिले से मेरा नाटकोय ज्ञान आज—सुभान अल्लाह !—कहीं आगे है।' ठीक है, मुझे भी इसकी कुछ दाद देनी ही पड़ेगी। वस्तु-व्यापार इतना ही है कि लकड़हारा मल्लू, उसकी पत्नी मैना तथा पुत्र विपत बड़े गरीब हैं। महाजन दौलतराम लाखों का लेन-देन करता है और वह उसके पत्नी को राजी कर उड़ा ले जाता है। एक वर्ष बाद वह उसे निकाल देता है क्योंकि वह उसका खजाना अन्य प्रेमी को चोरी से सौंप देती है। मल्लू की 'राजा राम' की सेवा अंत में पाँच सहस्र रुपए उसे दिलाती है पर जिस समय वह पाँच तोड़ा 'कमर में रखकर' निकलता है तो अपनी पत्नी और पुत्र को मंदिर के पीछे मरा

पाता है। वह रुपए नदी में 'एक एक कर' बहा देता है। इसमें वस्तु के सुसंगठन की तथा चरित्र-चित्रण की गुंजाइश ही कहाँ है, केवल गरीबी की मजाक उड़ाई गई है। अस्वाभाविकता नाटक में जगह-जगह भरी है। लाखों का लेन-देन करनेवाला लाठी लिए रुपए उगाहता फिरता है। श्रद्धा या भक्ति की हँसी उड़ाई गई है। भारत मे परिश्रमी मजदूर आठ आने रोज कमाकर भी दो तीन प्राणियों के साथ इज्जत से दिन व्यतीत कर लेते हैं, उनकी इस तरह दुर्दशा दिखलाना सत्य की हत्या करना है। बातचीत में अश्लीलता स्थान-स्थान पर मिलती है। भाषा मे भी उर्दूपन अर्थात् फारसी अरबी के शब्द भरे पड़े हैं। पुस्तक की सजावट व्यर्थ है और भारत के गरीब पाठकों का 'चुंबन' द्वारा धन अपहरण करने का एक ढोंग है।

इनके सिवा उग्रजी ने और भी कई एकांकी नाटक लिखे हैं। उजबक तथा इधर हाल में 'डिक्टेटर' भी आपने लिखा है।

गोविंदवल्लभ पंत

पंतजी ने नाट्यकला तथा अभिनयकला दोनों के ज्ञाता होने के कारण 'वरमाला' नाटक लिखने में विशेष सफलता प्राप्त की है। इसमें मुख्यतः चार पात्र हैं और इनमें भी केवल दो प्रधान हैं। इसका आख्यान मारकंडेय पुराण से लिया गया है और थोड़ा हेरफेर भी किया गया है। इसमें तीन अंक तथा ४+२+३ दृश्य है। इसमें केवल ४ गेय पद हैं और बाकी सब गद्य है। यह नाटक तथा थिएट्रिकल के मेल-सा है। छोटा होते भी व्यापार कम नहीं है और वस्तु का संगठन अच्छा है। चरित्र-चित्रण केवल अवीक्षित तथा वैशालिनी का किया गया है और बहुत अच्छा किया गया है। मूक दृश्य तथा तृतीय अंक के प्रथम दृश्य के उपदृश्यों का समावेश रंगमंच की जानकारी मात्र दिखलाती है पर यह सब अस्वाभाविक प्रतीत होता है। सारा स्वयंवर हो जाय, कन्या-हरण हो, युद्ध और विप्लव हो पर सब मूक, दृश्य के अंतर्गत तीन उपदृश्य आवाज के साथ फटें, बातचीत सब कुछ हो पर निद्राभग न हो यह सब स्वाभाविक नहीं ज्ञात होता। यह सब होते भी नाटक अच्छा बन पड़ा है और अभिनेय भी है। इस नाटक के वक्तव्य में पंत जी के अन्य नाटकों का भी उल्लेख है। आपने 'कंजूस की खोपड़ी' प्रहसन बहुत पहिले लिखा था, जो साधारण रचना है।

'राजमुकुट' मे मेवाड़ की वीरांगना पन्ना धाय का वह कथानक है, जिसमें उसने राणा उदयसिंह की बनबीर से रक्षा करने में अपने एक-मात्र पुत्र को बलि चढ़ा दिया था। इस नाटक का अभिनय भी हो

चुका है। नाटक मनोरंजक है। इसके पश्चात् आपने 'अंगूर की बेटी' नाटक प्रकाशित कराया है, जिसमें तीन अंक तथा पंद्रह दृश्य हैं। इसमें दिखलाया गया है कि शराब से किस प्रकार घर नष्ट होता है और सत्संग से पुनः वह हराभरा हो सकता है। कथावस्तु का गठन अच्छा है और नायक मोहनदास तथा दो एक अन्य पात्र का चरित्र-चित्रण भी अच्छा किया गया है। यह नाटक अभिनेय भी है।

सुदर्शन

आप लाहौर के रहनेवाले है। यह प्रेमचंदजी के समान ही पहिले उर्दू के लेखक थे और बाद को हिंदी-क्षेत्र में चले आए। गल्प-लेखन में यह प्रेमचंदजी के प्रायः समकक्ष ही कहे जायँगे। इन्होने कई मौलिक उपन्यास लिखे हैं तथा अनूदित भी किए हैं। इनका प्रसिद्ध नाटक 'अंजना' सं० १९८० में प्रकाशित हुआ था। यह प्राय पौने दो सौ पृष्ठों का हो गया है, और काट-छाँट-कर अभिनय योग्य वनाया भी जा सकता है। पौराणिक आख्यान को लेकर वर्तमानकाल की रोशनी में लिखा गया है। वस्तु-संगठन-शिथिल है और चरित्र चित्रण भी हुआ है पर दोनों में उपयुक्त सफलता नहीं मिल सकी है। नाटक साधारणत. अच्छा है। इन्होंने एक प्रहसन 'ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट' भी लिखा है, जो सन् १९२७ ई० में प्रथमबार प्रकाशित हुआ है। दो निरक्षर मूर्ख ग्रामीण मक्खीचूस धनिकों को ऑनरेरी मैजिस्ट्रेसी मिलती है और किस प्रकार वे उसे निबाहते हैं, यही बड़े मजाक के साथ इसमें दिखलाया गया है। भाषा प्रहसन के उपयुक्त है। कुछ ऐसे शब्द भी रखे गए हैं, जो साधारण जनता द्वारा विगड़े रूप म प्रचलित है। यह प्रहसन मनोरंजन मात्र-है। आपने एकांकी चंद्रगुप्त भी लिखा है।

कौशिकजी

पं० विश्वभरनाथजी कौशिक कानपुर के रहनेवाले हैं। आपने कई उपन्यास तथा बहुत सी गल्पे लिखी हैं। आपने भीष्म नाटक भी लिखा है, जो कई बार खेला जा चुका है। महाभारत के सुप्रसिद्ध वीराग्रगण्य भीष्म पितामह के चरित्र को लेकर इस नाटक की रचना की गई है। इसमें तीन अंक और अट्ठाईस दृश्य है। वस्तुसंगठन और चरित्र-चित्रण अच्छा है। कथोपकथन में स्वगत भी है पर अधिक नहीं है और काफी कविताएँ दीं गई हैं। परिहास का भी अच्छा पुट दिया गया है। प्रसिद्ध वीरों का मंच पर गाना स्वाभाविक नहीं ज्ञात होता। यह सब होते भी नाटक अच्छा है।

आप ब्रजवासी चतुर्वेदी हैं और कर्मवीर के संपादक हैं। आप 'भारतीय आत्मा' उपनाम से कविता करते हैं। आपने 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक लिखा है, जिसका अभिनय भी हो चुका है। आप मध्यप्रदेश के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं।

माखनलाल

इनका देश-प्रेम इनकी रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता रहता है। सांसारिक जीवन की अनुभूति भी इनकी बढ़ी-चढ़ी है। नाटक का कथानक इस प्रकार है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मित्र चित्रसेन के वध करने की प्रतिज्ञा की और अर्जुन ने चित्रसेन को उसकी रक्षा का वचन बिना उक्त प्रतिज्ञा जाने ही दे दिया। भगवान तथा भक्त में इस कारण घोर युद्ध हुआ और अर्जुन श्रीकृष्ण द्वारा आहत होकर युद्धभूमि मे गिर पड़ा। अर्जुन स्वभावतः अचेतनता में श्रीकृष्ण ही को सहायतार्थ पुकारता है और वे भी उसे अपनी गोद में उठा लेते हैं। यह स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हो उठा है। कहीं-कहीं कुछ अस्वाभाविकता आई है पर नाटक तब भी अच्छा बन पड़ा है।

पंतजी वर्तमान-काल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। आपने इधर एक नाटक ज्योत्स्ना लिखा है, जिस शब्द का अर्थ हिंदी में न लिखकर अंग्रेजी में 'मूनशाइन' बतलाया गया है। यह पाँच हिस्सों में बँटा है, जिसका एक हिस्सा आधे के बराबर

सुमित्रानंदन पंत

है। यद्यपि इसका नाम नाटक है और कथोपकथन से भरा भी है पर इसमें रचयिता नाटककार के रूप में नहीं प्रत्युत् कवि के रूप ही में आया है। इसके सभी पात्रगण कवि की भावना-मात्र से मूर्त हो उठे हैं। संध्या होते ही चंद्र की किरणें पृथ्वी पर आती हैं और चंद्रिका खिल उठती है तथा पवन सुरभित हो चलने लगता है। पक्षीगण अपने नीड़ों में पहुँच जाते हैं और निद्रा मे कल्पना स्वप्न दिखलाती है। उषाकाल का समय आता है, चंद्रिका दूर होती है, कोक-कोकी मिलते है और अनेक प्रकार की पुष्प-कलियाँ चिटकने लगती है। यही इस भावमय नाटक का कथावस्तु है और कवि ने इसे अपनी सुकुमार कल्पना तथा मधुर कवि-कौशल से इतने सुचारु रूप से रूपक में ढाल दिया है कि पढ़ते ही बनता है। हाँ, यह श्रव्य या दृश्य न होकर केवल पाठ्य रह गया है। कथोपकथन में आपने वर्तमानकाल के समाज में प्रचलित अनेक वाद-विवाद, सुधार आदि पर भी कुछ लिखा है पर वह सब गौण रूप ही में आया है।

श्रीवास्तवजी का जन्म अप्रैल सन् १८९१ ई० में श्रीवास्तव कायस्थ कुल मे हुआ है। आप गोंडा के वकील हैं। आपने हिंदी-साहित्य मे व्यंग्य

भँड़ौआ, प्रहसन आदि हास्य-रस की रचनाओं की कमी देखकर इस अभाव की पूर्ति का बीड़ा उठा लिया है और अपने 'हास्यरस-सम्राट्' अल्ल को पूर्णतया चरितार्थ करने के लिए हास्य-रस की मटकी को भरने में दत्तचित्त हो गए। ये लिखते हैं कि 'अपने परम पूजनीय गुरू मोलियर के सब नाटकों को अपनाकर हिंदुस्तानी बना डालूँ और यों मोलियर को हिंदुस्तान में भी जीवित करके उनके नाम की धूम मचा दूँ।' जीन बैपटिस्ट पोकेलिन का नाटकीय नाम मोलियर था, जिसका सन् १६२२ ई० में जन्म तथा सन् १६७३ ई० में मृत्यु हुई। यह फ्रेंच साहित्य में व्यंग्य, परिहासमय आक्षेप तथा हास्य-युक्त सामाजिक रचनाओं में अद्वितीय हो गया है। इसने केवल नाटक ही नाटक लिखे है। यह सफल अभिनेता भी था। ऐसे तीन सौ वर्ष से अधिक वयःप्राप्त मोलियर को उसकी रचनाओ ही द्वारा गुरु बनाकर श्रीवास्तव जी हिंदी-साहित्य में भी अपने को अद्वितीय, अपने ही क्षेत्र में, बनाने का सफल प्रयास कर रहे हैं। आप मोलियर के नाटकों को 'हिंदुस्तानी बनाकर' लाए है और इस कार्य में यदि कमी है तो उसका कारण यह है कि 'जितने समय मे मैं दो स्वतंत्र नाटक लिख सकता हूँ उतना समय मेरा इनके केवल एक नाटक के अपनाने में लग जाता है।' इस प्रकार अब तक इन्होंने मोलियर के दस-बारह नाटकों को अपनाकर, संस्कार कर, हिंदुस्तानी बना लिया है और बाकी का भी उद्धार करने में लगे हैं। ये स्वतंत्र अनुवाद मात्र है और ये अनुवाद कैसे हुए हैं, इसपर मूल से मिलाकर ही राय दी जा सकती है। उस पर ये अनुवाद ही के अनुवाद हैं— फ्रेंच से अंग्रेजी बनकर हिंदुस्तानी बने हैं।

जी०पी० श्रीवास्तव

उक्त अनुवादों को देखने से आज से तीन शताब्दि पहिले के फ्रेंच-समाज का बड़ा अच्छा सजीव चित्र पाठको के सम्मुख आ जाता है और वह अनेक दृष्टि से दर्शनीय हो उठता है। उसे देखने से चित्त प्रसन्न होता है, हँसी आती है और समाज के अनेक, उच्च और नीच, दृश्य आँखो के आगे प्रत्यक्ष से आ जाते है। इन अनुवादों से मूल नाटकों के वस्तुसगठन के सफल प्रयास, कथोपकथन तथा चरित्र-चित्रण में परिहास का उचित मिश्रण तथा इन सबका दर्शकों पर उपयुक्त प्रभाव सभी परिलक्षित होते है।

श्रीवास्तवजी ने अनुवादों के साथ-साथ प्रायः एक दर्जन से अधिक छोटे-बड़े मौलिक नाटक भी लिखे है, जिनमे साहित्य का सपूत, मरदानी औरत, गड़बड़झाला, जैसी करनी वैसी भरनी, भूलचूक, दुमदार

आदमी, नोकझोंक, उलटफेर आदि विशेष चलते हैं। आपको अपने पात्रों का नामकरण-संस्कार करने में बड़ी सफलता मिली है। धोतीप्रसाद, निपोड़संख, हजामतबेग आदि साधारण नमूने हैं। परंतु इस नामकरण में उतनी भी बुद्धि का उपयोग नहीं ज्ञात होता जितना भँड़ैती के नामो मियाँ लेटरबक्स, शेख हैंडबेग आदि में है। आप शोक प्रकट करते हैं कि 'हम प्रहसन-कला पर जरा भी ध्यान नही देते। अगर हमलोग खाली भँड़ैती से संतुष्ट न हों, बल्कि प्रहसन में उसके और गुणों के देखने की इच्छा रखें, गंभीर और हास्य नाटकों को एक ही आदर की दृष्टि से देखने लगें तो जरूर है कि' साहित्यिक लोग भी इधर दृष्टि दें और सुरुचिपूर्ण अच्छे प्रहसन आदि लिखे जायँ पर क्या किया जाय 'अभावे शालि चूर्ण वा'; तब तक श्रीवास्तवजी के ऐसे ही नाटकों से काम चलाया जायगा।

श्रीवास्तवजी ने अपनी भाषा को स्वयं हिंदुस्तानी लिखा है, हिंदी नही। पर-दासता-प्रिय हिंदुओं ही में कुछ ऐसे लोग हैं, विशेप जाति के या प्रांत-निवासी, जो हिंदू होते भी अपनी मातृभाषा को हिंदी बतलाने में क्यों हिचकते हैं, नही कहा जा सकता। स्यात् ग्रामीण भाषा समझ कर उसको ऐसा कहते हुए झेंपते हों। सभ्य अंग्रेजी को मातृ-भाषा कह नही सकते क्योंकि प्रत्यक्ष झूठ होगा, पर समय आ रहा है जब कि ऐसा भी कुछ कह बैठेंगे। श्रीवास्तवजी ने फारसी, अरबी शब्दों की अधिक भरमार किया है, जिससे इनकी भाषा हिंदी न होकर हिंदुस्तानी हो गई है। शब्द-योजना तथा वाक्य-विन्यास फारसी का नहीं हो गया है, नहीं तो नागरी लिपि मे उर्दू ही हो जाती। फारसी के वैसे शब्द जो ठीक हिंदी के रूप से मिलते हुए भिन्न अर्थ रखते है, बड़ी गड़बड़ी मचा देते हैं। यदि वह फारसी के अर्थ में प्रयुक्त हैं और पढ़नेवाला हिंदी ही अर्थ जानता है तब या तो अर्थ की परवाह न कर आगे बढ़ जायगा या छापे की भूल समझ लेगा। जैसे एक शब्द 'एकता' लीजिए। हिंदी में इसका ऐक्य, मेल अर्थ है और फारसी मे (यकता) अकेला, अद्वितीय अर्थ है। 'नलिनी सौंदर्य मे एकता है', इस वाक्य के हिंदी लिपि मे होने से यदि कोई हिंदी का अर्थ लगाकर समझना चाहे तो क्या समझेगा ?

आर० पी० ड्यूहर्स्ट नामक हिंदी-प्रेमी सज्जन की राय से, जो अवध प्रांत में बहुत दिनों तक डिस्ट्रिक्ट जज रहे हैं, श्रीवास्तवजी ने उलटफेर नामक एक नाटक लिखा है। यह भाषा तथा नाट्य-कला दोनों दृष्टि से अच्छा बना है। नाटक का नाम तथा पात्रों के नाम भी सार्थक हैं और

उनसे वाहियातपन भी नहीं झलकता। आरंभ में गान तथा प्रस्तावना भी इसमें दी गई है और नाटक की व्यापार-शृंखला भी अच्छी प्रकार निभाई गई है। वर्तमान न्यायालय के अनेक दृश्य और अन्य चुने हुए दृश्य खूबी से दिखलाए गए हैं। दिहाती मुवक्किलों के अवधी भाषा की बोलचाल का काफी उपयोग उक्त अंग्रेज सज्जन की राय से किया गया है। लालचंद का चरित्र-चित्रण भी अच्छा ही हुआ है, जो इस नाटक का प्रधान पात्र कहा जा सकता है। इस नाटक मे परिहास भी अन्य नाटकों से अधिक शिष्ट है।

नव रस में शृंगार तथा करुण के बाद हास्य ही का स्थान है और साहित्य का यह प्रमुख अंग है। ऐसी अवस्था में नाटकों मे, जो अधिकतर मनोरंजन की सामग्री हैं, इसका समावेश अत्यंत आवश्यक है। प्राचीन संस्कृत नाटको में विदूषक ही को यह कार्य सौंपा जाता था और वर्तमान-काल के नाटकों में भी इनका एकदम अभाव नहीं है पर अब विदूपक के सिवा अनेक नए आलंबन भी इस रस के लिए प्रस्तुत हो गए है, जिनका उचित उपयोग अभी तक नहीं किया गया है। इसके लिए केवल कोरी विद्वत्ता ही से काम नहीं चल सकता प्रत्युत् लेखक की कुछ वैसी विशेष चित्तवृत्ति भी होनी चाहिए, जो स्वयं हँस सकता हो और दूसरों को हँसा भी सकता हो तथा समय और अवस्था के अनुकूल ही परिहास करने की उसमें प्रवृत्ति हो। बेमौके की हँसी झगड़े का घर बन जाती है। परिहास के भी भेद हो सकते है। साधारण अशिक्षित जनता जिस परिहास पर 'हो-हो' कर पड़ती है, वह शिष्ट-समाज को अश्लील तथा कर्णकटु ज्ञात होगा और वे हँसना तो दूर उससे अप्रसन्न ही हो जायँगे। इसके विपरीत शिष्ट-समाज जिस परिहास को सुनकर आनद मग्न हो जायगा उसे अशिक्षित और असंस्कृत जनता समझ भी न सकेगी। अंतिम प्रकार के परिहास का, विनोदात्मक उक्तियों का, श्रीवास्तवजी मे एकदम अभाव है और प्रथम प्रकार का परिहास उनमें लबालब भरा है। हो सकता है कि उनकी चित्तवृत्ति द्वितीय तक न उठ पाती हो या वह अपनी रचनाओं को अधिक जन-प्रिय करने के लिए ऐसा ही लिखते हो। आपने अपने प्रत्येक नाटक मे नाटक कंपनियों तथा सिनेमा-कंपनियों को लेखक से अधिकार प्राप्त कर उन्हें खेलने का आदेश दिया है, इससे यही स्पष्ट है कि ये जनता को हँसाने के लिए ही लिखे गए हैं। अतः ये प्राय. सभी प्रथम कोटि के ही हैं। एक बात और है। इन्होंने अपनी रचनाओं को कुछ न कुछ उद्देश्य लेकर ही लिखा है पर

प्रायः अधिकांश में उसकी पूर्ति नहीं हो सकी है। सुनकर या देखकर लोग हँस देंगे पर उसका कुछ स्थायी प्रभाव उनके हृदयों पर न होगा। इसके लिए विशेष क्षमता की आवश्यकता है। यह सब होते भी श्रीवास्तवजी का ध्येय उत्तम है और उसकी यथाशक्ति इन्होंने पूर्ति भी की है। साहित्य में सभी कोटि की कृतियाँ रहनी चाहिएँ और जन-साधारण को छोड़कर केवल शिष्ट-समाज ही के लिए सुरक्षित नही रहनी चाहिएँ। अतः ऐसा साहित्य भी संग्रहणीय और आदरणीय है। क्या ही अच्छा होता कि यदि श्रीवास्तवजी अपनी सशक्त परिहासोन्मुख लेखनी से उच्च कोटि के भी प्रहसन लिखते।

आपने सिनेमा के लिए बंटाधार तथा 'चोर के घर छिछोर' नाटक लिखा है तथा लोक-परलोक लिख रहे हैं। रेडियो के लिए भी 'गया जायँ कि मक्का' तथा 'पैदाइशी मैजिस्ट्रेट' लिखा है।

आपका जन्म सं० १९५३ में हुआ है। आप ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के सुकवि हैं और ब्रजभूमि तथा ब्रजराज श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त है। आपकी 'वीर सतसई' भारतीय वीरों की प्रशस्तियों का संग्रह है, जिसपर आपको साहित्य-सम्मेलन से मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। आपका अंतर्नाद भी उल्लेखनीय गद्य-काव्य है। हरिजी की विनयपत्रिका पर विशद टीका बहुत अच्छी बन पड़ी है और उससे इनकी विद्वत्ता तथा साहित्य-मर्मज्ञता पूर्ण-रूपेण प्रकट होती है। आपने 'प्रबुद्ध यामुन' एक नाटक लिखा है, जो सभी दृष्टि से बहुत ही अच्छा बना है। सुप्रसिद्ध मतप्रवर्तक रामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य अलवंदार की जीवनी ही इस नाटक का कथा-वस्तु है। नांदी तथा प्रस्तावना के अनंतर नाटक आरंभ होता है। इसमें पाँच अंक हैं और क्रमशः ५. ५, ६, ५ तथा ४ दृश्य हैं। मथुरानरेश वीरसेन की राजसभा मे दिग्विजयी विद्वान कोलाहल पंडित को बड़ी धाक थी और वह अन्य विद्वानों से 'पंडित-कर' लेने लगा था। यामुनाचार्य के गुरु से जब यह कर माँगा गया तब इस बाल-विद्वान ने कोलाहल को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। राजमहिषी भी इस कोलाहल से क्षुब्ध थीं, अतः उन्होंने इस शास्त्रार्थ में विशेष रुचि दिखलाई। कोलाहल ने यामुनाचार्य के गुरु का आश्रम भस्म करने की आज्ञा दे दी थी और उसके साले ने रानी की एक सखी को अपने भवन में बंद कर लिया था पर राजा की आज्ञा से आश्रम भस्म नहीं हो सका और रानी की आज्ञा से उनकी सखी भी सैनिकों द्वारा छुड़ा लाई गई। शास्त्रार्थ

वियोगी हरि

में कोलाहल परास्त हो जाता है और निस्संतान राजा-रानी यामुन को युवराज बना लेते हैं। इनका विवाह होता है और यह अच्छी प्रकार राजकार्य चलाते है। यामुनाचार्य की वन में भक्ति से भेंट होती है और वह उन्हें उपदेश करती है, जिससे उनमें संसार से विरक्ति उत्पन्न होती है। युवराज अपनी राजमाता को भक्तिमार्ग का उपदेश देते हैं। श्रीरंग-नाथजी के प्रधानाचार्य वृद्ध श्रीराम मिश्र यामुनाचार्य से मिलने आते हैं और इन्हें लिवाकर श्रीरंगपत्तन चले जाते हैं। वहीं यामुनाचार्य को श्रीरंगजी की उपासना का मार्ग बतलाकर और आचार्य पद देकर स्वयं अंतर्हित हो जाते हैं। राजमाता तथा पत्नी सौदामिनी यामुनाचार्य के विरह में संसार-विरक्त हो वन-वन घूमती श्रीरंग चली आती है। यामुनाचार्य उन्हें वन से मंदिर में लिवा लाते है और भगवान के सामने स्तुति करते हैं। अत में भरतवाक्य से नाटक की समाप्ति होती है।

इस नाटक में पात्रों की काफी संख्या है पर मुख्य पात्र अधिक नहीं हैं। यामुनाचार्य ही नायक हैं अतः सौदामिनी नायिका है। कोलाहल जी प्रतिनायक कहलाएँगे। इनके बाद राजा वीरसेन, रानी मंजुभाषिणी, राम मिश्र, सावित्री, मल्लिनाथ आदि विशिष्ट पात्र है, बचे हुए साधारण हैं। चरित्रों के चित्रण में हरि जी ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। यामुनाचार्य का बाल-ब्रह्मचारी रूप में पाठशाला में, शास्त्रार्थ करते हुए राज-सभा में और युवराज होकर राजकार्य में तथा श्रीरंग के प्रधान आचार्य होने पर भी सर्वत्र विनम्र स्वभाव दिखलाया गया है। माता पिता तथा पत्नी और मित्रों से प्रेम और स्नेह सभी दशा में एकरस निबाहना अच्छे ढंग से प्रदर्शित हुआ है। इनसे जो एक बार भी परिचित हो गया वह फिर कभी इनके विरुद्ध नहीं हो सका। सौदामिनी का प्रेम भी पतिव्रता पत्नी के उपयुक्त सदा बना रहा। संसार-विरक्त पति की भी इच्छा उसके लिए सर्वमान्य रही। राजा तथा रानी का अपत्य-स्नेह भी एक-सा अंत तक बना रहा। मल्लिनाथ सहपाठी होते भी हँसोड़ है और प्राचीन शैली के पेटू ब्राह्मण विदूषक का कार्य पूरा करता हुआ भी निरक्षर मूर्ख नहीं है। इसका परिहास अन्य कथोपकथन के साथ साथ चलता रहता है, अलग से केवल हँसाने मात्र के लिए चिपकाया सा नहीं ज्ञात होता है। कोलाहल जी की शठता दिखला कर उनको गिराना अधिक उपदेशमय हुआ है। इस प्रकार देखा जाता है कि चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है।

वस्तुसंगठन भी कहीं से शिथिल नहीं हुआ है और बराबर ध्येय

की ओर विकसित होता चला गया है। कथा की शृंखला मिलाने को कई दृश्य रखे गए है, जो प्रवेशक आदि के स्थानीय हैं। कथोपकथन पात्रों के अनुकूल है और उनके विचारों तथा स्थितियों के अनुसार है। भाषा, गद्य में शुद्ध खड़ी बोली हिंदी तथा पद्य में ब्रजभाषा है। सरलता की ओर दृष्टि अधिक है और यही कारण है कि गहन विषय के वार्तालाप में भी भाषा क्लिष्ट नहीं होने पाई है। हरिजी सुकवि हैं और यही कारण है कि जो पद आए हैं, वे सभी अत्यंत सरस तथा मधुर हैं। उदाहरण के लिए देखिए—नीलाचल वन्य प्रांत की शोभा कितनी अनोखी है. कहते हैं—

निर्जन वन अति सघन घिरी घन पर्वतमाला।
नभ-चुबी चहुँ शृंगकोट कगूर बिसाला॥
कलकल निर्झर झरत सिमटि नद होत सुहावन।
कूजत करत कलोल विहँग जहँ तहँ मन भावन॥

इस प्राकृतिक दृश्य का भक्त-हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता है, सो सुनिए—

ऐसो कछु मन होय बैठि इत हरि-गुन गाउँ।
राजपाट सब छाँडि सहज श्रीपति-पद ध्याऊँ॥

जब्बलपुर के राजा गोकुलदास के पौत्र प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता सेठ गोबिंददासजी हिंदी के प्रेमी, साहित्यमर्मज्ञ तथा कुशल साहित्यकार हैं।

गोबिंददास

आपको देशसेवा के उपलक्ष में कई बार जेलखाने की हवा खानी पड़ी है और उस एकांतवास का समय आपने साहित्य-रचना ही में लगा दिया है। इन्होंने बहुत से नाटक लिखे हैं, जिनमें कर्तव्य, प्रकाश, हर्ष, स्पर्धा आदि प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम तीन की भूमिका के रूप में आपने नाट्यकला पर एक निबंध लिखा है, जो नाट्यकला-मीमांसा नाम से अलग पुस्तकाकार भी छपा है। इसमें प्राचीन तथा वर्तमान और पाश्चात्य तथा एतद्देशीय नाट्यकला पर संक्षेप में विचार किया गया है। इस पुस्तिका की भूमिका से ज्ञात होता है कि आपने 'विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में प्रकाशित नाटक तथा नाट्य-कला विषयक साहित्य के अतिरिक्त पाश्चात्य देशों के फ्रांस, इटली, इंगलैंड, ग्रीस, रोम, जर्मनी आदि के श्रेष्ठ नाटककारों के नाट्यकला पर विभिन्न मतों का अनुशीलन' किया है अतः आपके नाटकों से हिंदी साहित्य को विशेष आशा है।

नाटककार के लेखानुसार सन् १९३० को १६ जनवरी से २१

जनवरी तक छः दिनों में 'कर्तव्य' और २५ जून से ४ जुलाई सन् १९३० ई० तक दस दिनों में 'प्रकाश' समाप्त हुआ था। 'हर्ष' प्रायः इसी समय लिखा गया था। ये तीनों नाटक उक्त भूमिका सहित एकत्र एक साथ प्रकाशित हुए थे। प्रथम पौराणिक, द्वितीय 'सोशो-पोलिटिकल' (समाज-राजनीति युक्त) और तृतीय ऐतिहासिक है। आपने अपने नाटकों के वाह्यरूप में कुछ परिवर्तन किया है। प्रत्येक दृश्य के आरंभ में स्थान का उल्लेख करने के बाद समय का भी उल्लेख है और उसके बाद कहीं-कहीं दो दो पृष्ठों मे कमरे, पात्र आदि का रग रूप, वस्त्र, व्यवस्था आदि का विवरण दिया है। बीच-बीच में भी इसी प्रकार के वर्णनात्मक अश बहुत से दिए गए है। इनकी स्यात् आपने विशेष आवश्यकता समझी हो पर हैं व्यर्थ ही से।

'कर्तव्य' दो भागो में विभक्त है, प्रथम में श्री रामचद्र का तथा द्वितीय मे श्री कृष्णचंद्र का चरित्र वर्णित है। वनगमन से लेकर समग्र अयोध्यावासियों सहित श्रीराम के स्वर्गारोहण तक का कुल वृत्त पूर्वार्द्ध में आ गया है और इसमें पाँच अंक तथा २५ दृश्य है। प्रथम मे वनवास, द्वितीय में सीताहरण और वालि-वध, तृतीय में लंका-विजय, चतुर्थ में अपवाद के कारण सीता-त्याग तथा शंबूकवध और पंचम मे कुश-लव-मिलन, सीता, रामचंद्र आदि का अंत दिखलाया है। इतना सब व्यापार अत्यंत सुशृंखलित पर संक्षिप्त रूप मे वर्णित है, कथोपकथन भी उपयुक्त हुआ है और चरित्र-चित्रण भी अच्छा ही कहा जायगा। रसों मे प्रधान वीर है पर करुणा तथा शृंगार का भी कुछ पुट है। उत्तरार्द्ध मे पाँच अक तथा २३ दृश्य है। प्रथम मे कर्तव्य के लिए ब्रज छोड़कर कृष्ण का मथुरा आना, द्वितीय मे उद्धव का ब्रज आकर लौटना तथा कृष्ण का मथुरा से द्वारिका जाना, तृतीय में रुक्मिणी-परिणय, सुभद्रा-हरण और भौमासुर की वंदिनी बालाओं से विवाह, चतुर्थ मे महाभारत युद्ध की समाप्ति की सूचना तथा पचम मे राधा-कृष्ण और यादवों का अंत दिखलाया है। कृष्णचरित्र मे अधिक व्यापार है और इस छोटे से रूपक मे यत्र-तत्र के दृश्य लाकर वस्तु-संगठन का प्रयास किया गया है पर प्रयास बिलकुल असफल रहा है। कथोपकथन मे दम नही है और चरित्र चित्रण नहीं सा है। ये दोनों रूपक अलौकिक चरित्रों को लौकिक रूप देने के विचार ही से लिखे गये है पर इनमे नाटककार सफल नहीं हो सका है।

प्रकाश नाटक काफी बड़ा है। इसके पढ़ने से पहिले यही ज्ञात होता

है कि किसी उपन्यास को नाटक का रूप दे दिया गया है। वर्णनात्मक अंश कोष्ठकों में बद कर दिए गए हैं और कथोपकथन अलग कर प्रकरणों को दृश्यों में परिवर्तित कर दिया गया है। कथावस्तु इस प्रकार है—राजा अजयसिंह को दो रानियाँ थीं। एक को गर्भवती देखकर वह उसे किसी शंका के कारण निकाल देता है। इस घटना के प्रायः बीस वर्ष बाद नाटक का आरंभ होता है। राजा साहब गवर्नर को पार्टी देते हैं, जिसमें अमीरों के लिए अलग रक्षित स्थान था। इसीमें नाटक का प्रधान पात्र प्रकाशचंद्र आता है और यह भेद देख कर पार्टी में व्याख्यान देता है, जिससे साधारण कोटिवाले उस पार्टी से असहयोग कर चल देते हैं। भगवानदास और लक्ष्मी पुरानी चाल के धनी दंपति हैं, जिनके पुत्र दामोदरदास और पुत्री मनोरमा हैं तथा पुत्रवधू रुक्मिणी है। ये तीनों नव्य प्रकाश के सुशिक्षित जीव हैं। दामोदरदास माता-पिता को नई सभ्यता सिखलाते हैं; पर बूढ़ा तोता राम राम। अजयसिंह भगवानदास के ऋणी हैं। रुक्मिणी अजयसिंह की रानी कल्याणी से मिलने जाती है और अनर्गल क्रोध प्रकाश कर लौटती है। दामोदरदास को उभाड़कर उसके द्वारा भगवानदास को वाध्य करती है कि अजयसिंह से क्षमापत्र ले आवें। ऋण न दे सकने के कारण वह क्षमापत्र लिख देते हैं। नेस्टफील्ड एक ईसाई बैरिस्टर है, जो अजयसिंह को धोखा देकर खूब रुपए वसूल करता है और उसकी पुत्री थेरीजा तथा दामोदरदास में प्रेम-षड्यंत्र चलता है। एक दिन रुक्मिणी यह देख पाती है और पति से क्रुद्ध हो जाती है। इधर प्रकाशचंद्र व्याख्यान पर व्याख्यान देता है, दामोदरदास के स्वार्थपूर्ण प्रस्तावों का विरोध करता है और जनता मे इस कारण उसका बहुत मान हो जाता है। मनोरमा प्रकाशचंद्र का पक्ष लेती है और अंत में उस पर उसका प्रेम हो जाता है। प्रकाश की माता तारा का पुत्र पर आदर्श स्नेह है और यही अजयसिंह की त्यक्ता पत्नी इंदु है तथा प्रकाश उन्हीं का पुत्र है। इंदु यह वृत्त कल्याणी से कहकर कहीं चल देती है। दामोदरदास के वाध्य करने पर अजयसिंह प्रकाश के विरुद्ध दरख्वास्त देकर उसे गिरफ्तार कराते हैं और उसी समय उन्हे प्रकाश के स्वपुत्र होने की सूचना कल्याणी से मिलती है। मनोरमा भी आकर उसपर अपना प्रेम प्रकट करती है तथा नाटक प्रकाश के पकड़े जाने पर समाप्त होता है।

वस्तु का निर्माण अच्छा हुआ है, कहीं विशृंखलित नहीं हुआ है। कई पात्र तथा पात्रियों का चरित्र-चित्रण भी सुंदर हुआ है। कथोपकथन

में वर्तमान राजनीति पर बहुत कुछ कहा गया है और भाषा भी सुमार्जित होते हुए शिक्षित वर्ग में प्रचलित अंग्रेजी शब्दों से संयुक्त है। पद्य का प्रायः नाम भी नही है। रस में शृंगार तथा वीर का समावेश है। इस नाटक के आरंभ तथा अंत में उपक्रम और उपसंहार छोटे-छोटे दृश्यों मे दिए गए हैं। उपक्रम में एक वृद्ध की चीनी बर्तनों की दूकान है, जिसमें साँड़ घुसता है और वह रक्षा के लिए चिल्लाता है तथा उपसंहार में वही दूकान है और बर्तनों को नष्ट करने पर साँड़ पकड़ा जाता है। ज्ञात होता है कि प्रधान पात्र प्रकाश ही की साँड़ से तुलना की गई है। यह नाट्यकला में एक नई उपज है।

सेठ जी के 'हर्ष' का ऐतिहासिक वृत्त वहाँ से आरंभ होता है, जहाँ पर प्रसादजी के राज्यश्री नाटक के प्रथम संस्करण की समाप्ति है। राज्यवर्द्धन के मारे जाने पर हर्षवर्द्धन राज्यगद्दी पर बैठना पहिले नहीं स्वीकार करता पर बाद को कर्तव्य समझकर स्वीकार करता है। सेनापति भंडि को शशांक पर चढ़ाई करने भेजकर स्वयं राज्यश्री को खोजने निकलता है। चितारोहण को तैयार राज्यश्री को विंध्य पर्वत में पाकर उसे लिवा लाता है। इधर शशांक हर्ष की अधीनता स्वीकार कर लेता है। हर्ष राज्यश्री को कन्नौज की राजगद्दी पर बैठाता है और स्थाणीश्वर राज्य को उसके अधीन कर स्वयं मांडलिक बनता है। ये भाई-बहिन साम्राज्य स्थापित करते है, जिसमें समग्र उत्तरापथ सम्मिलित होता है। हर्ष का बाल्य सहचर परम मित्र माधवगुप्त सभी कार्य में उसकी सहायता करता है पर उसका पुत्र आदित्यसेन उसके विरुद्ध है। वह वर्द्धन-राजवंश को हटाकर गुप्त-साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखता है और पिता से बिगड़कर शशांक के पास जाता है। दक्षिण-सम्राट् पुलिकेशिन से हर्ष के पराजित होने का समाचार सुनकर शशांक प्रायः बीस पचीस वर्ष तक अधीन रहने पर स्वतंत्र होने का अवसर पाता है। इसी समय चीनी यात्री सुएनच्वाग भारत आता है और हर्ष से मिलता है। हर्ष प्रयाग में यज्ञ का प्रबंध करता है, जिसमें राजकोष में संचित सर्वस्व संपत्ति दान करने की योजना थी। यह प्रति पाँचवे वर्ष होना निश्चित भी किया गया था। इसी अवसर पर शशांक तथा आदित्यसेन ने हर्ष को मारने का षड्यंत्र रचा पर माधवगुप्त तथा भंडि ठीक अवसर पर षड्यंत्रकारियों को कैद कर लेते हैं और नाटक समाप्त होता है।

कथावस्तु सुगठित है और व्यापार-शृंखला भी कहीं अस्त-व्यस्त नहीं है। कथोपकथन सरल सुगम भाषा में होते हुए भी पात्रों के उपयुक्त ही है।

पात्रों के भाव, विचार आदि सुस्पष्ट हैं। चरित्र-चित्रण तीन चार पात्र-पात्रियों के अच्छे हुए हैं। वीर-रस ही मुख्य रस है। प्रसादजी के नाटकों के समान ही तत्कालीन इतिहास के अनुरूप ही विवरण दिए गए हैं पर उतनी गंभीरता नहीं लादी गई है। नाटक सिनेमा की आवश्यकताओं के अनुसार लिखा गया ज्ञात होता है।

'कुलीनता' में कलचुरि राजवंश के अंतिम नरेश विजयदेव द्वारा तिरस्कृत यदुराय इस नाटक का मुख्य पात्र है। यह 'अकुलीन' गोंड पात्र इस तिरस्कार के कारण 'कुलीनता' के पीछे पड़ता है और कुलीनता का आचार्य सुरभी पाठक अपने कुलीन राजा का त्याग कर इस अकुलीन की सहायता करता है। गढ़ा के राजगोंड़ वंश का संस्थापक यदुराय अपने को क्षत्रिय मानता था और यद्यपि अंतिम गोंडनरेश की पुत्री रत्नावली से उसका विवाह हुआ था पर उसका वंश क्षत्रिय कन्या ही से चला था किंतु इस नाटक में उसे गोंड़ माना गया है। यह क्षत्रिय-कन्या विजयदेव की पुत्री मानी गई, जो उससे प्रेम करने लग गई और अपने पिता द्वारा निकाल दिए जाने पर भी उससे प्रेम करती रही। त्रिपुरी पर मुसल्मानी आक्रमण से उसकी रक्षा या उद्धार करने के लिए यदुराय चढ़ाई करता है और शत्रुओं को परास्त कर उस राज्य पर अधिकार कर लेता है। अंत में विजयदेव अपनी कुलीन राजपुत्री तथा अपना राज्य अकुलीन को समर्पित कर रेवा में आत्मसमर्पण करता है।

ऐतिहासिक इतिवृत्त का अर्थ नाटककार ने अपने मत के अनुसार किया है और कुलीनता पर अकुलीनता की विजय दिखलाई है। यह समयानुकूल ही है और भारत में यह अब प्रतिदिन देखा ही जाता है। भाषा, मनोरंजकता आदि की दृष्टि से नाटक अच्छा है और नवीनता तो इनके सभी नाटकों में है।

सेठ जी ने बहुत से एकांकी नाटक भी लिखे हैं और इन नाटकों के दो संग्रह 'सप्त रश्मि' तथा 'पंच भूत' के नाम से प्रकाशित भी हो चुके हैं।

पं० उदयशंकर भट्ट पंजाब के निवासी हैं। आपने तक्षशिला, राका, मानसी आदि कई काव्य लिखे हैं तथा कई अन्य ग्रंथों का सटीक संपादन भी किया है। आपने इधर दो पौराणिक नाटक लिखे हैं, मत्स्यगंधा और सगर-विजय। प्रथम छोटी-सी नाटिका है, जिसमें मत्स्यगंधा का पराशर ऋषि से समागम और अमर यौवन के वरदान की प्राप्ति होती है। जब वह विधवा होती है तब चंचल यौवनकाल के वरदान को अभिशाप रूप में देखती है। सगर-

उदयशंकर

विजय में अयोध्यानरेश बाहु अत्याचारी दुर्दम द्वारा परास्त हो वन मे भटकते मृत्यु को प्राप्त होता है। उसका पुत्र सगर राज्योद्धार को ध्येय बनाकर आगे बढ़ता है और विमाता के षड्यंत्र से बचता हुआ अपना ध्येय पूरा करता है। इसमें वशिष्ठ जी का ब्रह्मतेज ही उसका प्रधान सहायक है और वह दुर्दम को ससैन्य परास्त कर बंदी कर लेता है। दोनों ही मे वस्तु-संगठन शिथिल है, स्वगत-योजना की अति हो गई है और कथोपकथन में लंबे लंबे भाषण अस्वाभाविक हो उठे हैं। भाषा शुद्ध हिंदी है पर कहीं-कहीं अनवसर पर फारसी अरबी के शब्द रख दिए गए है। इनके सिवा अंबा तथा आदिम युग दो और पौराणिक नाटक लिखे है। विश्वामित्र तथा राधा आपके दो छोटे भाव नाट्य हैं, जिनमें दूसरा विशेष आकर्षक है। आपने आठ नौ एकांकी नाटक भी लिखे है।

इसके पहिले आपने दो ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं—दाहर अथवा सिंध पतन और विक्रमादित्य। प्रथम सन् १९३३ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। बगदाद के सुलतान या खलीफा ने आठवी शताब्दि में सिंध पर चढ़ाई की और उस पर अधिकार कर लिया। इसी घटना को लेकर यह नाटक लिखा गया है। वस्तुसंगठन तथा चरित्र-चित्रण साधारणतः अच्छा हुआ है और वीर रस की मात्रा भी अच्छी दी गई है। घटनाएँ इतिहास के प्राय. अनुकूल ही रखी गई हैं। आपने इसे वियोगांत नाटक कहा है पर यह दुखांत कहा जा सकता है। संयोग और वियोग शृंगारिक है। विक्रमादित्य साधारण रचना है।

भट्टजी ने दो सामाजिक नाटक भी लिखे हैं—कमला और अंतहीन अंत। वास्तव में ये दोनों नाटक रूप मे छोटे-छोटे उपन्यास हैं, जिनमे चोरी, डॉका, रक्तपात आदि का ही विवरण है। प्रथम दुखांत बना दिया गया है और दूसरा एक प्रकार सुखांत कहा जा सकता है। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण साधारण है। नवीनता लाने का खास प्रयास है पर वह विशेष सुरुचिपूर्ण नही है। अंतहीन अंत का अंतिम दृश्य तमाशा-सा हो गया है।

प्रोफेसर सत्येंद्र एम० ए० ने 'गुप्तजी की कला' तथा 'साहित्य की झाँकी' नामक दो आलोचना-ग्रंथ लिखने के अनंतर मुक्ति-यज्ञ नामक

सत्येंद्र

नाटक लिखा, जो सन् १९३७ ई० में प्रकाशित हुआ है। यह नाटक बुंदेलखंड की स्वतंत्रता के विषय को लेकर लिखा गया है। यह ऐतिहासिक नाटक है पर इतिहास-विरोधी

भी अनेक बातें आ गई हैं। उदाहरण के लिए केवल एक घटना ले लीजिए। हीरा देवी ने चंपतराय के सामने जब विषपूरित भोजन का थाल रखा था तब उसे उनके भाई भीमसिंह ने शंका के कारण अपनी थाल से बदल लिया था और उसे खाकर ही प्राण त्याग किया था। उक्त घटना के तेरह वर्ष बाद पहाड़सिंह की मृत्यु हुई थी। नाटक में पहाड़-सिंह की मृत्यु उसी समय लिख दी गई है। थाल बदलने का कारण भी बहुत ही ओछा बतलाया गया है। ओड़छा-नरेश पहाड़सिंह चंपत राय के पितृव्य थे और उस समय महेवा से इनका राज्य अधिक ऐश्वर्यशाली था, ऐसी अवस्था में क्या उनके सामने पीतल की तथा चंपतराय के सामने सोने की थाल थी, जो बदल लेने से प्रतिज्ञा पूरी हो गई। राजाओं और बादशाहों की मार्यादाओं का भी विचार नहीं रखा गया है। कंचुकी राय तथा छत्रसाल का इस प्रकार बिना किसी बाधा के रोशनआरा तथा औरंगजेब के शयनकक्षों में पहुँच जाना संभव नहीं था। छत्रसाल से वीर पुरुष का महाराज जयसिंह से अकारण, पिता-तुल्य मानते हुए, यह कहलाना कि 'आप लोगों की तरह दुम न हिलाएँगे' आप से प्रोफेसर को शोभा नही देता। इसके सिवा नाटक भर में पुनः जयसिंह के दर्शन नहीं होते; इससे ज्ञात होता है कि आपने ऐसे ही सुंदर कथन के लिए यह दृश्य जोड़ दिया है। यह सब होते भी नाटक अच्छा है और आप से और भी अच्छे नाटक हिंदी-साहित्य को मिलने की आशा है।

डा० मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, पी-एच डी० संस्कृत के अच्छे विद्वान् है और सरकारी अध्यापन-विभाग मे उच्च-पद पर है। आपका संस्कृत तथा अंग्रेजी-साहित्य का अनुशीलन बहुत बढ़ा-चढ़ा है। आपने इधर ही जर्मनी के सुप्रसिद्ध नाटककार लेसिंग के मिना फॉ बर्नहाल्म का मिना नाम से सरल हिंदी में अच्छा अनुवाद किया है। परंतु भाषा परिमार्जित नहीं है और कहीं-कहीं ऐसा ज्ञात होता है कि आप बाबू-इंगलिश के वजन पर 'अँग्रेजी'-हिंदी लिख रहे हैं।

मंगलदेव

त्रिपाठीजी सुकवि हैं और प्राचीन साहित्य तथा ग्राम्य-कविता के उद्धार में भी आप निरंतर प्रयास करते रहे हैं। आपके प्रबंध-काव्य 'पथिक' का हिंदी-साहित्य-प्रेमियों ने खूब स्वागत किया था। स्फुट कविता भी आपने काफी और अच्छी की है। आपका प्रथम नाटक 'जयंत' तीन अंकों में लिखा गया है। गरीबों पर अमीरों के अत्याचार करने का कल्पित चित्र खींचा गया है। यह

रामनरेश त्रिपाठी

आदर्शवाद लिए हुए है और दुखांत नहीं है। 'मैं देखता हूँ, नाटक-रचना की ओर मेरी रुचि बढ़ती ही जाती है।' इस रुचि-वार्द्धक्य से शीघ्र ही दूसरा नाटक 'प्रेमलोक' तैयार होकर सन् १९३४ ई० के आरंभ में प्रकाशित हो गया। इसमें पाँच अंक और उंतीस दृश्य हैं। पहिला और अंतिम दृश्य चंद्रलोक का है और बाकी सब इहलोक के हैं। यह संसार दुःखमय है और प्रेम की खोज में चंद्रलोक से आई हुई किरण तथा तारा यहाँ के वैसे ही अनुभवों को सचित कर वहीं लौट जाती हैं। भाषा दोनों नाटकों की परिमार्जित है और नाटक भी अच्छे हैं। वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण में त्रिपाठीजी ने अच्छा प्रयास किया है। आपके 'वफाती चाचा' एक कहानी से नाटक के मंच पर आ गए हैं जिससे उनका चित्र विशेष स्पष्ट हो गया है। त्रिपाठीजी जिस प्रकार हिंदी-उर्दू के मेल हिंदुस्तानी के हिमायती हैं वैसे ही हिंदू-मुस्लिम मेल के भी हैं पर आपके नाटक का अंत उसके विरुद्ध संकेत कर रहा है। केवल प्रताप के पुकारने पर भावुकता-वश वफाती तथा कासिम शांत होते हैं और दोनो दल हट जाते हैं; किसीके हृदय पर एकता का चिह्न भी नहीं है। दिहाती जीवन तथा आजकल की कही जानेवाली देश की जागृति की पोल का अच्छा दिग्दर्शन है। 'सदियों से बिछुड़े हुए भाई भाई मिले आज' तो इतिहास-विरुद्ध है। नानक, कबीर आदि के समय से एकता की पुकार हो रही है पर उसकी गूँज पाकिस्तान में आज तक सुनाई पड़ रही है। आशा है कि भविष्य में आपसे और भी उच्चकोटि के नाटक मिलेंगे।

आप प्राय एक दर्जन कहानी-संग्रहों तथा उपन्यासों की रचना कर चुके है। आपके दो नाटक देखने में आए—अमर राठौर तथा उत्सर्ग।

चतुरसेन शास्त्री

ये दोनों ऐतिहासिक हैं। प्रथम बड़ा नाटक है और इसमें आठ, पाँच तथा बारह दृश्यों के तीन अंक हैं। जोधपुर-नरेश गजसिंह के बड़े पुत्र अमरसिंह पिता की आज्ञा पर राज्य छोड़कर दिल्ली चले आए और शाहजहाँ से नागौर जागीर में पाकर वहीं रहने लगे। बादशाह ने इनके कार्य से रुष्ट होकर इनपर जुर्माना लगा दिया और दरबार में सलावत खाँ के जुर्माना माँगने पर इन्होंने उसे मार डाला। इन्होंने बादशाह पर भी खड्ग चलाया पर वह खंभे से टकराकर रह गया। यह लड़ते हुए बुर्ज पर से घोड़े सहित कूदकर बच गए पर अपने ही साले अर्जुन गौड़ द्वारा धोखे से मारे गए। आज भी दिल्ली के किले में खंभे पर यह निशान दिखलाया जाता है तथा जहाँ

यह कूदे थे वहाँ पत्थर का घुड़सवार अब तक स्मारक रूप में बना हुआ है। यह साधारणतः अच्छा बना है, वस्तु-संगठन भी शिथिल नहीं है और चरित्र-चित्रण में भी काफी प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक नाटक लिखने में तत्कालीन इतिहास का कुछ मनन अवश्य कर लेना चाहिए, जिसमें कोई ऐसी भूल न हो जाय जो इतिहास का साधारण ज्ञान रखनेवाले को भी खटके। जैसे इस नाटक में अर्जुन गौड़ को प्राण-दंड मिलना दिखलाया गया है पर वह इस घटना के तेरह वर्ष बाद कई बार पुरस्कृत होकर धर्मत के युद्ध में मारा गया था। अच्छा होता कि नाटककार उसे निर्वासन का दंड दिला देते क्योंकि मुगल बादशाह प्राय. क्रुद्ध होकर पद तथा मंसब छीन लेते थे और पुनः कृपाकर दे देते थे।

उत्सर्ग में चित्तौड़ के तृतीय शाका की घटना को लेकर वस्तु का निर्माण हुआ है। यह छोटा सा नाटक है, जिसमें तीन तीन दृश्यो के चार अक है। नाटककार ने इतिहास की घटनावली में बहुत कुछ हेर-फेर किया है और उसे इसकी स्वतंत्रता भी है; पर वह उस घटना की महत्ता तक उठ नही पाया है। महारानी अर्थात् राव जयमल राठौर की पत्नी का दो दो बार अकबर पर चोट करते हुए कैद होने और फिर उसकी उदारता से छोड़े जाने की कल्पना कथावस्तु की उन्नायक नहीं हो सकी है। रानी तथा सिपाही की बातचीत भी कुढंगी है। इस नाटक की भाषा भी निर्जीव-सी है। इतिहास की दृष्टि से तो अशुद्धियाँ भरी हुई हैं। इसका एक मुख्य कारण यही ज्ञात होता है कि हिंदी में इतिहास पर काफी साधन सुलभ नही है, जिससे नाटककार या उपन्यासकार लाभ उठा सके और अन्य भाषाओं में प्राप्त ग्रंथो को ढूँढ़कर पढ़ने के लिए उनके पास समयाभाव है। ठीक ठीक घटनाओं को जानकर कोई इतनी गलती कर डाले यह कोई भी किसी प्रकार नही कह सकता।

अयोध्यावासी लाला श्रीशिवरत्न के पुत्र सीताराम बी० ए० सरकारी नौकरी के सिलसिले मे अनेक स्थानों में घूमते हुए अंत में प्रयाग में आकर बस गए। इनका जन्म २० जनवरी सन् १८५८ ई० को हुआ था। भारतेंदुजी के समय ही से इन्होने हिंदी-साहित्य-सेवा आरंभ कर दी थी और अपने अंत समय तक यह इसमे दत्तचित्त रहे। इनकी मृत्यु २ जनवरी सन् १९३७ ई० को हुई। इन्होने संस्कृत के कई काव्यों का पद्यानुवाद किया और नाटकों के गद्य-पद्यमय अनुवाद किए। अंग्रेजी से भी कई नाटक अनूदित किए। हिंदी कविता का छः भागों मे बड़ा संकलन तैयार किया तथा कई गद्य ग्रंथ

सीताराम

लिखे। इतिहास के भी यह प्रेमी थे। इन्होंने कोई मौलिक नाटक नहीं लिखा है पर अनुवाद अच्छे किए हैं। अनुवाद का पद्यभाग तो अच्छा नहीं बन पड़ा है पर गद्य भाग सीधी व्यावहारिक सरल भाषा में अच्छा हुआ है। संस्कृत की जटिल लच्छेदार प्रणाली से यह बहुत बचकर चले हैं। इसपर भी उसके भाव को बहुत कुछ स्पष्ट किया है, जो सराहनीय है। भाषा की सदोषता को पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने इनकी कुछ रचनाओं की आलोचना मे दिखलाया है।

सं० १९४४ में नागानंद का अनुवाद हुआ। इसके अनंतर क्रमश महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालती-माधव का अनुवाद सं० १९५५ तक प्रकाशित हुए। इनके सिवा मृच्छकटिक तथा मालविकाग्नि-मित्र के अनुवाद पूर्ण हुए। शेक्सपिअर के कई नाटकों के भी अनुवाद किए हैं। सन् १९२६ में मैकबेथ प्रथम बार प्रकाशित हुआ था।

गोपालराम

आपका जन्म स० १९२३ में गाजीपुर जिले में हुआ था। ग्राम में साधारण शिक्षा प्राप्तकर पटना नार्मल स्कूल में भर्ती हुए। बलिया में जब भारतेंदुजी व्याख्यान देने गए थे और उनके कई नाटक खेले गए थे तब यह भी उपस्थित थे। सन् १८८६ ई० मे मिडिल स्कूल रोहतासगढ़ के प्रधानाध्यापक हुए। दूसरे ही वर्ष उसे छोड़कर कई पत्रों के सहायक संपादक रहे। कालाकाँकर में रहते समय इन्होंने वभ्रुवाहन, विद्याविनोद तथा देशदशा तीन नाटक लिखे थे। इसके अनंतर सन् १८९२ ई० में बंबई वेंकटेश्वर प्रेस में गए। बंबई से यह मांडला गए और वहाँ से मेरठ होते पुनः बंबई लौट गए। सन् १९०१ मे इन्होंने 'जासूस' मासिक पत्र निकाला, जिसमें अब तब दो सौ जासूसी उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। सं० १९७० में आपने बाबू राजकृष्णराय के बॅगला नाटक के आधार पर बनबीर नाटक लिखा। इसमे मेवाड़ के राणा बनबीरसिह से उदयसिंह की रक्षा करने मे वीर धात्री पन्ना ने अपने प्रिय एकमात्र पुत्र का बलिदान दे दिया था। नाटक अच्छा बन पड़ा है। आप अबतक साहित्य-सेवा मे उसी प्रकार संलग्न रहते हैं।

बैकुंठनाथ दुग्गल

दुग्गलजी ने 'श्रीहर्ष' नामक एक नाटक लिखा है जिसमें प्रायः वही घटना है जो प्रसादजी के 'राज्यश्री' में है। 'राज्यश्री' नाटक के रहते यह 'श्रीहर्ष' लिखने का प्रयास क्यों किया गया है, यह नहीं कहा जा सकता। भाषा, भाव, वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण आदि किसी भी दृष्टि से यह अपने पूर्ववर्ती नाटक से आगे नहीं बढ़ा है।

पांडेयजी संस्कृत तथा हिंदी के विद्वान् हैं। आपने 'ज्योत्स्ना' नामक एक नाटक लिखा है, जो चार अंक तथा इकतीस दृश्यों में पूरा हुआ है। इसमे ग्रामोद्धार विषय लिया गया है और ग्रामों के सुधार के कुछ उपाय बतलाए गए हैं। कथावस्तु सुगठित है तथा चरित्र-चित्रण में लेखक सफल हुआ है। भाषा पर भी अधिकार अच्छा है और कथोपकथन भी आवश्यकता से अधिक नहीं हो पाया है। सभी पात्र अपने विचारों के अनुसार कार्य करते दिखलाए गए है तथा उनके विचार-संघर्ष भी स्वाभाविक रूप में ही प्रकट किए गए हैं। नाटक अभिनेय तथा पठनीय है।

रामदीन पांडेय

'आधी रात' नाम से जनार्दनराय ने एक ऐतिहासिक नाटक लिखा है जिसमें मेवाड़ के राणा ऊदा की पितृहत्या की जघन्य घटना का वर्णन किया गया है। नाटक विस्तार से लिखा गया है जिसमें पात्रों की संख्या दो दर्जन से भी बढ़ गई है। इस नाटक की एक विशेषता यह है कि प्रायः सभी पात्र उन्माद-ग्रस्त से हैं। भाषा भी चित्य है क्योंकि इसमें सैकड़ो शब्द तथा मुहाविरे ऐसे आए हैं, जो केवल खड़ी बोली हिंदी जाननेवाले समझ ही न पाएँगे। मालूम होता है कि लेखक राजपुताने के है और वही की बोलचाल के ये सब शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। भाषा यदि विशेष संयत तथा परिमार्जित होती तो नाटक अधिक पठनीय और आकर्षक हो जाता। राज-मर्यादा का अधिक ध्यान नही रखा गया है। तब भी नाटक अच्छा है।

जनार्दनराय

पृथ्वीनाथ शर्मा सफल कहानी-लेखक हैं। 'पँखुड़ियाँ' नाम से आपकी कहानियों का एक संग्रह निकल चुका है। आपने छोटे छोटे नाटक भी लिखे है। 'दुविधा' स्यात् आपका प्रथम नाटक है। इसमें केशवदेव अपनी प्रथम विवाहिता पत्नी तथा पुत्र को छिपाकर सुधा से विवाह करने का प्रयास करता है क्योंकि वह अपने धनी पिता की एक मात्र संतान है। सुधा द्विविधा में पड़ी रहती है कि केशव और उसका प्रेम पारस्परिक है या नही। अंत में केशव की प्रथम पत्नी मोहिनी सुधा से मिलती है और द्विविधा मिटा देती है। विनयमोहन सुधा का वास्तविक प्रेमी है और उसी के प्रयत्न से रहस्य मिटता है पर आत्माभिमान से वह प्रेम को दबा देता है। यहीं नाटक की समाप्ति है। 'अपराधी' में अशोककुमार आदर्शवादी युवक है। एक चोर के गिड़गिड़ाने पर उसे पकड़कर भी छोड़ देता है और स्वयं चोर की शंका मे पकड़ा जाता है। हाथ की सफाई से चोरी की

पृथ्वीनाथ

घड़ी इसके जेब में पहुँच जाती है, जिससे यह चोर सिद्ध हो जाता है। चोर की स्त्री यह बात सुनकर ठीक अवसर पर अपने चोर पति को इजलास भेज देती है, जिससे अशोक की रक्षा होती है। यह आदर्शवाद कुछ भोंड़ा सा लगता है। रेणु तथा लीला का चित्रण अच्छा हुआ है। ये दोनों नाटक वास्तव में छोटे उपन्यासों के रूपक-रूप हैं। यदि ये उपन्यास ही के रूप में लिखे जाते तो विशेष आकर्षक होते।

रामचंद्र वर्मा

आपका जन्म माघ बदी २ सं० १९४६ बुधवार को काशी में हुआ था और आपके पिता लाला परमेसरीदास, जो कपड़े का व्यापार करते थे, आपको दस वर्ष का छोड़कर स्वर्गगामी हो गए। भारतजीवन प्रेस के स्वामी बाबू रामकृष्ण वर्मा के सत्संग से, जो आपके पिता के मित्र थे, इन्हें हिंदी से प्रेम हो गया और यह साहित्य-सेवा में संलग्न हो गए। सन् १९०४-५ तक भारतजीवन पत्र के, सन् १९०७ ८ तक नागपुर के हिंदी केसरी के और सन् १९११ में बाँकीपुर के बिहारबंधु के संपादक रहे। इसके अनंतर नागरी प्रचारिणी सभा के कोषविभाग मे बहुत दिनों तक हिंदी शब्दसागर के एक सहकारी संपादक रहे। सन् १९१५-१७ तक सभा की पत्रिका का संपादन कार्य भी किया था। सभा के विभाग-मंत्री तथा प्रधान मंत्री भी कई वर्षों तक रहे। आप सिद्धहस्त अनुवादक हैं और आपकी भाषा टकसाली मानी जाती है। आपने अबतक अंग्रेजी, बँगला, मराठी, गुजराती तथा उर्दू से सौ के ऊपर अनुवाद किए हैं, जिनमे इतिहास, उपन्यास, नाटक आदि अनेक विषय के ग्रंथ है।

बँगला से द्विजेद्रलाल राय के मेवाड़पतन, महाराणा प्रताप आदि का तथा गिरीशबाबू के प्रफुल्ल, वैधव्य कठोर दंड है या शांति आदि का अनुवाद किया है। अंग्रेजी से एक अमेरिकन लेखक के 'स्टेप हस्बेंड' का 'मँगनी के मियाँ' के नाम से और बर्नार्ड शॉ के 'जोन ऑव आर्क' का हिंदी में अनुवाद किया है। रवि बाबू की चांडालिनी नामक एकांकी नाटक का अनुवाद हंस में प्रकाशित हुआ है। इन नाटकों में मूल के भाव, विचार, विनोद आदि सभी को हिंदी में बडी सफलता से व्यक्त किया गया है और मूल भाषा के मुहावरों तथा अन्य विशेपताओं को अत्यंत सुंदर हिंदी रूप दिया गया है, जिससे वे अपरिचित से नहीं मालूम होते और साथ ही दोनों भाषाओं पर अनुवादक का पूरा अधिकार बतलाते हैं।

परमहंस श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानंद विषयक एक मौलिक नाटक 'परमहंस' नाम से सिनेमा के लिए अभी हाल ही में लिखा है।

आपका जन्म सं० १९४१ में हुआ था। आप सुकवि, योग्य पत्रकार तथा सिद्धहस्त अनुवादक हैं। आपने अनेक उपन्यास, श्रीमद्भागवत आदि के अनुवादों के सिवा बहुत से नाटकों का भी अनुवाद किया है। 'आहुति अथवा जयपाल' किसी अज्ञात नाटककार की बँगला कृति का अनुवाद है। 'पतिव्रता' गिरीश बाबू के एक नाटक का अनुवाद है। 'खानजहाँ' क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के नाटक का अनुवाद है। 'अचलायतन' रवि बाबू के एक नाटक का अनुवाद है। द्विजेंद्रबाबू के कई नाटक आपके द्वारा अनूदित हुए हैं, जिनमें उस पार, दुर्गादास, ताराबाई, शाहजहाँ, चंद्रगुप्त आदि मुख्य हैं। इनके सिवा कृष्णाकुमारी, बुद्धचरित आदि के भी आप ही अनुवादक हैं। प्रायश्चित्त प्रहसन, मूर्खमंडली आदि की भी आपने रचना की है। पांडेयजी ने अनुवाद करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है और प्रांजल भाषा लिखने में बहुत कुशल हैं।

रूपनारायण पांडे

यह पं० कामताप्रसादजी गुरु के पुत्र हैं और इनका नाम रामेश्वर प्रसाद है। छोटी अवस्था ही से यह कविता करने लगे थे और अबतक बालोपयोगी काफी कविता कर चुके हैं। इनका जन्म सं० १९६९ वि० में हुआ था और बीस वर्ष की अवस्था ही में पहिला नाटक सरदार बा लिखा। इसके सिवा निशीथ, भग्नावशेष आदि कई नाटक लिखे हैं तथा हब्शी की लड़की आदि एकांकी नाटक भी प्रस्तुत किए हैं। मुसलमानों के अधीनस्थ जागीरदार की पुत्री सरदार बा का गुजरात का सूबेदार रहमत खाँ हरण करता है तथा दुर्ग पर आक्रमण करता है। सरदार बा का भाई मूलराज देशद्रोही हो रहमत खाँ की सहायता करता है पर अपने अधीनस्थ सैनिक द्वारा इसी कारण मारा जाता है। दुर्ग पर अधिकार हो जाता है। सरदार बा कैद से भागती है और चंद्रावती के राजकुमार बैरीसिंह की सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त करती है। कुछ दिन बाद मुसलमानों का फिर आक्रमण होता है और बैरीसिंह मारा जाता है। कई वर्ष बाद फिर आक्रमण होता है और बैरीसिंह का पुत्र भी मारा जाता है। सरदार बा पकड़ी जाती है पर सेनापति खुसरू खाँ को मारकर आत्महत्या कर लेती है। यहीं नाटक समाप्त होता है।

कुमारहृदय

यद्यपि यह नाटक इतिहास-रंजित है पर काल्पनिक है। कथावस्तु साधारण है और चरित्र-चित्रण नहीं के समान है। पुरानी शैली पर होते भी नवीनता का प्रभाव लिए हुए है। पाश्चात्य प्रभावानुसार हत्या-

कांड, रक्तपातपूर्ण होते हुए दुखांत बना दिया गया है। तव भी प्रथम प्रयास होते नाटक रोचक है।

इसके एक वर्ष बाद ही निशीथ 'साहित्यिक भाषा में लिखा हुआ एक मौलिक दृश्य-काव्य' है। इसमें एक विधवा सुंदरी युवती की दुर्दशा का चित्रण है पर बहुत कुछ अस्वाभाविक-सा हो गया है। जमींदार ब्रजेन्द्रसिंह, साधु-जमात, विधवाश्रम आदि किस प्रकार उसकी दुर्दशा के कारण होते हैं, कैसे उसके माता-पिता तथा पुत्र नष्ट हो जाते हैं और अंत में वह स्वय जमींदार की हत्या कर आत्महत्या कर लेती है, यही सब दिखलाया गया है। इसमें भी वही लूट, हरण, अग्निकांड, रक्तपात आदि है तथा दुखांत बना दिया गया है। भाषा आदि की दृष्टि से यह सरदार बा से अच्छा बन पड़ा है।

निशीथ के तीन वर्ष बाद 'भग्नावशेष' प्रकाशित हुआ, जिसमें कलचुरि राजवश की चार पीढ़ियों का खातमा करा डाला गया है। इस नाटक में आत्महत्या, युद्ध, रक्तपात भी है। नाम सभी इतिहास के हैं अतः इसे ऐतिहासिक नाटक कहेंगे। भाषा एकदम बनावटी हो गई है। इतने अधिक पात्र हैं कि पात्र-सूची तक न दी जा सकी। हर दृश्य के आरंभ, अंत तथा मध्य मे भी बहुत-सा विवरण स्थान, समय, इतिहास आदि के संबंध मे दिया गया है। वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण आदि कुछ नहीं है और वार्तालाप भी निर्जीव-सा है।

हरिकृष्ण

हरिकृष्ण 'प्रेमी' कवि तथा नाटककार दोनों हैं। आपने अनंत के पथ पर, आँखों में आदि काव्य लिखे हैं। आपकी पहिली पद्य नाटिका 'स्वर्ण-विहान' है, जो सरकार द्वारा जब्त कर ली गई है। इसके बाद मदालसा उपाख्यान पर एक नाटक पाताल-विजय लिखा। इसके अनंतर क्रमशः रक्षाबंधन, शिवा-साधना तथा प्रतिशोध तीन नाटक लिखे गए। अंतिम दोनों औरंगजेब के राज्य-काल के हैं। इनमें प्रथम में शिवाजी के तथा दूसरे में चंपतिराय बुंदेला और उनके पुत्र छत्रसाल के समय की घटनाओं के चित्रण है। दोनों ही में इतिहास पर विशेष ध्यान रखा गया है। कथावस्तु सुगठित है और मनोरंजक रूप में लिखा गया है।

भास

प्रथम प्रकरण में भास तथा उनके संस्कृत नाटकों का उल्लेख किया जा चुका है। इनके कुछ नाटकों का अनुवाद भी हिंदी में हुआ है पर अभी अधिकतर अनूदित नहीं हुए हैं। बाबू सत्यजीवन वर्मा एम० ए० ने स्वप्नवासवदत्ता का अनुवाद सन् १६३० ई० मे प्रकाशित कराया है। कवि न होने के कारण श्लोकों के भी

अनुवाद गद्य ही में हुए हैं पर यत्र-तत्र कविता की गई है। इसमें केवल छ अंक हैं और नाटक छोटा है। भाषा सरल शुद्ध हिंदी है। अनुवाद अच्छा हुआ है। भारतेंदुजी के दौहित्र व्रजजीवनदास ने भी प्रायः इसी समय सं० १९८६ में भास के तीन नाटक पंचरात्रि, मध्यम व्यायोग और प्रतिज्ञा-यौगंधरायण का अनुवाद प्रकाशित कराया है। इनमें गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में अनुवाद हुआ है। दोनों ही खड़ी बोली हिंदी में हैं। इनका विचार भास के कुल नाटकों को अनूदित करने का था पर अब तक अन्य नाटकों के अनुवाद नहीं प्रकाशित हुए हैं। अनुवाद बड़ी योग्यता से किया गया है। मध्यम व्यायोग का एक और अनुवाद सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू काशीप्रसाद जायसवाल की विदुषी पुत्री धर्मशीला बैरिस्टर द्वारा हुआ है, जो प्रकाशित हो चुका है।

पं० सत्यनारायण कविरत्न तथा लाला सीताराम के इसके अनुवादों का उल्लेख हो चुका है। इनके सिवा पं० हरिमंगल मिश्र एम० ए० कृत एक अनुवाद सन् १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ है। भारतेंदुजी के भ्रातुष्पुत्र बाबू कृष्णचंद्र ने भी इसका अनुवाद किया था, जो सं० १९७३ में समाप्त होकर प्रकाशित हुआ। आरंभ में ४३ पृष्ठों का एक वक्तव्य है। इसमें अत्यंत गवेषणापूर्वक भवभूति के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला गया है और उनकी कृति की आलोचना भी बड़ी विद्वत्ता के साथ की गई है। पद्य का अनुवाद पद्य में है और साथ ही अभिनय की सुगमता के लिए पाद-टिप्पणी में मुख्य-मुख्य पदों के गान भी दिए गए हैं। अनुवाद अच्छा हुआ है। भाषा विशेष संस्कृत-गर्भित है।

उत्तररामचरित

नवम प्रकरण

(उपसंहार)

जीवन मे यथाशक्ति अधिक से अधिक आनंद तथा सुख पाना ही मनुष्य का ध्येय आदिकाल से रहा है और अत तक रहेगा। धन-प्राप्ति तथा यश-प्राप्ति भी मानव-समाज के ध्येय रहे हैं, पर वे भी सुख ही के साधन मात्र रूप मे। साहित्य, संगीत तथा कला सभी इसी सत्य का समर्थन करते है और इसी सुख साधन मे उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहने के लिए इनकी उन्नति की ओर मानव-समाज सदा हरएक दशा में दत्तचित्त रहा है। प्रकृति के रहस्य के उद्घाटन में भी वह इसी सुख-साधिका प्रवृत्ति के कारण बड़ी व्यग्रता से लगा रहता है। प्राचीनतम काल से अब तक योग्यतम विद्वानो के समान ही कलाकारगण भी इसी कार्य मे यथाशक्ति योग देते आए हैं और उनकी कृतियों से मनोरजन के साथ साथ उपदेश, उच्च आदर्श आदि भी मिलते हैं। भारत प्राचीनकाल से मनोरंजन की इन सामग्रियो को, लोकोत्तर आनंददायक साहित्य को, जुटाने मे सबसे आगे बढ़ा हुआ है। इन्हीं सामग्रियो में नाट्यकला एक है, जो साहित्य, संगीत तथा कला तीनों के सम्मिश्रण से सर्वश्रेष्ठ हो उठा है।

भारतीय मनोरंजन का साहित्य धर्म की दृढ़ भित्ति पर उठा है और यही कारण है कि वह निम्नस्तर की ओर बहुत कम जाता है। धर्म की प्रगति तथा मानव-समाज की सभ्यता की वृद्धि के साथ परिस्थितियो मे अनेक परिवर्तन होते चले और उक्त साहित्य में भी तदनुसार परिवर्द्धन तथा परिवर्तन हुए। धर्म का प्रारंभ प्रायः भय के कारण होना ही निश्चित है और इसी से भूत-प्रेत आदि की पूजा ही का प्राचीनतम सभ्यता में पता लगता है। इन भूत-प्रेतादि को प्रसन्न करने के लिए उनके पूजकगण एकत्र होकर बिना ताल लय के गाते, शोर मचाते तथा नाचते-कूदते थे। इसी को देखकर अन्य लोग आनंद प्राप्त करते थे। भय के साथ-साथ समाज की दृष्टि लाभ की ओर गई और मनुष्येतर जिन जिन वस्तुओं से उन्हें लाभ होता था, उनमें देवताओं का आरोपण कर, वे उनकी पूजा करने का प्रयास करने लगे, जिसमे वे अधिकाधिक लाभ दें। वृत्त, गाय

ग्लाडविन आदि कलकत्ता के सिनेमागृह देखे हैं, उन्हें स्वप्न में भी आज से डेढ़ शताब्दि पहिले के उन थिएटर गृहों की शोभा ध्यान में नहीं आ सकती, जब वे मोमबत्तियों, तैल-दीपकों आदि से प्रकाशमान किए जाते थे और पंखों का कहीं नाम भी नहीं रहता था। प्रत्येक दर्शक स्वयं अपने अपने पंखे लेकर जाते थे। सिगरेट बीड़ी के अभाव में चारों ओर हुक्कों की गड़गड़ाहट की मधुर ध्वनि भी अभिनयशाला को तरंगित करती रहती थी।

कलकत्ता के प्रथम थिएटर का 'द ओल्ड प्लेहाउस' के नाम से पता चलता है, जो स्यात् सन् १७५३ ई० या उसके पहिले से वर्तमान था। सिराजुद्दौला ने जब कलकत्ता पर चढ़ाई की थी उस समय इस नाटक-घर पर से अंग्रेजों पर गोले उतारे गए थे। इसके अनंतर 'द कैलकटा ऑर इंगलिश थिएटर' का पता मिलता है, जिसके कारण वर्तमान न्यू चीना बजार पहिले थिएटर स्ट्रीट कहलाता था। एक लाख व्यय कर यह थिएटर बना था। इंगलैंड से स्टेज, सीनरी, झाड़ फानूस आदि सभी सजावट के सामान लाए गए थे और बड़े समारोह के साथ सन् १७७६ ई० में यह खोला गया था। इसमें बड़े लाट वारेनहेस्टिंग्ज से लेकर कंपनी के सभी बड़े-छोटे कर्मचारी सम्मिलित थे। सबसे सस्ता टिकट आठ रुपए का मिलता था। इसके साथ एक नाचघर भी था। इसके अनंतर सन् १७८६ ई० में मिस एम्मा रैंगहम या मिसेज ब्रिस्टो ने एक निजी थिएटर खोला, जो चौरंगी में बना था। इसके अनंतर बड़े लाट सर जौन शोर की आज्ञा से सन् १७६५ ई० में 'लेबेडेफ्स इंडियन थिएटर' खुला, जिसमें बँगला भाषा में पहिले-पहल 'डिसगाइज' खेल हुआ था। इसका उल्लेख इसी पुस्तक में पहिले किया जा चुका है। इसके अनंतर सन् १८१२ ई० में एथीनियम, सन् १८१३ में चौरंगी थिएटर, प्राय सन् १८३० ई० में नवीनचंद्र बोस का थिएटर, सन् १८३३ ई० में ओरिएंटल और इसके बाद पाइकपाड़ा राजा का थिएटर खुले। इसके उपरांत तो इन थिएटरों का क्रम बराबर जारी रहा और इनके कारण बँगला नाटकों को बराबर प्रोत्साहन मिलता रहा।

पूर्वोल्लिखित नाटक-घरों के प्रायः काफी दिनों बाद सन् १८६० ई० में सेठ पेस्टनजी फ्रामजी की 'ओरिजिनल थिएट्रिकल कंपनी' बंबई में खुली, जो वहाँ के कई पारसी सज्जनों द्वारा व्यापारिक दृष्टि से चलाई गई थी। पेस्टनजी के साथियों में खुरशेदजी, कावसजी खटाऊ, सोहराबजी तथा जहाँगीरजी भी थे, जिन सब ने बाद को अलग अलग कंपनियाँ

खोलीं। प्रथम दो ने मिलकर सन् १८७७ ई० में 'विक्टोरिया नाटक कंपनी' दिल्ली में खोली, जिसके टूटने पर कावसजी ने 'एल्फ्रेड थिएट्रिकल कंपनी' खोली पर उनकी मृत्यु पर यह भी चार पाँच वर्ष चलकर बंद हो गई। इसके अनंतर कितनी कपनियाँ खुलीं और बंद होती गई। अब सिनेमा-घरों का प्रचार सारे भारत मे बढ़ता जा रहा है, जिससे थिएटरों का प्रायः अभाव होने लगा है।

कलकत्ता के थिएटर घरों में अंग्रेजी तथा बँगला का और बंबई की कपनियों में उर्दू का दौरादौर था पर इस प्रांत में कहीं कुछ न था। दोनों स्थानो से तथा अन्यत्र से भी कंपनियाँ यहाँ आकर अपनी भाषा में खेल दिखाती और रुपयो के ढेर उठा ले जाती थीं पर यहाँ वाले ताकते ही रह जाते थे। बीसवी शताब्दि ईसवी के आरंभ में एक व्याकुल-भारत कंपनी मेरठ में खुली, जिसमे हिंदी के भी नाटको के अभिनय होने लगे। परंतु यह दुर्भाग्यवश प्रसिद्धि प्राप्त करने पर भी बंद हो गई। साधारण 'प्राइवेट' मंडलियों द्वारा भी कुछ-न-कुछ हिंदी-नाटकों को प्रोत्साहन अवश्य मिलता रहा। बंबई की पारसी कंपनियों में उर्दू ही प्रमुख भाषा थी पर पंडित नारायणप्रसादजी 'बेताब' को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने पहिले पहल हिंदी नाटकों को भी उक्त कंपनियों में स्थान दिलाया।

बेताब

पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' दिल्ली-निवासी कश्मीरी ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम महाराज ढोलाराय था। बेताबजी गालिब के शिष्य हकीम सर्दार मुहम्मद खाँ 'तालिब' के शिष्य हैं और नजीर हुसेन 'सखा' को भी कविता दिखलाते थे। थिएटर-कंपनियों के लिए नाटक लिखना व्यापार बनाकर यह बंबई में रहने लगे और वही से शेक्सपीअर पत्र भी निकाला, जिसमें उसी के नाटकों के अनुवाद छपते रहे। यह कुछ दिन चलकर बंद हो गया। उर्दू मे कई नाटक लिखने के बाद सन् १९१३ ई० में इनका महाभारत रंगमंच पर प्रथम बार खेला गया, जिसकी कुछ दिनों तक बड़ी धूम रही। इसके अनंतर गोरखधंधा, रामायण, पत्नी-प्रताप, कृष्ण-सुदामा, जहरी साँप आदि नाटक इन्होने लिखे, जो सभी अभिनीत होते रहे। भाषा इनकी बेढब खिचड़ी है, जिसमें क्लिष्ट संस्कृत तथा फारसी-अरबी के शब्द साथ साथ इस प्रकार रख दिए गए हैं कि वे दोनों के ज्ञाताओ को कर्णकटु मालूम होते हैं। इनके नाटकों मे ओज है तथा आवेशपूर्ण और चलती भाषा के कारण दर्शकों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

आग़ा मुहम्मद 'हश्र' कश्मीरी थे पर इनके परिवार वाले काशी में आ बसे थे। यह भी न्यू एलफ्रेड कंपनी के लिए नाटक लिखा करते थे पर उसे छोड़ने पर इन्होंने अपनी शेक्सपिअर थिएट्रिकल कंपनी खोली पर वह भी कुछ दिन बाद बंद हो गई। इसके अनंतर यह कलकत्ता के मदन एंड कंपनी में जाकर फ़िल्म में काम करने लगे। इन्होंने दो दर्जन के ऊपर थिएट्रिकल्स लिखे हैं, जिनमें सात आठ हिंदी में हैं। भक्त सूरदास, गंगावतरण, वनदेवी, सीता-वनवास, मधुर मुरली, श्रवणकुमार, भीष्म-प्रतिज्ञा तथा धर्मी बालक या गरीब की दुनिया रंगमंच पर कितनी बार प्रदर्शित हो चुके हैं। जन-साधारण में हिंदी के खेलों की माँग बढ़ रही थी, इसलिए इन लोगों को भी उसकी पूर्ति करनी पड़ी थी। शैर, गज़लों की तब भी काफी भर्ती थी क्योंकि उसके बिना मज़ा किरकिरा हो जाता था। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और भावों के द्वंद्व दिखलाने में भी यह कुशल थे। व्यापार कहीं-कहीं बड़ी तीव्रता से आगे बढ़ता है और टुच्चे परिहास का भी पुट अधिक रहता है। भयंकर जुर्म भी इनके नाटकों में अधिक दिखलाए गए हैं और कविता की भरमार है। यह सब होते भी इन्होंने हिंदी की अच्छी सेवा की है और यह एक कुशल नाट्यशिल्पी थे।

हश्र

सूर विजय नाटक कंपनी के दो प्रसिद्ध नाटक-लेखक लाला किशनचंद 'जेबा' तथा लाला नानकचंद 'नाज' थे, जो पंजाब के निवासी थे। इन लोगों ने बहुत से थिएट्रिकल्स लिखे हैं, जिनमें हिंदी का अंश काफी है। व्याकुल-भारत कंपनी के लाला विश्वंभर सहाय ने बुद्धदेव लिखा है, जो शांति रस का अच्छा नाटक है। कथावस्तु सुगठित है तथा चरित्र-चित्रण भी अच्छा हुआ है। कविता की अधिकता कुछ खटकती हैं। इसका अभिनय बड़ी धूम से हुआ था और बहुत दिन चला था। कलकत्ता के पं० माधव शुक्ल का 'महाभारत' भी बहुत अच्छा नाटक है और वह स्वयं भी अच्छे अभिनेता थे परंतु शोक है कि आपने अभिनय करना ही अपना ध्येय बना लिया था और नाटक लिखने से हाथ खींच लिया था। यदि महाभारत ही के समान कुछ अन्य नाटक भी आप लिखते तो अवश्य ही साहित्य के इस अंग की अच्छी पुष्टि होती। लाला कुँवर सेन एम० ए० ने ब्रह्मांड नाटक लिखा है, जिसमें आकाशचारी नक्षत्र पात्र बनाए गए हैं। मुंशी जानेश्वर प्रसाद 'मायल' दिल्ली के निवासी हैं और इन्होंने व्याकुल-भारत कंपनी के लिए दो नाटक लिखे थे—नूरे-हिंद या चंद्रगुप्त तथा तेगे-सितम। काशी के बाबू हरि-

अन्य नाटक-लेखक

कृष्ण 'जौहर', प० ज्वालाराम नागर 'विलक्षण', बाबू हरिदास माणिक तथा बाबू जयरामदास ने भी बहुत से थिएट्रिकल्स लिखे हैं, जिनमें कुछ के अभिनय भी हो चुके है। प० तुलसीदत्त 'शैदा' ने भी नल-दमयंती, नारी-हृदय, भक्त सूरदास आदि नाटक लिखे है, जो मदन थिएटर्स मे खेले जा चुके हैं।

पं० राधेश्यामजी ने प्रायः एक दर्जन नाटक लिख डाले हैं, जो सभी अभिनीत हो चुके हैं। इनके वीर अभिमन्यु, मशरिकी हूर, रुक्मिणी-मंगल, ऊषा-अनिरुद्ध, द्रौपदी-स्वयंवर, कृष्णावतार आदि विशेष प्रसिद्ध हुए। इन नाटक-लेखकों के सिवा ईश्वरीप्रसाद आदि और भी लेखकों ने इसी प्रकार के थिएट्रिकल्स लिखे हैं पर सभी के लिए इस ग्रंथ में स्थानाभाव है। अब सवाक् पटो के प्रचार से थिएट्रिकल्स लिखना कम हो चला है और उसके तथा रेडियो के लिए विशिष्ट प्रकार के नाटक लिखने की आवश्यकता आ पड़ी है।

सन् १८६० ई० मे अमेरिका के मि० एडिसन ने सिनामेटोग्राफ का आविष्कार किया, जिससे चलते फिरते चित्र पर्दे पर दिखलाए जाने लगे। क्रमशः इसने उन्नति की और व्यापारिक रीति से नाटकोंके बदले बायसकोप दिखलाए जाने लगे। परंतु ये चित्र बोल न सकने के कारण गूँगों की तरह अभिनय करते ज्ञात होते थे, जिससे अस्वाभाविक से लगते थे और मनोरंजन की सामग्री होते हुए भी पूर्ण रूपेण आकर्षक न होते थे। प्रायः तेरह-चौदह वर्ष पहिले ऐसे ही बायस्कोप बहुत प्रचलित थे पर बाद में जब ये चलचित्र सवाक् होगए तब इनकी उन्नति शीघ्रता से होने लगी। बोलती मशीन, फोनोग्राफ या ग्रामोफोन का आविष्कार सिनामेटोग्राफ से कुछ पहिले ही हो चुका था और मि० एडिसन ही इसके आविष्कारक थे। इस मशीन की भी क्रमश काफी उन्नति हुई और बाद में उक्त दोनो मशीनों की सहायता से सवाक् चित्र तैयार हुआ, जो अब विशेष प्रचलित हो गया है।

सन् १८२६ ई० में स्यात् पहिले पहिल सवाक् पट भारत मे बाहर से आया और इसके दो ही वर्ष बाद यहाँ भी सवाक् पट भारतीय भाषाओं में तैयार होने लगे। कलकत्ते का मदन थिएटर्स लिमिटेड तथा बंबई की इम्पीरियल फिल्म कपनी ने साथ ही ऐसे चित्र तैयार किए, जिनके लिए बाहर से विशेषज्ञ बुलाए गए थे। अब तो सवाक् पट तैयार करने के लिए अनेक स्थानों में बीसों कंपनियाँ तैयार हो गई हैं और उन्हें दिखलाने के लिए हर एक नगर में सिनेमा घर खुल गए हैं। इस

व्यवसाय में उन्नति हो रही है पर इनके संचालकों में धनोपार्जन ही का प्रयास अधिक दिखलाई देता है, सुरुचि या कुरुचि पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। स्वाभाविकता का विचार भी बहुत कम रखा जाता है और दृष्टि केवल इस पर अधिक रहती है कि उन्हें किस प्रकार इतना आकर्षक बना दिया जाय कि जनसाधारण उसे देखने को टूट पड़े। वास्तव में इसके व्यवसायीगण पैसा कमाने ही के लिए यह काम करते हैं और साहित्यिक विद्वानों का इन चित्रों की रचना में हाथ भी नहीं रहता, अत वैसा ही होता है।

सवाक् पटों के कारण एक बात यह अवश्य पैदा होगई कि पहिले दृश्य काव्य में नाटक ही परिगणित होते थे, उपन्यास आदि नहीं पर अब उपन्यास आदि भी दृश्य काव्य के अंग होगए। अवश्य ही ये काट छाँट-कर चित्रों के उपयुक्त बना लिए जाते हैं पर ऐसा कम होता है क्योंकि अब कंपनियाँ ऐसे नौकर रख लेती हैं जिनमें कोई कहानी तैयार करता है, कोई बातचीत बनाता है, कोई गाना जुटाता है और इस प्रकार एक चीज तैयार हो जाती है, जो चित्रपट के लिए उपयुक्त समझी जाती है। ऐसे लिखे गए साहित्य पर भविष्य में कुछ विचार किया जायगा।

यह कथन कि जो कुछ बीत चुका है, वह सब वर्तमान तथा भविष्य के लिए अनावश्यक है, कोरा दंभ मात्र है और तथ्यहीन होते मूर्खता-पूर्ण है। प्राचीन इतिहासादि से कथावस्तु लेकर नाटक-निर्माण करने को कुछ लोग 'गड़े मुर्दे उखाड़ना' कह डालते हैं, पर यह केवल उनकी अयोग्यता का निदर्शक है क्योंकि उनका मस्तिष्क प्रत्यक्ष को छोड़कर जो कुछ हो चुका है या होने वाला है उसे ग्रहण करने में अक्षम है। वर्तमान तथा भविष्य सदा भूतकाल की दृढ़ नींव पर ही उठा है और उठेगा। ऐसी अवस्था में प्राचीन-काल की महान् आत्माओं के चरित्र, अमर घटनाओं के वर्णन आदि सदा नाटकीय कथावस्तु के साधन रहे हैं और रहेंगे। ये नाटक पौराणिक या ऐतिहासिक कहे जाते है पर इनमें तत्कालीन समाज तथा राजनीति का भी नाटककार की योग्यता के अनुसार, अच्छा दिग्दर्शन रहता है। इनके सिवा जो नाटक सामाजिक या राजनैतिक कहलाते हैं, उनका संबंध केवल वर्तमान से रहता है और यदि इनसे भविष्य का भी कुछ आभास मिले तो वह नाटककार की दूरदर्शिता तथा विशिष्ट अनुभव का द्योतक है।

प्राचीनता तथा नवीनता

उक्त विचारो से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि नाटकों का कोई

अंगप्रत्यंग केवल इसी कारण त्याज्य नही हो सकता कि वह प्राचीन काल मे प्रयुक्त होता था और इस प्रकार की नीति कभी भी न्याय-संगत नही हो सकती। यदि कोई अंश विशेष कारणवश या किसी अन्य सुधरे हुए रूप मे आ जाने के कारण उपादेय न रह गया हो तभी उसे छोड़ देना युक्तिसंगत है। कोई भी वस्तु सभी काल के लिए समान रूपेण उपादेय नहीं हो सकती और स्वतः उसमे परिवर्तन होते रहते हैं पर केवल प्राचीनता के दोष से उनका निराकरण करना कभी भी बुद्धिमानी नहीं हो सकती। ठीक इसी तरह नवीनता का ग्रहण करना है। कोई भी वस्तु केवल नवीन होनेके कारण संग्रहणीय नहीं हो सकती और विशेप कर उस अवस्था में जब कि एक प्राचीन वस्तु को हटाकर उसे स्थान दिया जा रहा हो। प्रथम अवस्था मे केवल नवीन वस्तु की आवश्यकता, उपादेयता आदि ही का विचार होगा पर दूसरी में दोनों के महत्त्व की तुलना कर देखना होगा कि वे दोनो संग्रहणीय हैं अथवा एक दूसरे को 'स्थानांतरित' कर सकेगा। ये विचार भी निष्पक्ष होने चाहिएँ—न प्राचीनता के लिए प्रेम हो और न नवीनता के लिए उत्साह। प्रायः देखा जाता है कि किसी-न-किसी प्रकार कुछ न-कुछ नवीनता लाने के लिए लोग ऐसा बेढंगा प्रयास कर बैठते हैं, जो हास्यास्पद हो जाता है। ऐसी अवस्था में समय की आवश्यकताओ को देखते हुए बहुत कुछ समझ कर ही साहित्यिक कृतियों मे हेरफेर करना उचित है। प्राचीनता तथा नवीनता का संघर्ष सदा रहा है और रहेगा तथा इससे बचना श्रेयस्कर भी नही रहा है पर बिना समझे कुछ कर बैठना भी अनुचित है।

भापा

नाटककार यदि अपनी रचना केवल उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम मे रखने के लिए तैयार करता हो या केवल भाषा तथा साहित्य के प्रकाड विद्वानों की प्रशंसा-प्राप्ति के लिए निर्मित करता हो तो वह यथाशक्ति गभीरतम भावो से भाराक्रांत तथा क्लिष्ट से क्लिष्ट भाषा मे उसे लिख सकता है पर तब वे पठनीय तथा अभिनेय नहीं रह जायँगे, जो नाटको का ध्येय है। नाटक मनोरंजन का साहित्य है और इसकी भाषा वही होनी चाहिए जो नाटककार के भावों, विचारों तथा घटनावली को शीघ्र से शीघ्र पाठको तथा दर्शको को हृदयगम करा दे और साथ ही उसमे वह मनोरंजक प्रवाह हो, वह चपलता तथा सजीवता हो जो कानोंको मधुर लगे, कटु नही। कविता की कमी होती जा रही है पर उसका अभाव नहीं हो सकता। गायन अभिनय का एक अंग है, अतः गेय पद तो हर अवस्था मे रहेगे। कभी कभी गद्य में तुकबंदी भी

दिखला जाती है पर यह प्रयास बेकार है। परिहास के लिए भाषा का रूप बिगाड़ देना कभी सराहनीय नहीं कहा जा सकता और न उसे शब्दाडंबर से लाद देना। भाषा पर अच्छा अधिकार रखना नाटककार के लिए नितांत आवश्यक है क्योंकि प्रतिभा, कौशल आदि सब कुछ के होते हुए भी वह यदि उनको केवल भाषा के कारण ठीक ठीक प्रकट न कर सका तो सब व्यर्थ चला जायगा, 'अंतरं गुड़गुड़ायते वहिर्वक्तुं न शक्यते' का हाल हो जायगा।

भविष्य

यद्यपि हिंदी नाट्य-साहित्य का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है पर तब भी इतने थोड़े काल में जितना साहित्य तैयार हो गया है वह कम नहीं है और किसी भी साहित्य के अच्छे नाटकों के समकक्ष नाटक इसमें मिल सकते हैं। हमारा साहित्य उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर हो चला है और प्रत्येक हिंदी-प्रेमी का हृदय अपने साहित्य-भांडार का लेखा देखकर आशा से भर रहा है कि वह शीघ्र ही उसे हर प्रकार से संपन्न देखकर प्रफुल्लित हो उठेगा।

अनुक्रमणिका

कवि-नामावली

अनुक्रमणिका

ग्रंथ-नामावली

गंगा-पुस्तकमाला का १६८वाँ पुष्प
नवयुग-काव्य-विमर्श